9.1 V2

ीरा बहन

गांधीजी की पुत्री एवं शिष्या

जन्म शताब्दी ग्रंथ

लेखक

कृष्ण मूर्ति गुप्ता

सम्पादक

भगवती प्रसाद नौटियाल

मीरा बहन

गांधीजी की शिष्या और बेटी

जन्म शताब्दी ग्रंथ

लेखक

कृष्ण मूर्ति गुप्ता

सम्पादक

भगवती प्रसाद नौटियाल

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान ॐ
तिथी.............
पु०सं०...310/3
* भारती पुस्तकालय

हिमालय सेवा संघ

1993

हिमालय सेवा संघ तथा मीरा बहन जन्म शताब्दी समिति
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार, जमनालाल बजाज न्यास, हिन्दुस्तान टाइम्स, केंद्रीय गांधी निधि तथा उन सभी सहयोगियों के प्रति आभारी है जिन्होंने मीरा बहन स्मृति ग्रंथों (हिन्दी तथा अंग्रेजी भाषा में) के प्रकाशनार्थ अपना सहयोग प्रदान किया।

हिमालय सेवा संघ नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद का आभारी है जिन्होंने गांधीजी के लेखन आदि को प्रकाशित करने की सहमति प्रदान की।

स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति

डा० सुशीला नैयर • सुश्री राधा भट्ट • डा० गंगा प्रसाद विमल • डा० एम०एल० दीवान
प्रो० चन्द्र प्रकाश तिवारी • डा० रमेश भारद्वाज • सुश्री सरला जगमोहन • श्री कृष्ण मूर्ति गुप्ता
श्री भगवती प्रसाद नौटियाल

© हिमालय सेवा संघ

प्रथम संस्करण : 1993

प्रकाशक - हिमालय सेवा संघ, 15 राजघाट, नई दिल्ली - 110002

आवरण पृष्ठ - श्री राजेश्वरी प्रिंट एण्ड प्रोडक्शन वर्क, लक्ष्मी नगर, दिल्ली - 92.

लेजर टाइप सेट - मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली - 2.

मुद्रक - जगदम्बा प्रकाशन के लिए कावेरी प्रिंटर्स, नई दिल्ली -2 द्वारा मुद्रित.

मूल्य - पुस्तकालय संस्करण - रु० 200.00
~~जन संस्करण - रु० 100.00~~

मीरा बहन के दोष नगण्य हैं,
उनके गुण अनुकरण करने योग्य हैं।

- महात्मा गांधी

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी..........
पु०सं० 31073
भारती पुस्तकालय

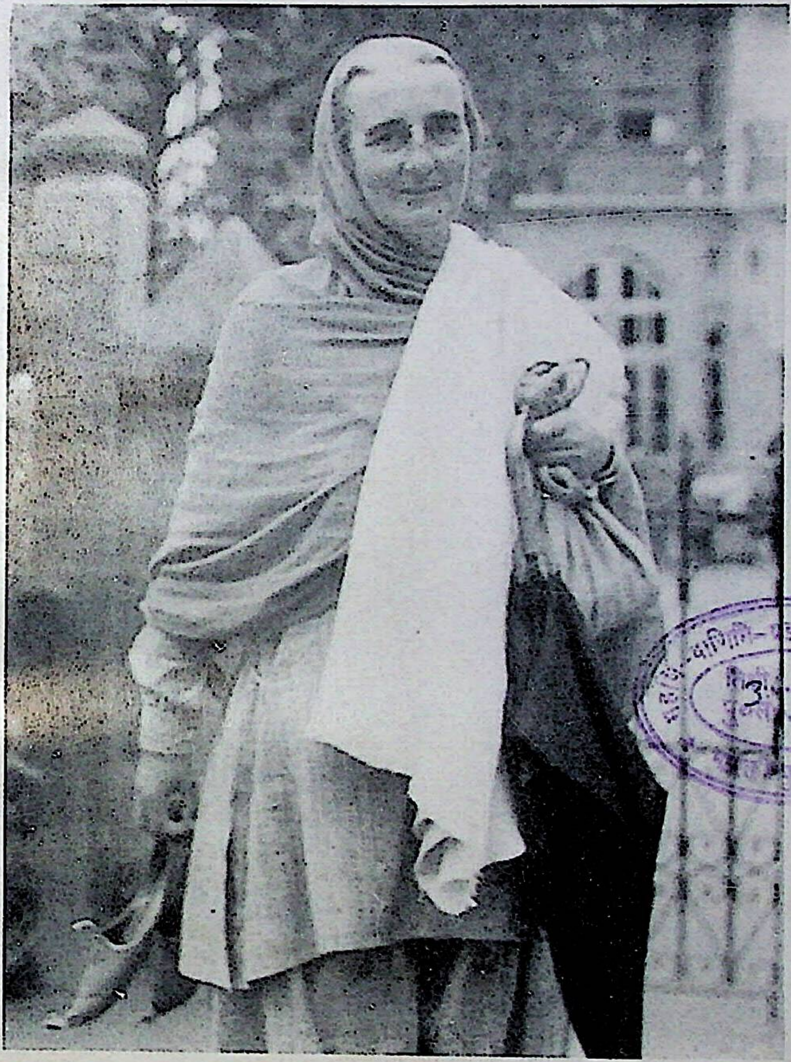

3 310/3

नवम्बर 22, 1892 - जुलाई 20, 1982

November 22, 1892 - July 20, 1982

Mira behn, the apostle of Truth and Non-violence coming out of the detention camp (Aga Khan Palace, Poona)
(May 6, 1944)

सत्य और अहिंसा की प्रतिमूर्ति मीरा बहन नज़रबन्दी कैम्प (आगा खां पैलेस, पूना) से बाहर आती हुई।
(मई 6, 1944)

CC-0.Panini Kanyā Maha Vidyalaya Collection.

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी........
पुस्तं०..310....

प्राक्कथन

इतिहास साक्षी है कि संसार में कभी-कभी ऐसी आत्माएं भी जन्म लेती हैं, जिनमें दैवी शक्ति समायी होती है और परिस्थिति व वातावरण की अनुरूपता पाकर उसका धीरे-धीरे विकास होता रहता है तथा एक दिन ऐसा आता है जब वह आत्मा अपने इस अभीष्ट को पा लेती है या उस चरम को सिद्ध कर लेती है, जिसको कार्यरूप देने के लिए उसने जन्म लिया होता है। ऐसी ही एक शक्ति पुंज का 22 नवम्बर, 1892 को लन्दन के एक अति संभ्रान्त व सम्पन्न परिवार में जन्म हुआ था जिसे नवम्बर 1925 तक 'मेडेलीन स्लेड' तथा उसके बाद भारत तथा समस्त विश्व में 'मीरा बहन' के नाम से जाना जाता रहा है।

जिस किसी ने भी उनकी जीवनी पढ़ी है, उनके सम्पर्क में रहे हैं, उनके साथ रह कर कार्य किया है, वे उल्लिखित सत्य को नकार नहीं सकते।

बचपन में जब बच्चे खिलौनों और गुड्डा-गुड्डी के खेलों के लिए मचलते रहते हैं, मेडेलीन स्लेड उन्हीं के प्रति अनासक्ति का ताना-बाना बुनती रही। किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर अथवा किसी नूतन की खोज में, घोड़े की पीठ पर बैठकर अपने नाना के गांव वाले विशाल घर से, खेतों, पहाड़ों, जंगलों, नदियों और सागर के आसपास जाकर वह प्रकृति से गहरा नाता जोड़ा करती थी। न जाने अपनी किन अभिव्यक्तियों को मुखरित करती रहती थी। और ज्यों-ज्यों वह अपने बचपन को बिदा करते हुए युवावस्था की ओर कदम बढ़ाती गई, त्यों-त्यों वह उस सामाजिक विन्यास को भी तोड़ती गई जो युवा धड़कनों को परवान चढ़ाता है।

अपने उस 'अज्ञात' के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए, कु० मेडेलीन स्लेड (मीरा बहन) ने पश्चिम के एक महान संगीतज्ञ बीथोवन के संगीत से नाता जोड़ लिया। सूरदास के समान ही बीथोवन ने अपने समस्त चिन्तन को संगीत में ढालकर जन-जन के लिए सुबोध बना दिया था। उसकी आत्मा ने स्वयं इस मार्ग को चुना। इस चरम की पराकाष्ठा तो तब देखने में आई जब प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी, इंग्लैण्ड का परम शत्रु बना हुआ था और मेडेलीन स्लेड अपने ही पैसों के बलबूते पर लन्दन में 'बीथोवन संगीत समारोहों' का आयोजन कर रहीं थीं। इतना ही नहीं, वे बॉन (जर्मनी) भी गईं और आश्चर्य की बात है कि बिना किसी पथ-प्रदर्शक के वे न केवल उस घर तक पहुंचीं जहां पर बीथोवन का जन्म हुआ था अपितु उस समाधि तक भी पहुंच गईं जहां पर वह चिरनिद्रा में सोया हुआ था। पर इतना सब होने पर भी उनको लगता था कि कोई 'अज्ञात' अभी भी उन्हें बुला रहा है।

अभी वे अपने को उस संगीत लहरी में डुबो ही रही थीं कि उनकी मुलाकात, फ्रांस के विश्वविख्यात दार्शनिक व साहित्यकार रोमां-रोलां से हो गई। रोमां-रोलां ने जहां एक ओर उन्हें बीथोवन के संगीत की गहराइयों से परिचित कराया, वहीं गांधी नामक उस व्यक्ति के बारे में भी बताया जिसे वे ईसा मसीह का दूसरा स्वरूप मानते थे। गांधी के विषय में जानते ही मेडेलीन स्लेड को लगा कि महात्मा गांधी ही वह 'अज्ञात' है, जिसे मुझे पाना है

और फिर एक दिन ऐसा भी आया जब वह 'अज्ञात शक्ति' मेडेलीन स्लेड को बापू की बेटी तथा शिष्या बनाने के लिए भारत में खींच लाई। उन्हीं के शब्दों में — "मुझे महात्मा गांधी के पास जाना था, जो अत्याचारों से पीड़ित भारतीय नागरिकों की व दलित भारत की भयरहित, सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलकर सेवा कर रहे थे।" * और इस प्रकार पश्चिम की मेडेलीन स्लेड पूरब की मीरा बहन बन गई।

यह महान आत्मा इस संसार में 90 वर्ष बिताकर अपने पीछे सक्रिय जीवन की अद्भुत मिसाल छोड़ गई है। आज जब हम उनके द्वारा सम्पादित कार्यों का लेखा-जोखा लगाने बैठे हैं तो उनकी कार्य क्षमता और बुद्धि कौशल को देखकर विस्मित रह जाना पड़ता है। हम इसे अपना परम सौभाग्य मान रहे हैं कि इस महान आत्मा की 'जन्म शताब्दी' मनाने का हमें अवसर प्राप्त हुआ, और प्रस्तुत स्मृति ग्रंथ के माध्यम से हम उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने में सफल हुए।

सुविधा की दृष्टि से उनके जीवन को चार भागों में बांटा जा सकता है -

1892-1925 — 33 वर्ष, इंग्लैण्ड तथा पश्चिमी क्षेत्र में।

1925-1944 — 20 वर्ष, गांधीजी के सान्निध्य में साबरमती, सेवाग्राम आदि।

1945-1958 — 14 वर्ष, उत्तर भारत के हिमालय क्षेत्र में।

1959-1982 — 23 वर्ष, आस्ट्रिया व पश्चिमी देशों में।

1946-1952 के 6-7 वर्षों में स्वर्गीय मीरा बहन के सान्निध्य में काम करने का मुझे अवसर मिला। इसके बाद भी जब तक वे जीवित रहीं, मुझे उनका पुत्रवत् स्नेह-प्यार-आशीर्वाद मिलता रहा। जहां भी, जिस अवस्था में भी वे रहीं, मुझे बराबर लिखती रहीं, उनके लगभग 70 पत्र मुझे प्राप्त हुए।

यह वर्ष (1992-1993) उनका जन्म शताब्दी वर्ष है। इस वास्तविकता को देखते हुए अनेक मित्रों ने आग्रह किया कि मैं अपने संस्मरणों की पृष्ठभूमि में मीरा बहन की स्मृति स्वरूप हिन्दी और अंग्रेजी, दोनों भाषाओं में दो स्मृति ग्रन्थ तैयार कराऊं।

कुछ मित्रों का सुझाव था कि मीरा बहन के बचपन से लेकर उनकी मृत्यु पर्यन्त जहां-जहां वे रहीं (इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, आस्ट्रिया आदि) उन स्थानों पर जाकर उनके द्वारा किए गये सभी प्रमुख कार्यों, लेखों, पत्रों आदि का संग्रह किया जाए और उसी के आधार पर स्मृति ग्रंथ की रचना की जाए। परन्तु यह कोई आसान काम नहीं था - साथ ही न तो इतना समय ही था और न साधन आदि ही। सबसे अधिक ध्यान देने की बात तो यह है कि मेरी अपनी योग्यता, क्षमता, कार्यकुशलता, साधन आदि की उपलब्धता, बहुत ही सीमित हैं। फिर भी अपनी क्षमता की सीमाओं के अन्तर्गत इस शताब्दी वर्ष में कई साथियों व हितैषियों के सहयोग से मीरा बहन (ममतामयी मां) की स्मृति स्वरूप कुछ बटोर पाने का साहस मैं जुटा पाया हूं।

मीरा बहन की आत्मकथा 'द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज' (The Spirit's Pilgrimage) एक अद्भुत ग्रंथ है। वह ऐसी सरल व रोचक भाषा में लिखा गया है कि पाठक एक बार शुरू करने के बाद उसे बीच में छोड़ना नहीं चाहता। किन्तु मीरा बहन के पूरे 90 वर्षों की सम्पूर्ण गाथा यह नहीं है। 1956 में काश्मीर से लौटकर वे पुनः टिहरी

---

* मूल (अंग्रेजी भाषा) से अनूदित

गढ़वाल में आ गईं। यह स्थान (पक्षी कुंज) उन्हें सबसे अधिक पसन्द था। इस स्थान पर उन्हें बीथोवन और रोमां रोलां की पुरानी स्मृतियों ने झकझोर दिया और उन्होंने भारत छोड़ने का निश्चय कर लिया, जैसा कि मुझे लिखे गये उनके 14 अप्रैल, 1958 के पत्र से स्पष्ट होता है –

Whether I like or not, Pakshi Kunj, though quiet the most beautiful spot in the Himalaya I have yet found, is going to be beyond me ... Since a restless urge has been with me for some time that sooner or later I shall have to go to West, I take it that I must accept the call now and do my best. In some ways I believe there is more response to Bapu's thought over there than in present-day India.

ऐसी मनःस्थिति में सर्वप्रथम उन्होंने इंग्लैण्ड जाना ही तय किया, परन्तु वहां पहुंचने पर उन्हें लगा कि इंग्लैण्ड अब वैसा नहीं रह गया है जैसा वे 1925 में छोड़ कर आई थीं, अतः वहां से वे कुछ अन्य पश्चिमीय देशों में अपने मनोनुकूल स्थायी निवास स्थान की खोज में निकल पड़ीं। अन्ततोगत्वा उन्होंने वियना (आस्ट्रिया) से कुछ किलोमीटर दूर एक स्थान का चयन किया। यह स्थान वैसा ही था जैसा वे चाहती थीं - वनप्रांतर के निकट, शांत, एकान्त और प्राकृतिक नैसर्गिकता से परिपूर्ण। मृत्यु पर्यन्त वे इसी स्थान पर रहीं।

वास्तव में मीरा बहन के सम्पूर्ण व्यक्तित्व, उनके अदम्य साहस, उनके अथाह ज्ञान, बापू के बताये गये सत्य और अहिंसा में उनका अटूट विश्वास, इन सबका सही आकलन करने के लिए उनके 'यंग इंडिया', 'हरिजन' आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित एक सौ से अधिक लेखों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। जितना सम्भव हो सका मैंने इन लेखों को एकत्रित करने का प्रयास किया है। कई लेख ऐसे भी मिले, जिनका सही-सही स्रोत मालूम नहीं हो सका। पुस्तक का आकार तथा कुछ अन्य मर्यादाओं को ध्यान में रखते हुए कुछ लेख इस ग्रंथ में सम्मिलित नहीं किये जा सके। संस्मरणात्मक लेख भी इसी कारण से सम्पादित करते समय संक्षिप्त करने पड़े।

कहा नहीं जा सकता, यदि पुस्तक का दूसरा संस्करण कभी निकालना सम्भव हुआ तो यह कमी दूर करने का भरसक प्रयत्न किया जायेगा।

मीरा बहन के जीवन की महत्वपूर्ण और अद्भुत बातों में से एक यह भी है कि भारत के आजाद होने के 10-15 वर्ष पहले ही उन्होंने यहां की कुछ प्रमुख समस्याओं को समझ लिया था और उन समस्याओं का समाधान भी सुझाया था। वृक्षों की अन्धाधुन्ध कटाई से होने वाली हानि, हिमालय क्षेत्र में बांज (ओक) के वनों का कम होते रहना, खेती में कम्पोस्ट (खाद) का महत्व, गाय का महत्व, पश्चिमी सभ्यता की बेसमझ नकल, अपनी संस्कृति, अपनी भाषा के प्रति उदासीनता, खादी और ग्रामोद्योगों का महत्व – कुछ ऐसे विषय हैं, जिन पर उन्होंने तर्क संगत और स्पष्ट विचार प्रकट किये हैं।

मीरा बहन एक 'विश्व नागरिक' थीं। उन्हें पूर्व की या पश्चिम की मानना उनके व्यक्तित्व का सही निरूपण करना नहीं होगा। उन्होंने स्वयं कहा भी है –

... The call that has brought me here is no false one, and I feel that this must be headquarters and later I can perhaps visit India. I feel too that Bapu would say my place is in Europe today. Why have I been given this double knowledge of West and East if not to put it to use? (Letter dated September 21, 1959).

वास्तव में उनका समस्त जीवन ही बापूमय बन गया था। वे सदैव अपने को 'भारतीय' ही मानती रहीं। सम्भवतः भारतीयता की उनकी अवधारणा उन पुराने मूल्यों से आवेष्ठित अवधारणा है जिसके अनुसार 'पूरा विश्व एक परिवार है'।

उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है —

... I shall be more useful to the cause here (West) than hidden away in some remote Himalayan village ... (Letter dated September 21, 1959).

इस पुस्तक को तैयार करने में मैंने मुख्यतया मीरा बहन द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज' जिसे ओरियंट लौंगमैन्स ने 1960 में प्रकाशित किया था; ('The Spirit's Pilgrimage' Orient Longmans, P. Ltd 1960) इसी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर 'एक साधिका की जीवन यात्रा' — नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद 1970; 'बापू के पत्र मीरा के नाम' — नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद 1951; 'यंग इण्डिया' और 'हरिजन' तथा 'हरिजन सेवक'; एवं मुझे लिखे गये पत्र और कुछ अन्य प्रकाशनों व पत्र-पत्रिकाओं का ही सहारा लिया है और उनका यथास्थान उल्लेख किया गया है। व्यक्तिगत संस्मरण अपेक्षाकृत कम ही मिल पाये — इसका कारण शायद यह रहा कि मीरा बहन का अधिकांश समय बापू के सान्निध्य में ही बीता। उनके प्रमुख परिचितों में भी बापू के साथी ही ज्यादा रहे और वे भी समय बीतने के साथ-साथ इस धरा को छोड़ गये। चारों ओर नजर दौड़ाने पर डॉ० सुशीला नैयर ही दिखाई पड़ीं, जिन्होंने मीरा बहन को नजदीक से देखा था। साथ-साथ जेल में भी रहीं, उन्होंने अनेक प्रकार से मेरी सहायता भी की। डॉ० सुशीला बहन के आत्मीय संस्मरण एक अलग ही पुस्तक का विषय बन सकते हैं। जब-जब समय मिला मुझे उनसे अनेक बातें जानने का अवसर मिला।

पुस्तक लिखने के लिये मुख्यतया मुझे प्रेरित किया, मेरे मित्र धर्मपाल ने। उन्होंने प्रकाशनार्थ कुछ सामग्री भी जुटाने में मदद दी। जो और मित्र मीरा बहन के साथ रहे और जिनसे मैं परिचित हूं, उनमें अहमदाबाद के सूर्यकान्त पारिख; दिल्ली में रामस्वरूप, जगदीश प्रसाद उनियाल; बिरमगांव (गुजरात) के रामजी भाई; मेरठ जिले के तेज सिंह; ऋषिकेश के जयप्रकाश शर्मा; टिहरी गढ़वाल के सुन्दरलाल बहुगुणा और योगेश चन्द्र बहुगुणा; मूलदासपुर (किसान आश्रम) के अमीर सिंह और बापू ग्राम के फतेहचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। सबसे अधिक सहयोग और हर प्रकार की सहायता मिली, श्री भगवती प्रसाद नौटियाल से — कहना चाहिये कि उनकी मदद के बिना इस पुस्तक के प्रकाशन का काम पूरा होना सम्भव नहीं था। श्रीमती सरला जगमोहन ने अपने बहुमूल्य समय में से काफी समय अनुवाद आदि के काम में दिया। श्री राजेन्द्र नाहर (मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स) ने पुस्तक की विन्यास शैली को संवारने में भरपूर सहयोग दिया। डा० गंगा प्रसाद विमल के सहयोग को भुलाया नहीं जा सकेगा। वर्षों के मेरे सम्पर्क ने मुझे हिमालय के इस विचित्रवासी के इतना करीब ला दिया है कि अपनत्व का सखाभाव उनके प्रति बराबर बना हुआ है। कार्यालय के साथी अहिवरन सिंह, अजीत कुमार और सुरेन्द्र सिंह ने अनेक प्रकार से सहायता की। इन सबका मैं हृदय से आभार मानता हूं।

आस्ट्रिया (वियना) में मीरा बहन को सबसे अधिक सहयोग मिला — श्रीमती ली कलीचे (Frau Lea

Calice) और श्रीमती रोजेटा स्पाल्ट (Frau Rosetta Spalt) से। इस पुस्तक के लिये भी उन्होंने कई लेख, फोटो आदि भिजवाकर सहयोग प्रदान किया। श्रीमती पद्मा वेंकटरमन, आस्ट्रिया में मीरा बहन के व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुईं और उन्होंने वहां 'मीरा बहन जन्म शताब्दी समिति' का गठन भी किया। इस प्रकार अनेक साथी सहयोगियों की निकटता व उनके सुझाव मेरे लिए मूल्यवान तथा आत्मबल के संबल बने रहे। नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय के डा० हरिदेव शर्मा और गांधी स्मारक संग्रहालय, नई दिल्ली के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूं जिनके सौजन्य से मुझे मीरा बहन सम्बन्धी कुछ अभिलेख प्राप्त हो सके। मैं इन सब मित्रों को हृदय से धन्यवाद देता हूं।

ग्रंथ के लेखन व प्रकाशन में जिस तरह का उत्साह और बल मुझे हिमालय सेवा संघ की अध्यक्ष सुश्री राधा भट्ट और संघ के सभी सदस्यों से मिला उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं।

मीरा बहन के साथ बिताए समय की स्मृति ने भी मेरी बहुत सहायता की है, मैं वह समय कभी नहीं भूल सकता। उनके सान्निध्य में बीते समय को केवल अपने सौभाग्य का समय कह सकता हूं। वह अविस्मरणीय समय था जो आज भी निरन्तर कार्य करने की प्रेरणा देता रहता है।

मीरा बहन जन्म शताब्दी पर यह स्मृति ग्रंथ आप सबको उस महान साधिका, महान आत्मा का परिदर्शन कराये यही मेरी कामना है। मेरे लिए तो यह उस महान नारी के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना है — जीवन के हर पल क्षण में उनकी याद करते हुए मैं इसी भाव से आप्लावित रहता हूं।

कृष्ण मूर्ति गुप्ता

विषय सूची

संदेश xiii

मीरा बहन 1

- प्रारम्भिक जीवन 3
- साबरमती आश्रम, हिन्दी और बापू 9
- उत्तर भारत के हिमालय क्षेत्र में 19
- इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रिया में 43
- उपसंहार 53

मीरा बहन के कुछ चुने हुए लेख 55

संस्मरण और श्रद्धांजलि 151

बापू के पत्र मीरा के नाम 191

कुछ विशेष पत्र 217

परिशिष्ट 225

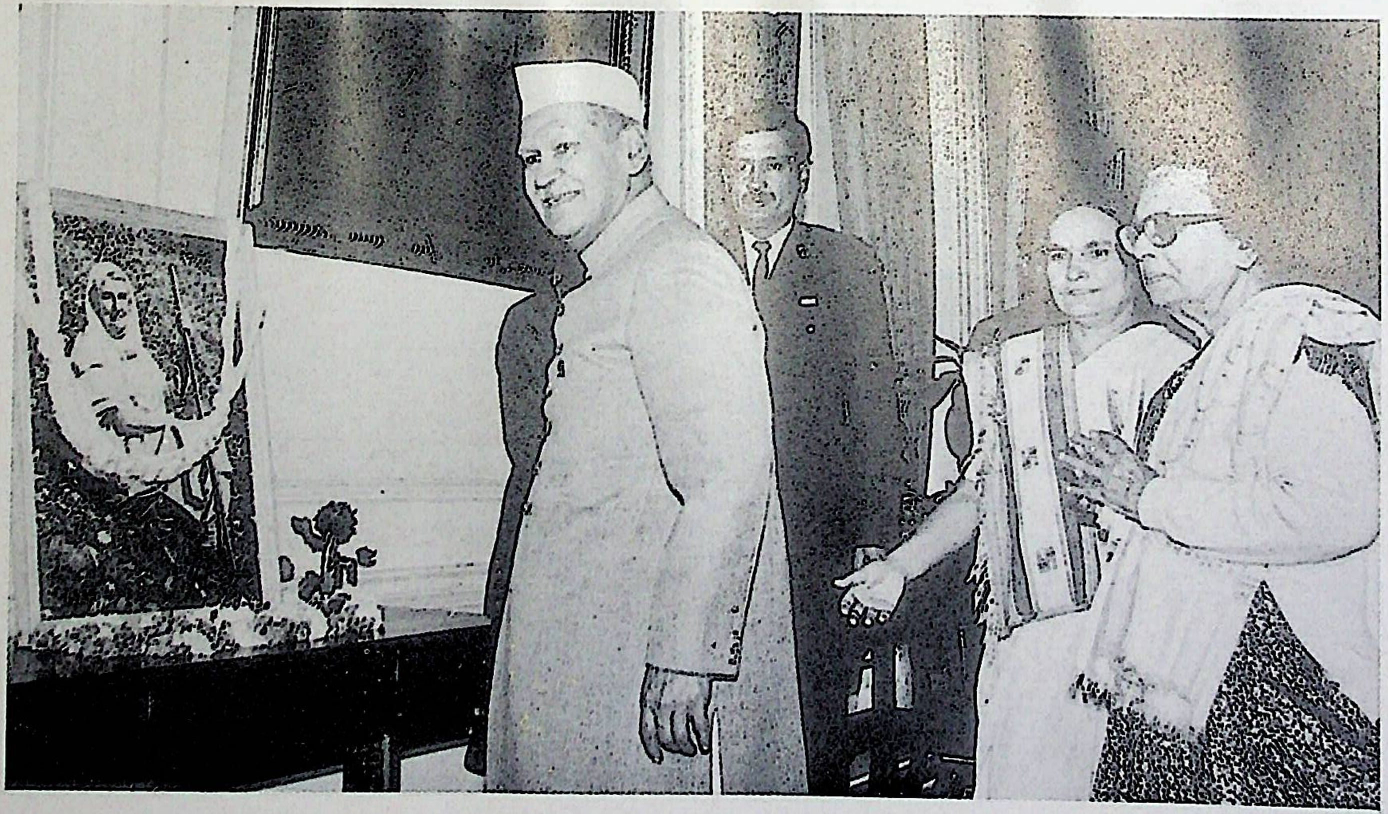

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली, नवम्बर 26, 1992
मीरा बहन जन्म-शताब्दी समारोह के अवसर पर राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा।
साथ में डा० सुशीला नैयर और सुश्री राधा भट्ट।

सत्यमेव जयते

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

MESSAGE

Mira behn has been a household name in India in the context of our struggle for liberation from the foreign yoke. Spurning the comforts of her own country, Mira behn gave her all to the fight for India's independence. She participated actively in the civil disobedience movement and was imprisoned in 1932-33 and in 1942.

Of her first meeting with Gandhiji at Sabarmati, Mira behn recalled many years later... "As I entered, I became conscious of a small spare figure rising up from a white gaddi and stepping towards me. I knew it was Bapu, but, so completely overcome was I with reverence and joy that I could see and feel nothing but a heavenly light. I fell on my knees at Bapu's feet. He lifted me up and taking me in his arms said, 'You shall be my daughter'. And so has it been from that day."

Mira behn adopted a life of spartan simplicity in India. Her role in winning support in the U.K. and other countries for the Indian freedom movement was indeed significant. In Gandhiji and Kasturba, she found spiritual parents with whose loving inspiration she strove tirelessly for the cause of khadi and the social and economic upliftment of the poor. In one of his letters from the Yeravda jail, Gandhiji wrote to her "... You are having a variety of experiences. Seekers after Truth turn every one of these to good account".

It is befitting that Mira behn's birth centenary should be observed by us this year in various parts of the country. Her life and work will long inspire all those who, across national frontiers, cherish the values of freedom and human dignity.

I wish the celebrations all success.

SHANKER DAYAL SHARMA

New Delhi,
September 14, 1992

सत्यमेव जयते

उप-राष्ट्रपति
भारत
VICE-PRESIDENT
INDIA

MESSAGE

I am happy to note that the Mira Behn Birth Centenary Committee is bringing out a Commemorative Volume of the life and works of Mira Behn in November, 1992.

Mira Behn's dedicated participation in our freedom struggle was through the inspiration and association of Mahatma Gandhi. Her entire life has been a glorious example of dedicated service towards the upliftment of the poor. I am confident that the Centenary Celebrations will inspire the people to rededicate themselves to the ideals of Mira Behn.

I extend my wishes for the success of the Centenary Celebrations.

K. R. NARAYANAN

New Delhi,
October 14, 1992.

सत्यमेव जयते

प्रधान मंत्री
PRIME MINISTER

MESSAGE

It is indeed a thoughtful gesture on the part of the Himalaya Seva Sangh to commemorate the life and work of Mira behn in her birth centenary year.

Mira behn's life is a story of simplicity, courage and sacrifice. Even though of British origin, she found in India her spiritual home and shared with Mahatma Gandhi and Kasturba their hardships and their hope for a free India. She identified herself with the Indian people in their struggle against foreign rule, in their endeavour to build a new India based on social justice and the dignity of the individual.

The moral issues involved in India's struggle for freedom left a deep imprint upon Mira behn, as they did on all right thinking people irrespective of the country to which they belonged. Mira behn represented the voice of humanity, appalled at the bondage to which the Indian people were subject and to the injustice inherent in a situation which prevented them from shaping their own destiny. The story of Mira behn's life will continue to inspire generations of Indians, as well as people the world over who are concerned with basic moral issues, with freedom and human dignity.

P.V. NARASIMHA RAO

New Delhi
November 11, 1991

सत्यमेव जयते

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र
PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

MESSAGE

I am glad that the Himalaya Seva Sangh is commemorating the life of Mira behn on the occasion of her birth centenary.

Daughter of a British Admiral, Mira behn voluntarily gave up a life of ensured comfort in the United Kingdom, for one of simplicity and sacrifice in India. In Gandhiji and Kasturba, she found spiritual parents even as they and their Ashrams found in Mira behn a true daughter of India. Mira behn's writings and letters form an invaluable bridge between Britain and India in the same manner as those of the Rev. C.F. Andrews, Marjorie Sykes and Verrier Elwin, other friends and associates of Mahatma Gandhi.

May the example of Mira behn's life inspire succeeding generations to learn from the spirit of self-denying service which marked the Gandhian era.

R. VENKATARAMAN

New Delhi,
September 1, 1991.

सत्यमेव जयते

गृह मंत्री
भारत
HOME MINISTER
INDIA

MESSAGE

I am glad to learn that you are celebrating the Birth Centenary of Mira behn. The history of freedom movement is strewn with the struggle and sacrifices of many men and women of great conviction. Mira behn was in the forefront of the freedom movement. Leaving her country and home behind, she decided to serve the people of India and to fight for the cause of freedom as a matter of personal conviction and underwent several terms of imprisonment. A true Gandhian to the core she was a saintly being whose life and work will continue to guide many generations of Indians in the years to come.

I wish your celebrations all success.

S. B. CHAVAN

New Delhi,
July 6, 1992.

सत्यमेव जयते

मंत्री
मानव संसाधन विकास
भारत
MINISTER
HUMAN RESOURCE DEVELOPMENT
INDIA

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि हिमालय सेवा संघ द्वारा स्वर्गीय मीरा बहन की जन्म-शताब्दी वर्ष में उनकी स्मृति में ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। मीरा बहन ने ऐश्वर्य का जीवन त्याग कर हिन्दुस्तान में सादगी और त्याग की तपस्या की, उन्होंने बापू और बा के साथ मिलकर कार्य किया। भारतीय जन-जीवन में गांधीवाद के प्रचार-प्रसार में उनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा। वह हिन्दुस्तान में आकर हिन्दुस्तान की माटी की गंध के साथ अपने सेवा और त्याग के कार्य में जुटी रहीं। मुझे विश्वास है कि उनकी स्मृति में प्रकाशित किये जाने वाले ग्रन्थ में उनके जीवन और उनके कार्यों के बारे में विस्तार एवं उपयोगी जानकारी प्रदान की जायेगी। मैं स्मृति ग्रन्थ के सफल प्रकाशन के लिए हार्दिक शुभकामनाएं अर्पित करता हूं।

अर्जुन सिंह

नई दिल्ली,
नवम्बर 21, 1991.

सत्यमेव जयते

कृषि मंत्री
भारत
MINISTER OF AGRICULTURE
INDIA

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि समिति द्वारा एक **मीरा बहन स्मृति ग्रन्थ** का प्रकाशन किया जा रहा है।

मीरा बहन ने वर्ष 1942 के "भारत छोड़ो आन्दोलन" में जो कार्य किया उसका मूल्यांकन करना सरल नहीं है।

मुझे पूर्ण आशा है कि **स्मृति ग्रन्थ** में प्रकाशित की जाने वाली सामग्री उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर समुचित प्रकाश डालेगी।

मैं स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन की सफलता के लिए अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूं।

बलराम जाखड़

नई दिल्ली,
जून 24, 1992.

सत्यमेव जयते

मंत्री
नागर विमानन् एवं पर्यटन
भारत
MINISTER
CIVIL AVIATION & TOURISM
INDIA

सन्देश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई है कि मीरा बहन जन्म शताब्दी समिति उनके जन्म शताब्दी वर्ष नवम्बर 1992 - नवम्बर 1993 के शुभ अवसर पर अनेक कार्यक्रम आयोजित करने जा रही है। इनमें मीरा बहन स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन विशेष रूप से उल्लेखनीय होगा।

मीरा बहन ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में जो योगदान दिया है उसका इतिहास गवाह है। इस महान व्यक्तित्व का जीवन हम सब भारतीयों के लिये प्रेरणा का स्रोत है। हम सब का भी यह कर्तव्य बन जाता है कि इस शुभ अवसर पर उनको तथा उनके द्वारा किये गये कार्यों को स्मरण करें। मैं भी इस शुभ अवसर पर अपनी शुभ कामनायें भेजता हूं।

माधवराव सिंधिया

नई दिल्ली,
जून 23, 1992.

सत्यमेव जयते

चन्द्रशेखर
संसद्-सदस्य
CHANDRA SHEKHAR
M.P.

सन्देश

आपका 25 अक्तूबर का पत्र मिला। मुझे प्रसन्नता है कि आप स्व० मीरा बहन की स्मृति में कोई ग्रन्थ निकाल रहे हैं। मुझे दुखी होकर कहना पड़ रहा है कि मेरा मीरा बहन से कोई सम्पर्क नहीं था। इस कारण मेरे लिए यह सम्भव नहीं होगा कि मैं उनके बारे में संस्मरण लिख सकूं। लेकिन जिस प्रकार उन्होंने गांधी जी के साथ रहकर संकट के समय राष्ट्र की सेवा की, उसके लिए ऋणी राष्ट्र उन्हें सदैव स्मरण करता रहेगा। मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूं।

शुभकामनाओं सहित,

चन्द्रशेखर

नई दिल्ली,
नवम्बर 3, 1991.

के. सी. पंत
K. C. PANT

MESSAGE

I am very glad to learn from your letter of August 19 that the Himalaya Seva Sangh is to bring out a commemorative volume on the life of Mira behn on the occasion of her centenary.

I cannot claim to have known Mira behn, but I did see her on a number of occasions when she came to meet my father (Pt. Govind Ballabh Pant). Always dressed in khadi clothes, I remember her tall figure and imposing personality. Of course, I had occasion to read about her and marvelled at the strength of conviction that must have moved her to accept Gandhiji's disciplined and austere way of life and spend decades devoting herself to public service in India.

To the best of my knowledge, her ultimate return to Europe was promoted by health reasons. I remember Indiraji telling me about that and her deep concern to see that Mira behn was looked after well.

I hope that the story of her life will inspire the present generation to study the magnetism of Gandhiji's idealism and faith which could generate such profound devotion and dedication in this remarkable woman.

K. C. PANT

New Delhi,
August 28, 1991.

मीरा बहन

अनुक्रम

प्रारम्भिक जीवन 3

साबरमती आश्रम, हिन्दी और बापू 9

उत्तर भारत के हिमालय क्षेत्र में 19

इंग्लैण्ड तथा आस्ट्रिया में 43

उपसंहार 53

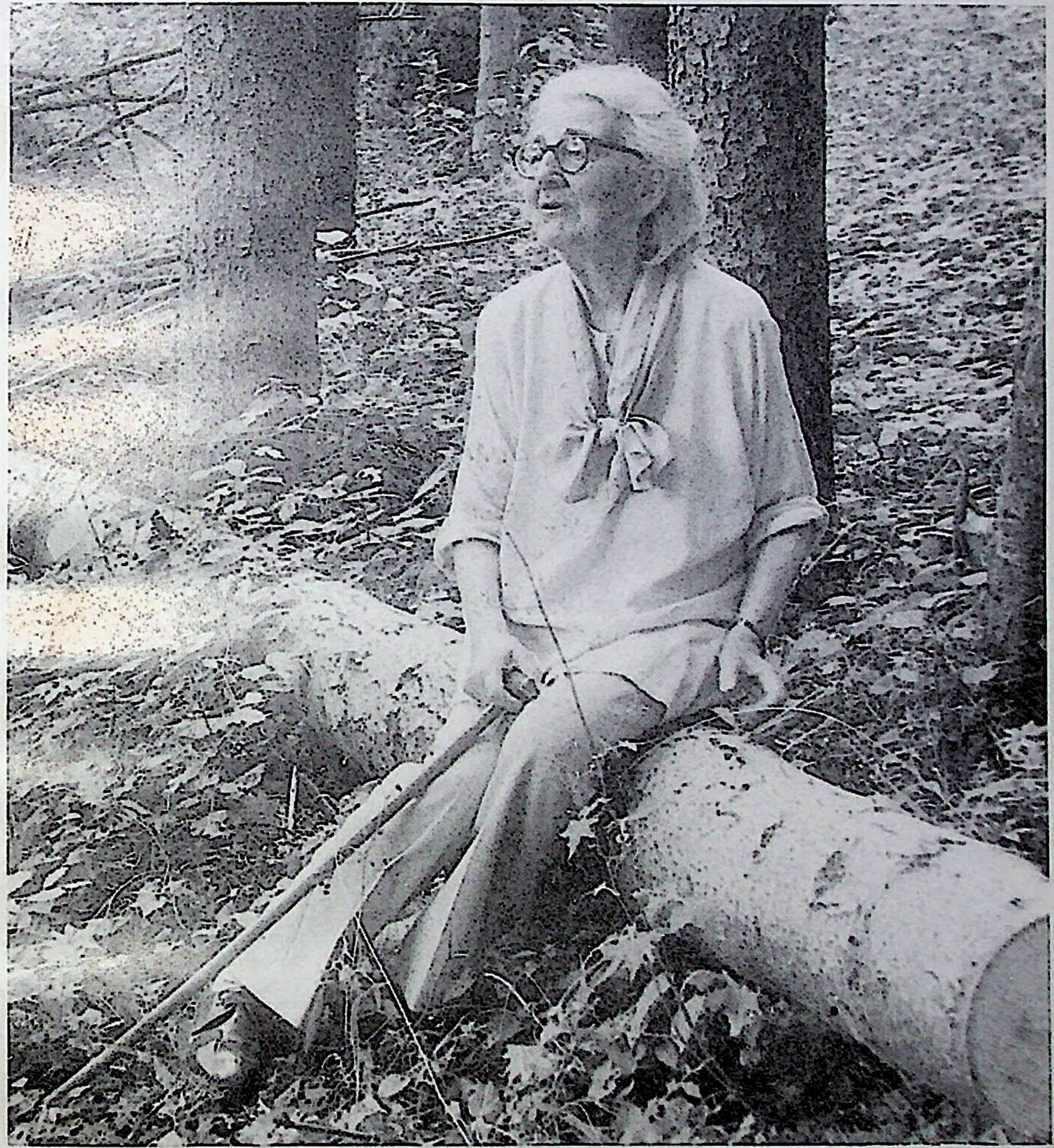

Courtesy — Barbara Pflaum

Mira behn in the woods near Gaaden (Austria) 1976
मीरा बहन गाडेन (आस्ट्रिया) के समीपवर्ती वन में

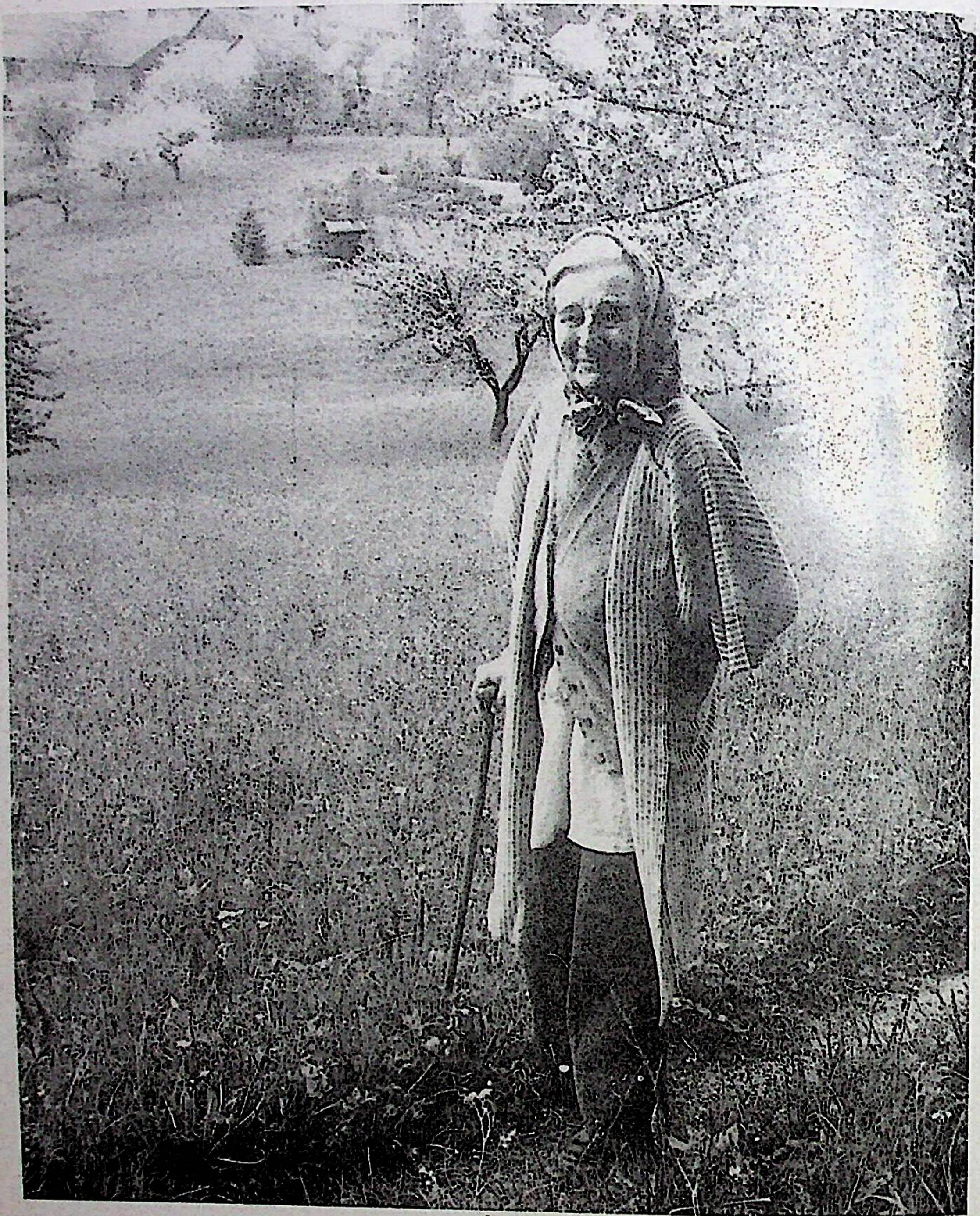

Courtesy — Barbara Pflaum

Mira behn in Kracking (Austria) 1980

मीरा बहन क्राकिंग (आस्ट्रिया) में

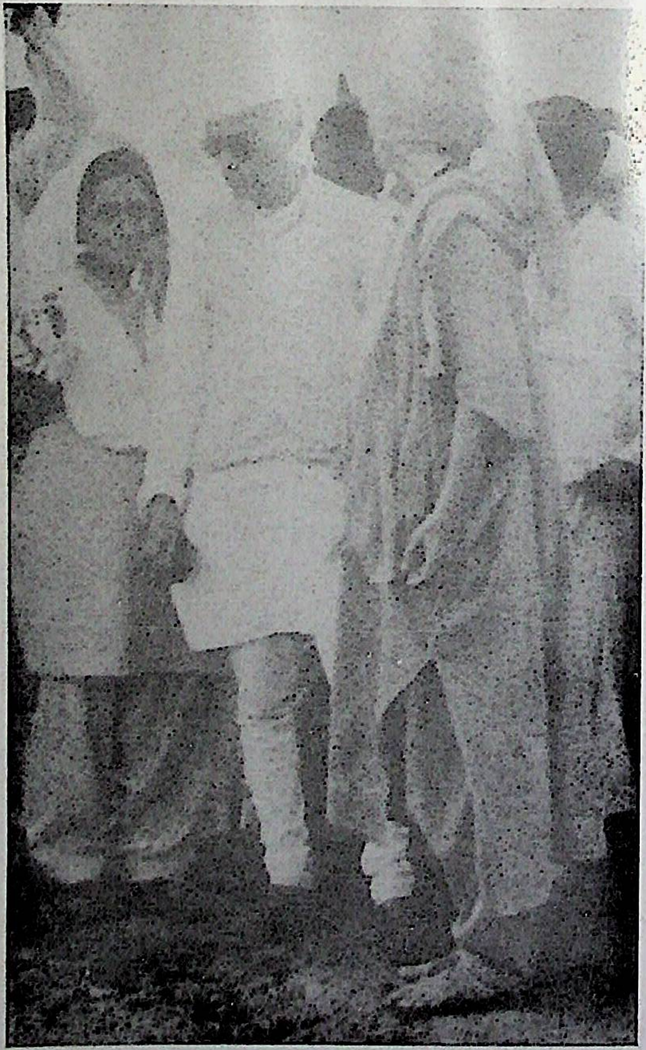

Mira behn with Pt. Jawaharlal Nehru at Pashulok (Rishikesh) 1949-50
पशुलोक (ऋषिकेश) में पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ मीरा बहन

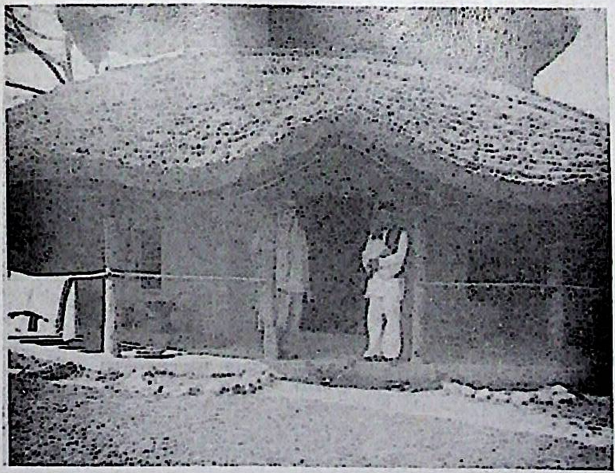

Mira behn's Cottage
at Pashulok (Rishikesh) U.P. 1949
पशुलोक (ऋषिकेश) उ.प्र. में मीरा बहन की कुटिया

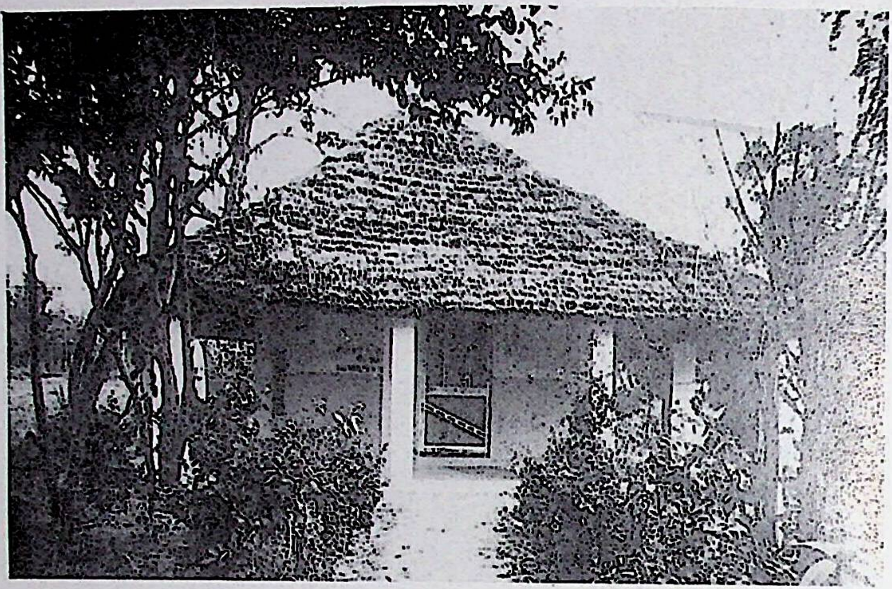

Mira behn's Cottage
at Oel, District Una (H.P.) 1939-40
ओयल, जिला ऊना (हि. प्र.) में मीरा बहन की कुटिया

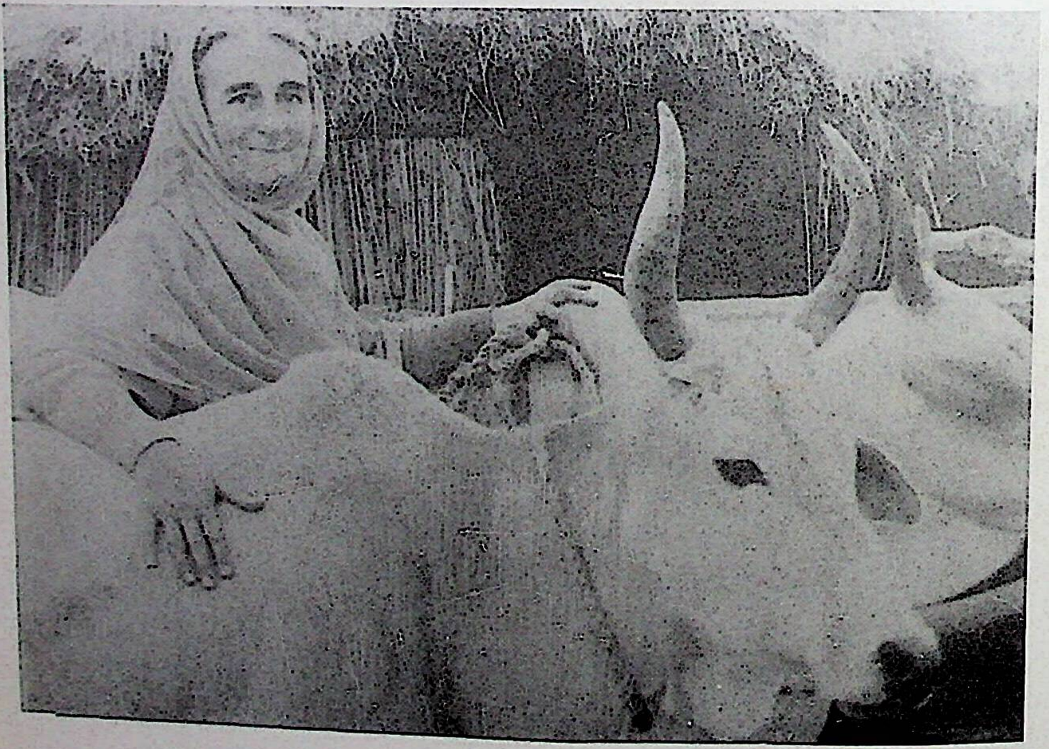

Mira behn in Pashulok (Rishikesh) 1949-50
पशुलोक (ऋषिकेश) में मीरा बहन

प्रारम्भिक जीवन

जिन व्यक्तियों ने मीरा बहन की अंग्रेजी में प्रकाशित आत्मकथा 'द स्पिरिट्स पिल्ग्रिमेज' (The Spirit's Pilgrimage*) अथवा इस का हिन्दी संस्करण 'एक साधिका की जीवन यात्रा ' ** — पढ़ी होगी, वे जान गये होंगे की मीरा बहन की जीवनी एक ऐसी प्रेरणा देने वाली कथा है, जिसे पढ़कर, पाठक का हृदय गद-गद हो जाता है तथा सिर श्रद्धा से झुक जाता है। अत्यधिक राजसी ठाठ में पली एक विदेशी युवती किस प्रकार गांधी जी की विचारधारा व कार्यप्रणाली से प्रभावित हुई व उन्होंने मानव मात्र की सेवा के लिए कैसे स्वयं को समर्पित कर दिया, यह उनकी जीवनी से स्पष्ट हो जाता है ।

मीरा बहन 22 नवम्बर,1892 में लन्दन में एक सुसंस्कृत, कुलीन व धनाढ्य परिवार में पैदा हुई थीं तथा उसी के अनुरूप उनका लालन-पालन व शिक्षा-दीक्षा हुई थी। उनके पिता एडमिरल थे, जो बाद में ईस्ट इण्डीज स्टेशन के प्रधान सेनापति नियुक्त हुए। जीवन के आरम्भिक काल से ही मीरा बहन को किसी चीज का अभाव नहीं था। घर में अट्ठारह नौकर-चाकर थे। हर प्रकार की सुख-सुविधा उन्हें उपलब्ध थी, फिर भी अपनी बाल्यावस्था (पांच-छः वर्ष की अवस्था) से ही मेडेलीन (मीरा बहन) इस आडम्बर युक्त जीवन से विमुख होने लगी थीं। उन्हें आडम्बर की अपेक्षा सादापन और यथार्थ अपनी ओर आकृष्ट करता था।

कहा जा सकता है कि वे सम्पन्नता से परे किसी नये अर्थ की दुनिया की ओर देख रही थीं। अल्पायु में ही वे सृष्टि के महत्तम बोध से परिचित होने की चेष्टा करने लगी थीं। यही कारण है कि उनको एकान्त और प्राकृतिक दृश्य बहुत भाते थे। लगता था जैसे बीसवीं शताब्दी की नियति को उन्होंने देख लिया था। इस शताब्दी के महान, कीर्ति पुरुष (महात्मा गांधी—बापू) से उनके सम्पर्क की तो उस समय कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। परन्तु कुछ प्रसंग हैं, जो उनकी आत्मकथा से उभरते हैं और सामान्य पाठक को यह विश्वास दिलाते हैं कि जीवन का पथ किन्हीं अपराजेय स्थितियों में, परा-शक्ति के संकेतों से परिचालित होता है। इस शक्ति का प्रथम परिचय एक अबोध बाल-मानस को उसके आस-पास के परिदृश्यों से होता है और यदि वे परिदृश्य सहज उपलब्ध नहीं हैं तो वह उन्हें अपने निकट के प्राकृतिक वातावरण में खोजता है। इस सत्य को मीरा बहन ने अपनी आत्मकथा में इन शब्दों में व्यक्त किया है—

> अभी मैं बहुत छोटी — पांच-छः वर्ष की ही थी और मन 'अज्ञेय'(unknowable) के क्षेत्र में खोज करने लगा था। ..... लेकिन कोई चीज ऐसी थी, जो बार-बार मुझे बहुत दूर ले जाती थी .....कभी

---

* Published by :-
Longmans, Green and Co. Ltd., London, 1960
Great Ocean Publishers, Arlington, Virginia, USA 1984.

** नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद—1970

किसी पक्षी के गीत द्वारा, तो कभी वृक्षों से उत्पन्न वायु की सरसराहट के द्वारा। यद्यपि यह अज्ञात शक्ति का स्वर था, फिर भी उसे सुनकर भय के स्थान पर अपार आनन्द का ही अनुभव होता था। (जीवनी-पृ० 13-14)

यह वह भाव-भूमि है जहां से मीरा बहन अपने लिए शक्ति एवं प्रेरणा ग्रहण करती थीं। एक नैसर्गिक जीवन उन्हें परिपूर्ण लगता था। यह वह भाव केन्द्र है जो जीवन की राहों को निर्दिष्ट करता है। यहीं से मनुष्य अपने भविष्य के लक्ष्य व योजनाएं निर्धारित कर जीवन-संग्राम में कूद पड़ता है। छोटी सी वय से ही जैसे भविष्य का रास्ता मीरा बहन के लिए तय हो गया था।

भारत में प्रथम आगमन - 1908

जब कुमारी मेडेलीन स्लेड के पिता ईस्ट इण्डीज स्टेशन के प्रधान सेनापति नियुक्त होकर भारत आये, उस समय वे मात्र 15 वर्ष की थीं। उस अवधि में वे दो वर्ष तक भारत में रहीं। घर के राजसी वातावरण व पिता के पद के अनुरूप बम्बई में रहते हुए उन्हें गवर्नर, सेनापति तथा उच्चपदस्थ अधिकारियों, राजाओं व ऊंचे घराने के लोगों से मिलना होता था। परन्तु इस प्रकार के राजसी वैभव में अधिक लिप्त न होकर वे प्रकृति की निकटता का आनन्द लेने के लिए बम्बई प्रवास की अवधि में श्रीलंका (सीलोन), ईरान, कुवैत, बहरीन, मसकट आदि देशों का भ्रमण करती रहीं। दो वर्ष व्यतीत होने पर कुमारी स्लेड (मीरा बहन) इंग्लैण्ड वापिस लौट आईं, लेकिन उनके पिता और परिवार के अन्य सदस्यों को भारत में कुछ समय और रहना पड़ा। प्रथम विश्व युद्ध की त्रासदी के दिन उन्होंने इंग्लैण्ड में बिताये। ये वे दिन थे जब दुनिया नई करवट ले रही थी। मनुष्यता की प्रमुखतम धरोहर शांति उन शक्तियों से पद्दलित हो रही थी जो धीरे-धीरे दुनिया के राजनैतिक मानचित्र में अपने-अपने स्वार्थों के लिए परिवर्तन ला रहे थे। मीरा बहन ने अपनी किशोरावस्था में दुनिया का यह एक ऐसा चित्र देखा था जिसे बदलने की कामना उनके दिल में बस गई थी।

महान संगीतकार- बीथोवन - 1920

प्रकृति और अज्ञेय के प्रति आस्था रखने वाली कुमारी स्लेड का संगीत के प्रति रुझान हो जाना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। जब हृदय तन्त्री किसी "अज्ञात" की झंकार के प्रति विमोहित होने लगती है तो एक संगीतमय वातावरण स्वयं ही उपस्थित हो जाता है, और ऐसे में संगीत के प्रति विशेष रुचि अपना लेना स्वाभाविक ही है। अपनी इस अभिरुचि के कारण वे महान दार्शनिक व संगीतकार 'बीथोवन' के संगीत में रुचि लेने लगीं। इसको वह लगातार, जहां भी रहतीं, सुनने के लिए लालायित रहतीं। अपने को उस संगीत की स्वर लहरी में पूर्णरूप से डुबो देने के लिए उन्होंने जर्मन भाषा का अध्ययन किया। फिर लन्दन में कुछ समय रहने के बाद उन्होंने जर्मनी (बॉन) और आस्ट्रिया (वियना) जाने का निश्चय किया। वे अकेली ही बॉन चली गयीं तथा वहां पर उन्होंने उस घर को भी देखा जहां उस महान संगीतज्ञ बीथोवन का जन्म हुआ था, जिसके संगीत में वे आकण्ठ डूब गयी थीं। अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा है —

> मैं बॉन पहुंची और पथ-प्रदर्शक से या अन्य लोगों से बचती हुई चुपचाप उस छोटे से घर में घुस गयी, जहां बीथोवन पैदा हुए थे। मुझे पता नहीं कितनी देर तक मैं वहां ठहरी रही। भावनाओं की

> उत्ताल तंरगों में मैं डूब चुकी थी। समय का मेरे लिये कोई अर्थ नहीं रह गया था। -----बाद में मैं वियना गयी। मैंने चुपचाप और अकेले ही कब्रिस्तान (समाधि स्थल) में ऐसे समय प्रवेश किया, जब वहां पर किसी के होने की सम्भावना नहीं थी। कब्रिस्तान का रास्ता भी मैंने स्वयं ही खोजा। अन्त में मैं जरा दूरी पर एक कब्र (समाधि) के पास पहुंची - वही बीथोवन की कब्र थी। कब्र के पास पहुंचकर मैं अपनी सुद-बुध ही खो बैठी। मैंने कोशिश भी नहीं की कि अपनी इस अवचेतन अवस्था को चेतना में बदल दूं। मैं खड़ी-खड़ी अनन्त की अभिलाषा में खो गयी। बॉन के उस छोटे से घर की ही तरह यहां भी मुझे समय का भान नहीं रहा। (पृ०52)

संगीत मनुष्य की एक ऐसी विरासत है जिससे वह गहन आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त करता है। कहा भी गया है — साहित्य और संगीत विहीन आदमी पशु के समान है (साहित्य संगीत कला विहीनः, साक्षात पशु पुच्छ-विषाण हीनः)। यही कारण है कि आधारभूत रूप से मीरा बहन एक ऐसे मानवीय व्यक्तित्व की धनी थीं, जिसमें सत्यम् शिवम् और सुंदरम् की प्रधानता थी।

रोमां रोलां से भेंट - 1923

बीथोवन और बीथोवन का संगीत उनके आराध्य देव बने। लन्दन वापिस आकर वे इसी संगीत की दुनिया में खो गयीं। इसी बीच वे फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यकार और नोबेल पुरुस्कार विजेता रोमां रोलां से मिलीं। वे न केवल साहित्य और संगीत की दुनिया के एक विश्व विख्यात व्यक्ति थे, अपितु गांधीजी के चिन्तन और कार्यकलापों से भी भली-भांति परिचित थे। रोमां रोलां के क्षणिक सान्निध्य ने जहां एक ओर उन्हें बीथोवन संगीत की गहराई से परिचित कराया, वहीं गांधीजी के चिन्तन और उनकी कार्यशैली से भी परिचित कराया। बातचीत के क्षणों में रोमां रोलां ने उन्हें यह भी बताया कि उन्होंने गांधीजी पर 'महात्मा गांधी' नामक पुस्तक भी लिखी है, जो इस समय प्रेस में है। इसी भेंट में जब रोमां रोलां ने कुमारी स्लेड (मीरा बहन) की गांधीजी के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि को पहचाना तो गांधीजी के विषय में उनसे पूछा —

क्या तुम गांधीजी से परिचित हो ?

उत्तर मिला —नहीं।

तब रोमां रोलां ने कहा —वे ईसा मसीह के दूसरे स्वरूप हैं।

रोमां रोलां के ये शब्द सुनकर वे स्तम्भित रह गयीं। कुछ समय बाद जैसे ही रोमां रोलां रचित 'महात्मा गांधी' पुस्तक छप कर आई, मीरा बहन ने तुरन्त उसकी एक प्रति खरीदी और पढ़ने के पश्चात अपने को गांधीमय बना दिया, जैसा कि उनकी जीवनी की निम्नांकित पंक्तियों से स्पष्ट है—

> उसी प्रातःकाल से मैंने उसे पढ़ना शुरू कर दिया और एक बार शुरू करके छोड़ने का नाम ही न लिया। दोपहर को जब मैं एक रेस्तरां में खाना खाने के लिए गयी, तो उस छोटी सी पुस्तक को भी साथ ले गयी, और फिर लौटकर अपने कमरे में आ गयी तथा शाम होने तक उसे पूरा पढ़ लिया। अब मुझे आभास होने लगा कि वह 'अज्ञात' वस्तु क्या थी, जो मेरे पास आती हुई सी प्रतीत हो रही थी — मुझे महात्मा गांधी के पास जाना था, जो अत्याचारों से पीड़ित भारतीय नागरिकों की व दलित भारत की, भय

रहित, सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलकर सेवा कर रहे थे। यह कार्य भले ही भारत में केन्द्रित था, पर था तो वह सारी मानव जाति के कल्याण के लिए। (पृ० 62)

गांधीजी से मीरा बहन का यह आकस्मिक परिचय एक प्रकार का दिशा बोधक परिचय था। वे गांधीजी के बारे में पढ़कर गहरी आध्यात्मिक अनुभूतियों से भर गई थीं।

यहां रोमां रोलां की डायरी* के कुछ अंश देना प्रासंगिक होगा, क्योंकि वास्तव में रोमां रोलां ही ने मीरा बहन को भारत में गांधीजी के पास जाने के लिए दिशा निर्देश दिया था—

अक्तूबर - 1923

एक अंग्रेज एडमिरल की लड़की, कुमारी मेडेलीन स्लेड, का आगमन, जो कला के प्रति जीवन समर्पित करने के कारण अपने परिवार और दुनिया से अलग दीखती है—या यों कहिये कि कलाकारों के स्वार्थ के प्रति भी वह बिल्कुल वीतराग है, क्योंकि वह स्वयं कला के मर्म से परिचित दीखती है। 37 (A)

सितम्बर 14, 1925

मेडेलीन स्लेड का आगमन। लगभग 30 वर्षीया यह अंग्रेज युवती भगवद् कृपा की पात्र बनी-- इसने महात्मा गांधी के सिद्धान्तों की दीक्षा ली है। उनके लिए काम करने के निमित्त अपना जीवन समर्पित करने का उसने संकल्प कर लिया है। वह भारत के लिए रवाना होकर, अहमदाबाद के पास साबरमती आश्रम में भर्ती होने वाली है। गांधी ने उसे स्वीकार कर लिया है। वह शरीर से लम्बी, सबल, बहुत सुन्दर और भरी पूरी है। --- अनचाहे ही उसके भाग्य में मेरा भी हाथ रहा —। मैंने उसे गांधी का परिचय दिया — उसने उनकी समस्त कृतियां पढ़ डाली हैं — उसने अपनी छोटी निजी सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है — अपने माता-पिता से छुट्टी ले ली है।

अक्तूबर, 1925 के पत्र में रोमां रोलां ने गांधीजी को लिखा— कुमारी मेडेलीन स्लेड जिसे आपने कृपा पूर्वक अपने आश्रम में रहने की अनुमति दी है, शीघ्र ही साबरमती पहुंच रही है, वह मेरी तथा मेरी बहन की प्रिय मित्र है। मेरे लिए वह एक आत्मिक पुत्री के समान है और मैं खुश हूं कि वह आपके सान्निध्य में आ रही है। मैं जानता हूं कि उसके लिए यह कितना सुखकर होगा, साथ ही मुझे इस बात का भी विश्वास है कि आप उसे अपने अनुयायियों में सबसे अधिक निष्ठावान पायेंगे। उसकी आत्मा प्रशंसनीय ओजस्विता और उत्कट निष्ठा से भरपूर है। वह बहुत ही सीधी,सच्ची व सरल है। आपके कार्य-सम्पादन के लिए यूरोप इससे श्रेष्ठ और निष्काम हृदय (व्यक्ति) नहीं दे सकता। मेरी श्रद्धा के साथ-साथ भगवान उसे हजारों यूरोपवासियों के प्यार को सार्थकता प्रदान करने की क्षमता दे।

मीरा बहन का भारत आगमन -1925

भारत के बारे में मीरा बहन का रुझान इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने जीवन का लक्ष्य एक ऐसी ही भूमि को समझ रही थीं जहां से विश्व भर के मनुष्यों के कल्याण का स्वप्न साकार हो सके और इस प्रयोजन

---

*रोमां रोलां का भारत, मूल फ्रैन्च INDE का हिन्दी रूपान्तर। 1915 - 1943 - पूर्वोदय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली- 2.

(A) Also - Romain Rolland and Gandhi Correspondence.

की प्राप्ति का पहला कदम गांधीजी के सान्निध्य में जाना था।

यह वृतान्त उन्हीं के शब्दों में पढ़ना अधिक रुचिकर होगा, जो उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—

> 25 अक्तूबर, 1925 को 'पी.एण्ड ओ.' के जहाज पर सवार होते ही मेरी समुद्र-यात्रा आरम्भ हुई।—6 नवम्बर को जहाज बम्बई बन्दरगाह पर आ लगा। गांधीजी द्वारा दिये गये आश्वासन के अनुसार मित्र लोग (श्री देवदास गांधी तथा दादाभाई नौरोजी के परिवार के लोग) मुझे लेने बन्दरगाह पर पहुंचे हुए थे—। दूसरे दिन 7 नवम्बर को प्रातः ठीक समय पर गाड़ी बम्बई से अहमदाबाद स्टेशन पर पहुंची। गाड़ी अभी पूरी तरह रुकी भी नहीं थी कि एक चश्माधारी व्यक्ति ने मुस्कराते हुए खिड़की में से झांककर देखा, दूसरे ही क्षण एक और व्यक्ति ने, जिसके चेहरे में मुस्कराहट तो थी, परन्तु व्यक्तित्व बिल्कुल भिन्न प्रकार का था, पीछे से झाँका, एक तीसरा व्यक्ति उनके पीछे था। वे सब जानते थे कि मैं ही वह प्राणी हूं, जिसे वे ढूंढ़ रहे हैं। उन्होंने अपना-अपना परिचय दिया— महादेव देसाई (महात्मा गांधी के सचिव और दाहिने हाथ), बल्लभ भाई पटेल (जो बाद में स्वतन्त्र भारत के प्रथम गृहमन्त्री होने वाले थे) और स्वामी आनन्द (साप्ताहिक 'यंग इंडिया' के व्यवस्थापक)। मेरा मन उस क्षण पर ही केन्द्रित था जो महात्मा गांधी से मेरे मिलने का क्षण बनने वाला था, फिर भी बल्लभ भाई के प्रभावशाली व्यवहार की ओर मेरा ध्यान गये बिना नहीं रहा। उन्होंने महादेव की तरफ मुड़कर कहा, "तुम दोनों सामान सम्भालो, मैं इन्हें मोटर में ले जाता हूं।" इस समय मुझे अपने तन-बदन की कुछ भी सुध नहीं थी, क्योंकि मेरा सारा ध्यान उस व्यक्तित्व पर केन्द्रित था, जिसके निकट मैं पहुंच रही थी। एक-दो मिनट में गाड़ी एक बड़े इमली के वृक्ष के नीचे जाकर फाटक पर रुकी। ज्यों ही मैं अन्दर पहुंची, एक थोड़े गेहुंए रंग की सी मूर्ति खड़ी होकर मेरी ओर बढ़ी। उस समय मुझे चतुर्दिक प्रकाश के भान के अतिरिक्त कुछ भी आभासित नहीं हो रहा था। मैंने घुटने टेक कर उस मूर्ति को प्रणाम किया। दो हाथों ने कोमलता से मुझे उठा लिया और एक आवाज मेरे कानों में पड़ी—"तुम मेरी बेटी बनकर रहोगी"। भौतिक जगत का मेरा भान लौटने लगा और मैंने देखा कि एक सौम्य मुख प्यार भरी दृष्टि से मुझे देख रहा है। उसमें विनोद की एक हल्की सी झलक थी। हां, ये ही महात्मा गांधी थे, और मैं उनके पास आ पहुंची थी। (पृ० 69-70)

आश्रम में आते ही कु.स्लेड (मीरा बहन), गांधी जी की सेवा में पूरी तरह लग गईं। गांधी जी ने उन्हें अपनी पुत्री की तरह प्यार-दुलार दिया। कुछ समय पश्चात कुमारी मेडेलीन स्लेड में भारत तथा भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्ति देखकर गांधीजी ने उन्हें 'मीरा' नाम दे दिया और तभी से वे 'मीरा बहन' कहलाने लगीं। मीरा बहन के गुणों को बापू ने समझ लिया था। श्री जमनालाल बजाज को (21.5.1936) उन्होंने एक पत्र में लिखा था----

> मीरा बहन के दोष नगण्य हैं,---उसके गुण अनुकरण करने योग्य हैं।—

साबरमती में गांधीजी के आश्रम में आने के पश्चात, मेडेलीन स्लेड ने अनुभव किया कि उसने सही निर्णय लिया है। साबरमती आश्रम से 12 नवम्बर, 1925 को उसने रोमां रोलां को लिखा---

> आह मेरे पिता, मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि वे (गांधीजी) इतने देवतुल्य हैं। मैंने अपने को एक पैगम्बर के सान्निध्य के लिए तैयार किया था, परन्तु मैं तो एक दिव्य (देवतुल्य) आत्मा के

पास-पहुंच गई। आपका पत्र -- आपके दोनों पत्र जो आपने मुझे और महात्मा जी को लिखे -- बहुत-बहुत धन्यवाद। हे ईश्वर ! मुझे इस योग्य बनाना---।

रोमां रोलां के 1.10.1925 के पत्र के उत्तर में गांधीजी ने उन्हें लिखा—

> आपका कृपापूर्ण पत्र मिला। कुमारी स्लेड को समझने में देर न लगी। आपने क्या ही सुन्दर निधि मुझे भेजी है। इस महान विश्वास का पात्र बनने की मैं चेष्टा करूंगा। पूर्व और पश्चिम के बीच सेतु बनने में उसकी सहायता करने के काम में, मैं कोई कसर बाकी नहीं रखूंगा। मैं इस बात के सर्वथा अयोग्य हूं कि मेरे शिष्य हों। मेरे साथ-साथ वह भी एक सत्यान्वेशी का काम करेगी और क्योंकि मैं आयु में बड़ा हूं और शायद आध्यात्मिक अनुभव में भी, आपके साथ उसका पिता बनने के गौरव में हिस्सा बांटने का इरादा रखता हूं। कुमारी स्लेड परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने की आश्चर्यजनक क्षमता दिखला रही है और हम लोगों को इतने ही दिनों में अपनी ओर से निश्चिंत कर दिया है। शेष मैं कुमारी स्लेड के लिखने के लिए छोड़ता हूं, जिसे मैंने एक फ्रांसीसी बहन के बारे में सब कुछ बताने को कहा है, जो उसके आने के कुछ ही दिन पहले आश्रम में आयी थी।*

---

* साबरमती, दिनांक 13.11.1925 रो.रो.

साबरमती आश्रम - हिन्दी और बापू

साबरमती आश्रम में पहुंचकर मीरा बहन आश्रम के सभी नियमों का एक 'अनुशासित सैनिक' (Disciplined Soldier) की भांति पूरी तरह से पालन करने लगीं। आश्रम के नियम उनके अब तक के वैभवशाली जीवन के आड़े नहीं आए। प्रातः 4 बजे उठना, 4.20 पर प्रार्थना स्थल पर पहुंचना, फिर झाडू हाथ में लेकर आश्रम की सफाई करना, पाखाने, पेशाब घर की सफाई करना, इत्यादि। नेपाल के तुलसी मेहर उनको रूई की धुनाई आदि सिखाते थे। बीच-बीच में वे अस्वस्थ भी हो जाती थीं। इसलिए गांधीजी ने उन्हें अपना खाना स्वयं तैयार करने के लिये कहा और जल्दी ही वे इस कार्य में भी दक्ष हो गयीं। स्वावलम्बन का पहला पाठ जो उन्होंने गांधीजी से प्राप्त किया वह उनका प्रथम आधार था जिस पर स्वंय को उन्होंने बहुत कठोर रूप से कसा था। यह उनका अटूट संकल्प था।

अब वे न केवल खान-पान में, अपितु रहन-सहन व वेश-भूषा से भी पूरी तरह हिन्दुस्तानी बन गयी थीं और उनका अधिक समय बापू की सेवा में बीतने लगा था। वे बापू के साथ प्रवास में जाने लगीं। एक बार उन्होंने अपने पूरे बाल कटा डाले और फिर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने का निर्णय लिया।

भारत तथा भारतीय समस्याओं को सुलझाने तथा उनके प्रति अपने को समर्पित कर डालने का इससे बड़ा और क्या उदाहरण हो सकता है कि अपने पिताजी और माताजी के देहान्त का समाचार पाकर भी वे वहां नहीं गयीं। उन्हें लगा कि अब तो उनका देश भारत ही है, वहां जाकर बेकार के मोह में क्यों उलझा जाए। अपनी माँ के देहावसान के समाचार से मीरा बहन को हार्दिक दुःख पहुंचा। उन्होंने इस हृदयविदारक दुःख की गाथा बापू को एक पत्र द्वारा पहुंचाई। बापू ने अपने उत्तर में लिखा—

> तो माँ चली गयी। तुम्हारे पत्र की प्रत्येक पंक्ति में मैंने तुम्हारे भीतर दबा हुआ शोक पढ़ा। आखिर तो हम सब मानव हैं। दुख को दबाने की क्षमता उसके निवारण की पहली शर्त है। ईश्वर तुम्हें वह बल दे। (पत्र— 134) *

स्वंय को ईश्वराधीन कर मीरा बहन ने जीवन का जो मिशन स्वीकार किया उसमें बापू के निर्देशों का पालन अनिवार्य था। बापू की इच्छा थी कि मीरा बहन हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लें, अतः वे अपनी पूरी लगन और निष्ठा से इस काम में जुट गयीं। अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा है—

> मेरी हिन्दी की अच्छी प्रगति हो रही थी, परन्तु उतनी तेजी से नहीं जितनी मैं चाहती थी। इस सारी अवधि में बापू के पत्र इस बात का उल्लेख करते थे कि हिन्दी सीखने का कार्य पूरा कर लेना मेरे

---

* 'बापू के पत्र मीरा के नाम' जुलाई 1931, (तारीख नहीं है)।

लिए कितना महत्व रखता है—पहले हिन्दी और बाद में कुछ और —।

अब तक उन्होंने अपने हिन्दी सीखने के काम में काफी वृद्धि कर ली थी। उन्होंने उपनिषदों, रामायण व महाभारत जैसे ग्रन्थों का गहरा अध्ययन भी किया, तथा कुरान भी पढ़ी। ऋग्वेद को वे जेल में भी पढ़ती रहती थीं। उन्होंने स्वीकार किया कि इन सबका उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

हिन्दी में और अधिक ज्ञान प्राप्त करने के अभिप्राय से वे गांधीजी की इच्छानुसार दिल्ली में कन्या गुरुकुल (उस समय यह दरियागंज में था) में रहने के लिए आईं - यहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जी से उनकी भेंट हुई, जिनके व्यक्तित्व का उन पर काफी प्रभाव पड़ा। कुछ समय दिल्ली में बिताकर वे गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार चली गयीं। संयोग से बापू भी उन्हीं दिनों यहां आये हुए थे। तत्पश्चात श्री जमनालाल बजाज जी की राय के अनुसार भगवद्भक्ति आश्रम, रेवाड़ी में गईं, और यहां से फिर वर्धा में विनोबा जी के आश्रम में जाकर रहीं। यहां पर रह कर उन्होंने कताई-धुनाई का प्रशिक्षण पूरा किया।

वास्तव में मीरा बहन बापू के सान्निध्य में ही रहना चाहती थीं। थोड़े समय के लिये भी उनसे अलग रहना उन्हें अच्छा नहीं लगता था और बापू उन्हें अनेक बार समझाते थे, उन्हें सचेत करते थे - जैसा कि निम्न दो पत्रों से स्पष्ट होता है।

रिवाड़ी आश्रम में मीरा बहन को छोड़ने के बाद बापू ने 22.3.1927 को उन्हें लिखा—

> आज का वियोग दुःखद था, क्योंकि मैंने देखा कि मैंने तुम्हें कष्ट पहुंचाया है। फिर भी यह अनिवार्य था। मैं चाहता हूं कि तुम सम्पूर्ण बनो। मैं चाहता हूं कि तुम परिस्थितियों के अनुकूल बनने की कला सीख लो। तुम्हारा तमाम अनावश्यक संकोच दूर हो जाना चाहिए।—-घबराहट को हर हालत में फेंक दो। मेरे शरीर के प्रति आसक्ति न रखो। शरीर से अलग मेरी आत्मा सदा ही तुम्हारे साथ है और वह काया के पिंजरे में बंधी तथा हाड़-मांस की सारी मर्यादाओं से घिरी हुई दुर्बल आत्मा से अधिक मूल्यवान है। इसका अनुभव हमें तभी हो सकता है, जब हम अनासक्ति का अभ्यास करें। अब तुम्हें इसकी सिद्धि का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये —-। (पत्र—102)

24.6.1931 बापू ने अपने पत्र में लिखा—

> तुमने अपना घर, अपने प्रियजन और संसार की प्रिय से प्रिय वस्तुएं छोड़ी हैं। इसलिए नहीं कि मेरे शरीर की सेवा करो, परन्तु इसलिए कि मैं जिस काम में लगा हूं, उसमें सहायक बनो—-तुम मेरे कार्य की प्रसन्नता पूर्वक सेवा करके मेरी सच्ची सेवा करोगी ——। (पत्र—132)

बापू के आदेशों पर चलने से मीरा बहन को असीम आनंद मिलता था। बराबर उनके साथ रहने से वे बापू की जीवन चर्या के निकट हो गई थीं।

1929 में जब बापू कौसानी (अल्मोड़ा) गए तो मीरा बहन भी उनके साथ गई थीं, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी जीवनी में इन शब्दों में किया है—

> उन गर्मियों में बापू अपनी खादी-यात्रा के सिलसिले में हिमालय में गये थे और उनके कौसानी जाने से ठीक पहले मैं उनके साथ हो गयी थी। कौसानी, अल्मोड़ा जिले का वह सुन्दर स्थान है, जहां से

मनुष्य निःशब्द, पर आश्चर्यचकित होकर, पहाड़ों पर जमे शाश्वत हिम को देखता ही रहता है। बापू वहां दस दिन ठहरे और वहीं उन्होंने गीता के अपने अनुवाद (अनासक्तियोग) की भूमिका लिखी। परन्तु बापू बहुत दिन तक एक ही जगह पर कभी रह नहीं सकते थे। लाखों मनुष्यों की सेवा की भावना उन्हें देशभर में घूमते रहने के लिए विवश करती थी। अतः कौसानी में कुछ ही दिन ठहरने के पश्चात हम अनन्त खादी-यात्रा को जारी रखने के लिए मैदानों में उतर आए। (पृ० 115)

समय की गति के साथ-साथ मीरा बहन गांधीजी के इतने निकट आ गयीं कि अपनी सुख-सुविधा के प्रति वे तटस्थ रहने लगीं। अब वे गांधीजी के छोटे-बड़े सभी कामों में उनकी बेटी की तरह व्यस्त रहने लगीं। उनके मन में कभी भी यह विचार नहीं आया कि उन्हें भी आराम करना चाहिये या गांधीजी के साथ उनका नाम भी अखबारों की सुर्खियों में आना चाहिये। बापू जैसा उनसे कहते, वे वैसा ही करतीं। उन्होंने बापू की सहमति से खादी के प्रचार-प्रसार के लिए पूरे देश का भ्रमण किया। मीरा बहन जहां कहीं भी जाती थीं, पुलिस छाया की भांति उनके साथ चलती थी। उनके प्रत्येक कार्यकलाप का पुलिस के पास लेखा-जोखा होता था। उनके भाषणों को टेप किया जाता था। पर वे सदैव मौन द्रष्टा की भांति पुलिस के इस असहनीय व्यवहार को सहन करती रहती थीं।

मीरा बहन के उपरोक्त कार्यकलाप इस तथ्य कें ज्वलंत प्रमाण हैं कि उन्हें भारत की आजादी उतनी ही प्रिय थी, जितनी कि बापू आदि भारत के शीर्षस्थ व्यक्तियों को। गांधीजी के सिद्धान्तों का अक्षरशः पालन करते हुए वे भारत की आजादी के लिए जेल भी गयीं। वे गांधी दर्शन की सजीव मूर्ति थीं। अपनी इहलीला समाप्त होने तक वे गांधी के बताए हुए सिद्धान्तों को अपनाए रहीं।

उनकी इन्हीं विशेषताओं के कारण अपने 27.7.1930 के 'यंग इण्डिया' में लिखे गये लेख में गांधीजी ने मीरा बहन के बारे में लिखा है -

> ---- उन्होंने अपना भाग्य आश्रम के और मेरे साथ सदा के लिए जोड़ लिया है। उनमें भारत की सेवा की प्रबल लगन है। आश्रम को वे प्राप्त हो सकीं, यह हमारा सौभाग्य था। मैं उनसे तभी से स्नेह करता हूं जब मैं उनके कुल गोत्र के बारे में भी कुछ नहीं जानता था। —किन्तु मेरे स्नेह में कोई कमी नहीं आई। आश्रम के नियमों का पालन करने और उसके आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए आश्रम के किसी भी सदस्य ने उनसे अधिक लगन से काम नहीं किया है। (मूल अंग्रेजी से अनूदित)

स्वास्थ्य लाभ करने के उद्देश्य से बापू ने 1937 में उन्हें डलहौजी भेजा, जहां वे डा० धर्मवीर के घर पर ठहरीं। उन्हीं दिनों वहां सुभाष चन्द्र बोस भी आए हुए थे। मीरा बहन की उनसे यहां भेट हुई। वे दोनों साथ-साथ सैर के लिए जाया करते थे। मीरा बहन को "एक सुसंस्कृत बुद्धिवादी के रूप में उनके आकर्षण का आनन्द मिला"। बापू ने उन्हें अपने 19.6.1937 के पत्र में लिखा-"आशा है पहाड़ की हवा से तुम ठीक हो जाओगी।" (पत्र—287)

मीरा बहन जब सेगांव में लौटकर आईं तो उन दिनों (1938) यूरोप में जिस प्रकार की घटनाएं घट रही थीं, उनसे वे बहुत चिन्तित हुईं और उन्होंने चैकोस्लोवेकिया में नाजी आक्रमण के विरुद्ध अहिंसात्मक विरोध में शामिल होने की अपनी इच्छा व्यक्त की। लेकिन बापू ने उन्हें बादशाह खान (खान अब्दुल गफ़्फ़ार खान) के पास सीमाप्रान्त में जाने के लिए कहा। तदनुसार वे पेशावर में जाकर बादशाह खान के बड़े भाई, डा० खान साहब के घर पर ठहरीं। कुछ दिन यहां रहने के बाद बादशाह खान के गांव उतमनजई गईं तथा पेशावर, हजारा आदि

विभिन्न स्थानों में प्रवास किया। वे जहां भी गईं, उन्होंने हर जगह गांधीजी के सत्य और अहिंसा के उद्देश्यों को प्रसारित किया।

सीमाप्रान्त से वापिस लौटने पर उन्होंने देखा कि गांव में एक प्रसिद्ध पंजाबी क्रान्तिकारी पृथ्वी सिंह, जो कुछ समय से फरार थे, बापू के पास आए हुए थे। अब उन्होंने बापू के आदर्शों के अनुसार अहिंसक तरीके से जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया था। इस सम्बन्ध में मीरा बहन लिखती हैं -

> जब उनके साहसपूर्ण कार्यों की कहानी, जिसे उन्होंने लिख डाला था, अंग्रेजी भाषा ठीक कर देने के लिए मुझे दी गई, तब मेरी दिलचस्पी उनमें बहुत बढ़ गई और मैंने उनका जीवन-वृतान्त उत्सुकता से पढ़ डाला। उसमें बताया गया था कि किस प्रकार दूसरे लाहौर षड्यंत्र के मुकदमे चले, कैसे पृथ्वी सिंह को और कई साथियों को फांसी की सजा हुई, फिर फांसी की सजा माफ होने के बाद कैसे काला पानी में उनका जीवन बीता, कैसे भारत की जेलों में उन्हें बदला गया, कैसे बेड़ियों सहित चलती रेल से वे भाग निकले, कैसे बाद में पकड़े गये, फिर भाग गये और सफलतापूर्वक फरार रहे और कैसे कई वर्षों के बाद खुले रूप में बापू के पास आये। (पृ० 250)

मीरा बहन, पृथ्वी सिंह जी के व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हुईं - उन्हें लगा कि -- "आखिर कोई तो ऐसा है जिसके साथ शायद मैं स्वतन्त्र रूप में बाहर रहकर काम कर सकूं --जैसा कि बापू हमेशा मुझसे चाहते हैं"। यह भावना इतनी प्रबल हो गई कि उन्होंने बापू से इसका जिक्र किया, बापू ने कहा -- यदि तुम्हारी ऐसी भावना है तो इसका मेरे ख्याल में यह अर्थ हुआ कि तुम्हें उनसे विवाह कर लेना चाहिये -- मेरे विचार से तुम्हारी पहले की प्रतिज्ञा इसमें बाधक नहीं होनी चाहिए, जहां तक मेरा सम्बन्ध है मैं तुम्हें उससे मुक्त करता हूं --। (पृ० 251)

स्थिति ऐसी बनी कि पृथ्वी सिंह इसके लिए तैयार नहीं हुए। उन्होंने मीरा बहन को सुझाव दिया कि वे श्री जगतराम भारद्वाज से होशयारपुर जिले में जाकर मिलें। मीरा बहन जगतराम जी से मिलने गईं और उनके साथ बातचीत से उन्हें सांत्वना मिली।

यहां से वे गांधी सेवा आश्रम, ओयल, जिला ऊना, (शिवालिक हिल्स) गईं तथा पालमपुर आदि कुछ अन्य स्थानों में भी रहीं। ओयल आश्रम के संस्थापक महाशय तीरथ राम जी के अनुसार * --

> इस आश्रम में मीरा बहन ने अपने निवास के लिए एक आदर्श कुटिया बनाई थी, जिस पर उन दिनों 18 रुपये खर्च आया था। आज भी वह कुटिया आश्रम में मौजूद है। मीरा बहन आश्रम के कार्यकर्ताओं को साथ लेकर पड़ोसी गांवों में जाया करती थीं, तथा वहां के निवासियों, विशेषकर महिलाओं के लिए चर्खे पर कताई का प्रदर्शन करते हुए भजन-कीर्तन भी किया करती थीं। मध्य युग की सुप्रसिद्ध भक्त राणी मीरा का भजन, "राम रतन धन पायो मैंने, राम रतन धन पायो" उनका प्रिय भजन था जिसे वे बहुत मीठे स्वर में गाया करती थीं। इसे सुनकर गांव के स्त्री-पुरुष व बाल-वृद्ध मीरा बहन के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हो जाते थे, तथा सब उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुनते थे। अपने सन्देशों में मीरा बहन अधिकतर गांधीजी के उन आदर्शों की ओर ग्रामवासियों का ध्यान आकर्षित करती थीं, जो उन्हें स्वदेशी तथा अपने ही गांव में बने हुए उपकरणों के प्रयोग पर बल देते थे। ग्रामवासी

---

* 'प्राकृतिक जीवन' जुलाई 1991 के अंक में महाशय तीरथ राम के लेख के अनुसार तथा उनसे प्रत्यक्ष चर्चा के आधार पर।

शपथपूर्वक उनके बताए हुए मार्ग पर चलने का आश्वासन देते थे। लगभग एक वर्ष तक ओयल आश्रम में काम करने के पश्चात वे वापिस चली गयीं।*

गोलमेज सम्मेलन, लन्दन में

1931 में जब बापू गोलमेज सम्मेलन (राउण्ड टेबल कान्फ्रेन्स) में भाग लेने के लिए लन्दन गये तो साथ में मीरा बहन भी थीं। अन्य लोगों में महादेव देसाई, प्यारे लाल और देवदास गांधी थे।

लन्दन प्रवास की अवधि में, विभिन्न कार्यक्रमों के कारण बापू बहुत ही व्यस्त रहते थे। दिन में तो वे 'नाइट्सब्रिज' में लोगों से मिलते, भोजन करते और सम्मेलन की बैठकों में भाग लेते, लेकिन सोने के लिए रात को 'किंग्सले हॉल' में ही आते थे। मीरा बहन को बापू के नहाने का गरम पानी और नाश्ता किंग्सले हॉल में ही देना होता था। उनके वहां से जाने के बाद वे कमरे की सफाई करतीं, धोने के कपड़ों की गठरी बनातीं और बाजार से खाने-पीने का सामान लातीं थीं। इस प्रकार वे रोज एक हाथ में कपड़ों की गठरी और दूसरे में भोजन की टोकरी लेकर बापू के पास नाइट्सब्रिज जाती थीं। वहां जाकर वे कपड़े धोने व अन्य कार्यों में व्यस्त-रहती थीं।

लन्दन से वापसी में बापू के साथ वे पैरिस में रोमां रोलां से भी मिलीं। रोमां रोलां ने, उनके चले जाने के बाद, अपने एक अमरीकी मित्र को इस भेंट का अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन किया था —

> भारतीयों की मुलाकात के समय यदि तुम यहां होते तो कितना आनन्द रहता। वे लोग 'विला वियनेत' में पांच दिन — 5 से 11 दिसम्बर तक ठहरे। वह छोटा सा पुरुष (गांधी) जिसकी आंखों पर चश्मा लगा हुआ था और दांत जिसके नदारत थे, अपने श्वेत दुशाले में लिपटा हुआ था। परन्तु उसकी सारस के जैसी पतली टांगे खुली थीं। उनका साफ घुटा हुआ सिर, जिस पर थोड़े से रूखे बाल थे, खुला और मेंह से भीगा हुआ था। अट्टहास करते, मुंह खोले, हांफते हुए वे मेरे पास आये और एक हाथ मेरी कमर में डाल कर अपना गाल उन्होंने मेरे कन्धे पर रख दिया। उनके भूरे बालों वाले सिर का स्पर्श मेरे गाल ने अनुभव किया। कल्पना का आनन्द लेते हुए यदि कहूं, तो वह स्पर्श 'सेंट डोमिनिक' और 'सेंट फ्रांसिस' का चुम्बन ही था।
>
> इसके बाद मीरा (कुमारी स्लेड) आई, जिसकी आकृति गौरवपूर्ण थी और जिसका व्यक्तित्व 'डिमिटर' (ग्रीक लोगों की कृषिदेवी) के समान भव्य था। अन्त में तीन भारतीय आये। उनमें से एक गांधी के छोटे पुत्र देवदास थे, जिनका चेहरा गोल और प्रसन्न था। वे नम्र और सुशील हैं और उन्हें अपने नाम की भव्यता का बहुत कम भान है। अन्य दो गांधी के सचिव — अन्तवासी — थे। ये दोनों युवक हृदय और मस्तिष्क के विरल गुणों से सम्पन्न हैं। उनके नाम हैं महादेव देसाई और प्यारे लाल।**

इसके बाद रोम में मुसोलिनी से बापू, मीरा बहन और महादेव देसाई की भेंट हुई।

---

* मीरा बहन ने लिखा है कि वे यहां लगभग तीन माह रहीं। कुछ समय वे पालमपुर आदि स्थानों में भी रहीं थीं।

** सैलेक्टेड लैटर्स आफ रोमां रोलां, पृ० 167-168।

मीरा बहन जेल में

इन दिनों (1932-33) बापू का स्वतन्त्रता आन्दोलन जोरों पर था। साथ ही सरकारी दमन चक्र भी पराकाष्ठा को छू रहा था। 4 जनवरी, 1932 को बापू को गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस कार्य समिति गैर कानूनी घोषित कर दी गयी और उसके सभी सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया। मीरा बहन को लगा कि इस दमन चक्र और स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बंधित देशभर के समाचार एकत्रित करके उन्हें विदेशों में भेजा जाना चाहिए। क्योंकि भारतीय समाचार पत्रों पर कड़ा सैन्सर था, इसलिए उन्होंने बम्बई जाकर वहां से इस काम को करने का निश्चय किया। वे वहां पर साप्ताहिक रिपोर्ट तैयार करतीं और बड़ी कुशलता व सावधानी से इंग्लैण्ड, फ्रान्स और अमेरिका के मित्रों को भेजतीं। लेकिन खुफिया पुलिस ने इस कार्यवाही की किसी प्रकार जानकारी प्राप्त कर ली और नतीजा यह हुआ कि मीरा बहन को गिरफ्तार करके तीन महीने के लिये जेल में भेज दिया गया।

मीरा बहन के इस प्रकार के काम से सरकारी तन्त्र काफी परेशान रहता था। जेल से छूटने के बाद उनके बम्बई प्रवेश करने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। लेकिन मीरा बहन कब चुप बैठने वाली थीं, वे पुनः बम्बई गईं। अतः दुबारा उन्हें एक वर्ष का कारावास भुगतना पड़ा।

इंग्लैण्ड और अमेरिका की यात्रा

जेल से छूटने के बाद मीरा बहन ने फिर वर्धा आकर बापू की देखभाल का काम सम्भाल लिया। उन्हें लगा कि बापू और उनके कार्य को पश्चिम में जान-बूझ कर गलत ढंग से प्रस्तुत किया जा रहा है, इसलिए वहां की जनता के सामने सही स्थिति रखने के लिये उन्हें इंग्लैण्ड जाना चाहिए। बापू से परामर्श के बाद वे लन्दन गईं। वहां पहुंचकर अधिकतर वे मजदूर लोगों के बीच में ही ठहरीं और कई स्थानों पर अपने व्याख्यानों आदि के माध्यम से भारत में घटित हो रही घटनाओं की तथ्यपरक जानकारी प्रस्तुत की। वहां से वे अमरीका गईं और वहां 15 दिन का अपना कार्यक्रम पूरा करके फिर लन्दन आईं। यहां वे लार्ड हैलीफैक्स, जनरल स्मट्स, सर सेमुअल होर, सर विंस्टन चर्चिल, लॉयड जार्ज और क्लीमन्ट एटली से भी मिलीं। श्रीमती रूजवेल्ट आदि से वे पहले अमरीका में मिल चुकी थीं। नवम्बर 1934 में वे भारत लौट आईं और वर्धा पहुंचीं।

सेवाग्राम की स्थापना

वर्धा में सेठ जमनालाल बजाज रहते थे। वे बापू और विनोबा के बड़े भक्त थे। बापू को वे अपना पिता और विनोबा को गुरू मानते थे। उन्होंने विनोबा जी के निवास के लिए वर्धा में व्यवस्था की तथा अपना बड़ा बंगला और बीस एकड़ का बाग मगनलाल गांधी* की स्मृति में बापू को दान कर दिया। बापू ने इसे नवनिर्मित ग्रामोद्योग संघ का मुख्य केन्द्र बना दिया और उसका नाम मगनवाड़ी रखा। ग्रामोद्योग संघ का काम श्री जे० सी० कुमारप्पा ने संभाला।

बापू के यहां आने के साथ ही मीरा बहन और कुछ अन्य कार्यकर्ता साथी भी यहां आकर रहने लगे। बापू से मिलने आने वालों की भीड़ जमा होने लगी। वे संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों से आते थे। वर्धा जिला, भारत के

---

* गांधी जी के भतीजे और साबरमती आश्रम के प्रथम व्यवस्थापक, जिनका कुछ वर्ष पूर्व बिहार में ज्वर के कारण निधन हो गया था।

सबसे गरम स्थानों में से एक है। यहां का जलवायु उनके अनुकूल नहीं था, जिसके कारण बापू का और मीरा बहन का भी स्वास्थ्य बीच-बीच में बिगड़ जाता था। मीरा बहन प्रातःकाल होते ही ताजी हवा में घूमना पसन्द करती थीं, खुले मैदान में पहुंचने के लिए उन्हें सिंदी नाम के गांव से होकर गुजरना पड़ता था।

सिंदी गांव में गन्दगी का साम्राज्य था*। गांव के लोग रास्ते के दोनों ओर पाखाना करते थे। मीरा बहन ने बापू को इसकी जानकारी दी। बापू ने इस गांव की सफाई करने, पाखाना उठाकर बाल्टियों में भरकर उससे खाद बनाने के लिए मीरा बहन से ही कहा। फिर बापू के सुझाव के अनुसार वे इसी गांव में रहने लगीं। बापू की हिदायत थी कि—"सिंदी में सफाई का काम एक दिन के लिए भी रुकना नहीं चाहिये।" गांव वालों पर फिर भी इसका कुछ असर नहीं हुआ। तब बापू ने स्वयं अकेले वहां जाकर रहने का निर्णय किया। अतः मीरा बहन कुछ समय के लिए पास ही के वरोड़ा गांव गें रहने चली गयीं।

मीरा बहन को लगता था कि बापू के लिए सिंदी अथवा ऐसे ही किसी गांव में रहना अनुकूल नहीं होगा, इसलिए उनके लिए किसी उपयुक्त स्थान की तलाश करनी चाहिये। उन्होंने बापू को सुझाया कि यदि मगनवाड़ी का कोई कार्यकर्ता सिंदी गांव में रहने के लिए तैयार हो जाए, तो वे इधर-उधर जाकर किसी दूसरे गांव की तलाश करें। बापू सहमत हो गये। मीरा बहन आस-पास के गांवों में जाकर उपयुक्त स्थान तलाश करने लगीं और अन्त में वर्धा से लगभग पांच मील पूर्व में एक गांव --सेगांव --- उन्होंने पसन्द कर लिया। इस प्रकार बापू की सहमति से वे सिन्दी से सेगांव में जाकर रहने लगीं।

वास्तव में मीरा बहन सोचती थीं कि "बापू किसी दिन किसी गांव में बसेंगे और मैं उनके साथ रहकर वहां के लोगों से और उनकी समस्याओं से निबटने की उनकी पद्धति का अध्ययन करूंगी।" मीरा बहन सेगांव से भी पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थीं, लेकिन उन्होंने मगनवाड़ी से इसे अच्छा समझा। परिस्थिति ऐसी बनी कि मीरा बहन को सेगांव में ही रहना पड़ा, उनके रहने के लिए एक कुटिया भी वहां बनाई गयी। जमनालाल जी के सुझाव पर कुछ समय बाद बापू भी यहां आकर रहने लगे। मीरा बहन पास ही के वरोड़ा नामक गांव में रहने चली गयीं थीं, वहां से वे बीच-बीच में बापू से मिलने आया करती थीं। उनका स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता था, इसलिये बापू ने उन्हें सेगांव में ही बुला लिया और वे उसी कुटिया में रहीं जो आज 'बापू कुटिया' के नाम से जानी जाती है। वास्तव में वह कुटिया तो मीरा बहन के लिए ही बनाई गयी थी।

गांव में अब काफी लोग रहने के लिये आ गये थे और बापू ने अपना सारा काम उनमें बांट दिया था। इनमें प्रमुख थे --जयप्रकाश नारायण और उनकी पत्नी प्रभावती बहन, अम्तुस्सलाम, लीलावती बहन, डा० सुशीला नैयर, प्यारे लाल जी, राजकुमारी अमृतकौर आदि। इन दिनों सेगांव में खादी आदि की जो प्रवृत्तियां चल रही थीं, उनमें उनके लिए सबसे अनुकूल पशुपालन का काम था। इस प्रकार सेगांव गांधी विचारधारा के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बन गया। इस स्थान पर न केवल लोगों का आना जाना ही बढ़ा बल्कि डाक आदि का घनत्व भी बढ़ गया।

मीरा बहन ने इस बारे में लिखा है—

लगभग इसी समय सेगांव का नाम बदल कर 'सेवाग्राम' रखा गया। इस परिवर्तन का कारण

---

* विस्तृत विवरण 1935 के 'हरिजन' (अंग्रेजी) तथा 'हरिजन सेवक' (हिन्दी) में श्री महादेव देसाई के लेखों में देखा जा सकता है जो परिशिष्ट-1 में दिए गए हैं।

> यह था कि कुछ मील की दूरी पर 'शेगांव' नाम का एक और बड़ा गांव था। इससे अकसर डाक की गड़बड़ हो जाती थी। बापू ने गांव वालों की इस बारे में सलाह ली और जब नये नाम के लिए सबकी सहमति मिल गयी तो अधिकारियों से नया नाम दर्ज कर लेने के लिये कहा गया। (पृ० 249)

जब महादेव देसाई की आँखों में आँसू आए

लन्दन के बेहद राजसी वातावरण में पली यह युवती, गांधी कार्य के प्रति जिस निष्ठा और समर्पण भावना से अपने जीवन को परिवर्तित करने में सफल रहीं, इसका अन्यत्र दूसरा उदाहरण खोजने पर भी नहीं मिल सकेगा। मीरा बहन ने सिंदी ग्रामवासियों के न केवल पाखाने उठाये, बल्कि अपने प्रत्यक्ष जीवन से उन्हें 'नेक इंसान'बनने की शिक्षा भी दी। इसी सम्बन्ध में 1935 में श्री महादेव देसाई के 'हरिजन'* (अंग्रेजी) और 'हरिजन सेवक' (हिन्दी) में कुछ साप्ताहिक लेख प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत हैं 'हरिजन सेवक' के कुछ अंश—

> अक्तूबर 26, 1935 - मीरा बहन के लिए जो झोंपड़ी बन रही है, वह करीब-करीब तैयार हो गई है। वहां जाकर अपना डेरा जमाने के पहले ही उन्हें अजीब अनुभव होने लगे हैं। उनके रोगियों की सूची बढ़ती ही जाती है। लोगों के साथ उनका परिचय भी प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है। इन रोगियों में हरिजनों के अलावा सवर्ण भी हैं। मीरा बहन ने एक कठिन काम उठाया है, इसकी प्रतीति कराने वाले अनुभव उन्हें होने लगे हैं।
>
> एक दिन शाम को वे अपनी घोड़ी पर बैठकर गांव से घर की तरफ आ रहीं थीं कि रास्ते में उन्हें कुछ शराबी आदमी मिले और उन्होंने घोड़ी को रोक कर ठहरा लिया। फिर वे पियक्कड़ बेहोशी में जो मुंह में आया बकने लगे और एक ने तो मीरा बहन के चप्पल निकाल लिये। कुछ देर तो मीरा बहन उनके साथ हंसती रहीं, पर बाद में उन्होंने धीमे स्वर से कहा—'अरे, चप्पल तो दे दो भाई।' मीरा बहन की इस धीमी आवाज में दृढ़ता थी। इसलिए जिन लोगों ने रकाब में से उनके चप्पल निकाल लिये थे, उन्होंने वापिस दे दिये। दूसरे दिन उन शराबियों को उन्होंने पहचान लिया और शराब पीने के नुकसान के बारे में उन्हें अच्छी तरह समझाया, तब उन्होंने अपने किए पर शर्मिन्दा होते हुए वचन दिया कि अब वे ऐसा नही करेंगे।

इसी तारीख के अंक में श्री महादेव देसाई ने आगे लिखा है—

> 16 तारीख, बुधवार की शाम को मीरा बहन अपनी नई झोंपड़ी में रहने के लिए सिंदी गांव को रवाना हुईं। झोंपड़ी का यह हाल था कि एक तो अभी तक छप्पर पर खपरे (टाइल्स) नहीं बिछे थे, दूसरे बे-मौसम की बूंदा-बांदी से तमाम फर्श भीग गया था। अपना डेरा-डंडा लेकर मगनवाड़ी से जब वे चलीं तब बिल्कुल 'बाबाजी' (साधु) की तरह लगती थीं। सामान उनका था ही कितना, पांच-सात चीजों का एक थैला, बिस्तरे का एक छोटा-सा पुलिन्दा और एक लालटेन। उन्हें पहुंचाने मैं उनके साथ गया था। इसलिये थोड़ा सामान उनके हाथ से मैंने ले लिया। मेरी आँखों में उनका यह फकीरी बाना देखकर आँसू भर आये, जिनमें आनन्द भी था और दुख भी। आनन्द तो इस बात का था कि आखिरकार मीरा बहन

---

* महादेव भाई देसाई द्वारा लिखे गए तथा 'हरिजन सेवक' में प्रकाशित कुछ लेख परिशिष्ट-1 में दिए गए हैं।

> ने, जिन्होंने आगे-पीछे की चिन्ता छोड़कर अपना सर्वस्व होम दिया है, और जिन्हें संसारी माया हम में से किसी के भी मुकाबले में बहुत कम है, इस बेपनाह गांव में जाकर बैठने का निश्चय कर लिया, और दुख इस बात का था कि गांधीजी को छोड़कर हम में से एक भी उनकी जगह जाने को तैयार नहीं हुआ।
>
> दिसम्बर 7, 1935 - सिंदी की हालत पहले से अब अच्छी है। काम शान्ति के साथ अब ठीक चल रहा है। ---मीरा बहन अब मगनवाड़ी से करीब पांच मील दूर के गांव में बसने का प्रयत्न कर रही हैं।

मीरा बहन अब सेवाग्राम में रहने लगी थीं। उन्होंने 15 मास का मौन धारण कर रखा था और ऋग्वेद के पठन में पूरा समय लगाती थीं। कुछ मन्त्रों का अनुवाद उन्होंने स्वयं भी किया। इन अनुवादों को वे प्रतिदिन बापू को भेजती रहती थीं। बापू ने इन्हें 'एक अच्छा संग्रह' माना। समय बीतने के साथ ही वे वेदों का अधिकाधिक अध्ययन करने लगीं। वे लिखती हैं—

> जिन प्राकृतिक तत्वों ने हजारों वर्ष पूर्व वेदों को मानव-हृदय से बाहर निकाला था , उन्हीं तत्वों के माध्यम से वे मेरी आत्मा में प्रवेश कर गये – उनसे मुझे प्रेरणा और शक्ति प्राप्त होती थी। (पृ०261)

फिर जेल में

मीरा बहन ने 1942 के 'भारत छोड़ो' स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था। बापू ने उन्हें उड़ीसा भेजा था ताकि वहां जाकर पूर्वीय तट पर जापानियों के सम्भावित आक्रमण का अहिंसक असहयोग द्वारा प्रतिरोध करने के लिए वे आम लोगों को तैयार करने में सहायता कर सकें। इस समय देश में निराशा और असन्तोष का वातावरण व्याप्त था। जापान की फौजें बर्मा में आगे बढ़ती जा रही थीं और अंग्रेज सरकार भी डरी हुई सी थी। उड़ीसा में मीरा बहन कटक पहुंचकर श्री हरेकृष्ण मेहताब और अन्य साथियों से मिलीं और समुद्र तट का दौरा किया। कहीं भी अंग्रेज सेना का कोई निशान नहीं था— शायद वे भीतरी प्रदेशों में जंगल वाली पहाड़ियों में चली गई थीं। उन्होंने अंग्रेज सरकार के अधिकारियों से कहा—

> मैं चाहती हूं कि आप स्थिति पर यथार्थवादी ढंग से विचार करें। जल्दी या देर में, शायद जल्दी ही, ब्रिटिश राज जायेगा तो सही। जब जायेगा, तब देश में रिक्तता उत्पन्न होगी। अगर हम उस रिक्तता को नहीं भरते हैं, तो जापानी भरेंगे। आपके और संसार के लिए कौन सी स्थिति ज्यादा अच्छी होगी? एक स्वतन्त्र शान्ति प्रेमी भारत या सैनिकवादी जापान के हाथों में पड़ा हुआ भारत? (पृ० 270)

फिर वे दिल्ली आकर वायसराय के सचिव से मिलीं और उन्हें जापानी खतरे के प्रति आगाह किया। बापू की सलाह से ही उन्होंने यह सब काम किया। दिल्ली से वे कांग्रेस कमेटी की बैठक में उपस्थित रहने के लिए बम्बई पहुंचीं। 9 अगस्त को कांग्रेस कार्य समिति द्वारा सर्वसम्मति से 'भारत छोड़ो' (Quit-India) प्रस्ताव पास हुआ। उसी रात को दिन निकलते-निकलते बापू, महादेव देसाई और मीरा बहन को बम्बई में गिरफ्तार कर लिया गया।

इस प्रकार मीरा बहन तीसरी बार 9 अगस्त, 1942 को बापू और महादेव देसाई के साथ बम्बई में गिरफ्तार कर ली गयीं। कांग्रेस कार्य समिति के सभी सदस्यों को भी गिरफ्तार कर लिया गया। कुछ को अहमदनगर जेल में ले जाया गया, और कुछ को, जिनमें बापू, महादेव देसाई, मीरा बहन और श्रीमती सरोजनी नायडू भी थीं,

आगाखाँ महल, पूना में रखा गया। तीसरे दिन कस्तूरबा और डा० सुशीला नैयर को भी वहीं लाया गया। यहां पहुंचने के पांच दिन बाद महादेव देसाई का देहावसान हो गया। इनके आकस्मिक निधन पर कस्तूरबा ने कहा—'बापू ने अपना दाहिना हाथ और बायां हाथ खो दिया। बापू के दोनों हाथ चले गये।' तब प्यारे लाल जी को वहां भेजा गया, जिससे कि वे बापू के लेखन कार्य में मदद कर सकें। छः माह बाद बापू ने यहां 21 दिन का उपवास रखा। 22 फरवरी, 1944 को बा (श्रीमती कस्तूरबा गांधी) का निधन हो गया। मई 6, 1944 को बापू के साथ ही अन्य सभी बन्दियों को आगाखां जेल से छोड़ दिया गया।

मीरा बहन को भारत में रहते हुए अब लगभग बीस वर्ष हो रहे थे। इस अवधि में उन्होंने न केवल समर्पण की भावना को ही उजागर किया, अपितु जीवन में वह सब कुछ भी किया जिसकी बापू ने उनसे अपेक्षा की थी। भारत की उन्नति कैसे हो? यहां की विकास योजनाएं कैसी बनें? तथा इन सबके लिए वे स्वयं क्या कर सकती हैं, यह सब उन्होंने उस समय सोचना व करना प्रारम्भ कर दिया था जिस पर आज का भारत कई प्रकार की योजनाएं बना रहा है। प्रकृति का साहचर्य बना रहे, कृषि तथा पशुधन की उन्नति हो, इसके लिए मीरा बहन ने अथक परिश्रम किया। वे मानती थीं कि प्रकृति का साहचर्य, कृषि की उन्नति तथा पशुधन का विकास ही वह त्रिकोण है जो भारत व भारतवासियों को खुशहाल बना सकता है।

उत्तर भारत के हिमालय क्षेत्र में

मसूरी में प्रथम भेंट और मेरा निर्णय

उन दिनों (1945-46) मैं एक सरकारी विभाग में मेरठ में कार्यरत था। वहीं मुझे बताया गया कि बहन जी को एक निजी सहायक की आवश्यकता है, जो उन्हें उनके विचारों के अनुरूप उपलब्ध नहीं हो रहा है। यद्यपि उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से लखनऊ से कुछ कार्यकर्ताओं को उनके पास भेजा गया था, लेकिन कुछ दिन काम करने के बाद उन्हें वापिस जाना पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि मीरा बहन पूरी तरह भारतीयता की हिमायती थीं। वे नहीं चाहतीं थीं कि उनके साथी पश्चिमी ढंग के तौर-तरीके, रहन-सहन, खान-पान, पहनावा आदि अपनाएं। मैं स्वयं भी कुछ परिवर्तन चाहता था, इसलिये मैंने उनसे मिलने का तय किया।

मैदानी भाग की गर्मी से बचने की दृष्टि से वे कुछ समय के लिए मसूरी चली गयी थीं। यहां उनके लिए लन्डौर कैन्ट में एक मकान 'सी फोर्थ लॉज' (Sea Forth Lodge) मिल गया था। मसूरी में मैं उनके साथ 6-7 दिन रहा। यहां रहते हुए उनका सर्वसाधारण के प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार, गांधीजी के प्रति उनकी असीम श्रद्धा, भारतीय संस्कृति का उनका विस्तृत ज्ञान और अटूट आस्था देख-सुनकर मेरे मन पर उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी। प्रतिदिन उनके साथ कुछ न कुछ विचार-विमर्श चलता रहता। चरखे पर कताई करना, नित्य प्रार्थना करना और गांधी साहित्य का अध्ययन करना, उनका नित्य का कार्यक्रम था। उत्तर प्रदेश सरकार* ने उन्हें 'अवैतनिक विशेष सलाहकार' (Honorary Special Adviser) नियुक्त किया था। उस पद से सम्बंधित पत्र-व्यवहार आदि भी यहीं से हो रहा था।

इस अल्प अवधि में ही उन्हें लगा कि जिस प्रकार के व्यक्ति की उन्हें इतने अर्से से तलाश थी, वह संयोग से उन्हें मिल गया है। उनके साथ रह कर मुझे क्या-क्या और किस प्रकार के काम करने होंगे, इत्यादि सब बातें वे मुझे भली प्रकार समझाती थीं। इस प्रकार हम दोनों की आत्मीयता बहन-भाई की तरह पक्की हुई सी लगने लगी और धीरे-धीरे मैं उनमें अपनी मां का प्रतिबिम्ब देखने लगा था। यद्यपि उन्हें सब 'बहिनज़ी' ही सम्बोधित करते थे।

इन दिनों हमारे साथ एक घटना घटी - मसूरी में लन्डौर कैन्ट के जिस हिस्से में हम रहते थे, उसके ऊपर एक दिन शाम को मैं अपने मित्र, जयप्रकाश शर्मा के साथ घूमने निकल गया। अंग्रेजी राज के दिन थे। हिन्दुस्तानियों को वहां तक जाने की इजाजत नहीं थी, यह हम नहीं जानते थे। अचानक एक मकान से एक अंग्रेज महाशय अपनी बन्दूक लेकर आये और भद्दी-भद्दी गालियों की बौछार करने लगे। हमें बुरा भी लगा और गुस्सा भी आया। काफी

---

* उन दिनों इसका नाम 'संयुक्त प्रान्त' (United Provinces) था।

गरमा-गरमी होते देखकर अन्दर से उनकी पत्नी आई और उन्हें समझाया। हमने उन्हें नम्रतापूर्वक बताया कि भाई, अब अंग्रेजी राज के थोड़े ही दिन बाकी रह गये हैं—आपको अपने देश वापिस जाना ही होगा —इसलिये आपका इस तरह नाराज होना अनुचित है। खैर, उनकी पत्नी समझदार निकलीं और मामला सुलझ गया।

मसूरी से मेरे वापिस जाने का समय आ गया था। अतः तय हुआ कि मैं जल्दी ही बहिन जी के पास स्थाई रूप से आ जाऊं। परिवार की कुछ समस्या थी, लेकिन वह भी हल हो गई, और इस प्रकार मैं मसूरी में आकर उनके पास रहने लगा। यहां रहते हुए बहिन जी के स्वास्थ्य में कुछ सुधार हुआ, तथा मसूरी में कुछ दिन और रहने के बाद हम फिर किसान आश्रम में लौट आए।

किसान आश्रम

1944 में बापू के साथ आगाखां महल, पूना की जेल से छूटने के बाद बहन जी की यह प्रबल इच्छा थी कि वे उत्तर भारत में एक छोटा सा सेवा केन्द्र स्थापित कर वहां पर स्वतन्त्र रूप से कार्य करें। यह निर्णय उन्होंने बापू से विचार-विमर्श करने के बाद ही किया था। बहन जी की यह भी इच्छा थी कि यह केन्द्र किसी ऐसे स्थान पर स्थापित किया जाए, जहां से हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के उन्हें दर्शन होते रहें, साथ ही वह स्थान हिमालय से अधिक दूरी पर भी न हो। मीरा बहन के अनुसार —

> यद्यपि मैं खेत और पशु रखना चाहती थी, फिर भी खादी कार्य की पृष्ठभूमि और यह ज्ञान कि वह कार्य बापू को सबसे ज्यादा पसन्द है, मुझे ऐसा क्षेत्र ढूंढ़ने की प्रेरणा दे रहे थे, जहां खादी का विकास किया जा सके, साथ ही, हिमालय मुझे बुला रहा था। परन्तु वहां कपास पैदा नहीं होती और मेरी कल्पना के अनुसार खादी कार्य वहां सम्भव नहीं होगा। इसलिये, मैंने बीच का मार्ग ढूंढ़ लिया। मुझे कताई-बुनाई के ऐसे क्षेत्र में रहना चाहिए, जहां से हिमालय की बर्फ दिखाई देती हो। (पृ० 303)

काफी खोज-बीन और अनेक लोगों से बातचीत करने के बाद, अन्त में रुड़की तथा हरिद्वार के बीच, मूलदासपुर गांव के प्रमुख, श्री अमीर सिंह ने सेवा केन्द्र के लिये 10 एकड़ भूमि देना स्वीकार कर लिया। उन दिनों अंग्रेजी राज होने के कारण मीरा बहन जैसी गांधीवादी व्यक्ति को जमीन देना तो दूर रहा, अधिकांश लोग उनसे मिलने में भी हिचकिचाते थे। सी० आई० डी० विभाग का एक गुप्तचर सदैव उनकी गतिविधियों पर नजर रखता था। सामने तो वह कभी आता नहीं था, परन्तु सब जानते थे कि एक गुप्तचर आस-पास के क्षेत्र में ही कहीं पर है, जो बहनजी की गतिविधियों पर, उनसे मिलने आने वालों पर, तथा उनके सहायकों पर नजर रखे हुए है। परन्तु श्री अमीर सिंह ने अंग्रेजी हुकूमत की वक्र दृष्टि की चिन्ता नहीं की और मीरा बहन को उनकी इच्छानुसार वहां आश्रम स्थापित करने के लिये यह जमीन उन्हें दे दी। बहन जी ने इस जमीन पर 'किसान आश्रम' की स्थापना की।

सेवा कार्य के अन्तर्गत बहनजी की रुचि ग्राम विकास के कार्यक्रमों में अधिक थी। पशु पालन जैसे विकास कार्यक्रम उनको अधिक प्रिय थे। यहां इस क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमानों की मिली-जुली आबादी थी, जिसमें पांच मील के घेरे में लगभग 200 जुलाहे (अधिकतर मुसलमान) रहते थे। इसी कारण उन्हें यह स्थान रुचिकर लगा, क्योंकि इन जुलाहे परिवारों के माध्यम से उन्हें खादी के विकास कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की अच्छी सम्भावनायें दिखाई दीं। सौभाग्य से खादी के कार्य से सम्बद्ध दो कार्यकर्ता - वजीर चन्द नड्डा और राम नरेश सिंह आसानी से मिल गए। धर्मपाल तो प्रारम्भ से ही बहन जी के साथ थे, तथा हर एक काम में उनकी सहायता करते थे। एक युवक

वैद्य सोमदत्त की सेवा भी उन्हें प्राप्त हो गई। यह सब बहनजी के मिलनसार स्वभाव का ही परिणाम था। मूलदासपुर गांव तथा इससे लगे हुए अन्य गांवों के सभी निवासियों ने उन्हें भरपूर सहयोग दिया।

इस स्थान पर निवास के लिए तीन कच्ची झोंपड़ियां तथा गायों के लिए एक गौशाला भी बनाई गई। एक झोंपड़ी बापू के लिए निश्चित हुई। वे मानती थीं कि बापू कभी इधर अवश्य आयेंगे, किन्तु बापू परिस्थितिवश वहां कभी भी नहीं आ सके।

मीरा बहन ने इस केन्द्र का नाम 'किसान आश्रम' रखने का निश्चय किया। बापू से इस नाम के बारे में जब सलाह मांगी, तो बापू ने अपने 27 फरवरी, 1945 के पत्र* में लिखा—

> किसान आश्रम नाम रख सकती हो, परन्तु यह रखो तो मजदूर आश्रम या वैसा ही क्यों नहीं? किसान तो लखपती भी हो सकता है, लेकिन एक मजदूर, एक श्रमिक लखपती नहीं हो सकता। परन्तु तुम्हें किसान आश्रम नाम ज्यादा पसन्द है, तो मुझे आपत्ति नहीं। (पत्र —365)

इस प्रकार 'किसान आश्रम' नाम प्रसिद्ध हो गया।

किसान आश्रम का धीरे-धीरे विकास होता रहा। पशुओं की संख्या भी बढ़ने लगी। इनमें एक छोटा-सा टट्टू भी था, जिसका नाम उन्होंने 'तुलसी'**रखा था। इस पर सवार होकर वे आस-पास के गांवों में लोगों से मिलने और उनका दुख-दर्द जानने के लिए जाया करती थीं। खादी वस्त्र का उत्पादन भी शुरू हो गया था। बिक्री भी सन्तोषजनक गति से बढ़ रही थी। इसी बीच गुजरात के एक युवक, रामजी भाई, कार्यकताओं की टोली में आ मिले। वे गांव के बच्चों को लिखना-पढ़ना सिखाया करते थे और आश्रम की सभी प्रवृत्तियों में भरपूर सहयोग देते थे। आयुर्वेदिक दवाखाने में मरीजों की संख्या भी बढ़ने लगी थी — मौसम के अनुरूप अब 40 से 80 रोगी नित्य आ जाते थे। मेरठ जिले के श्री तेज सिंह, बहिनजी के विचारों से प्रभावित थे - वे भी आश्रम की सभी प्रवृत्तियों में अपना पूरा सहयोग देते थे। इस प्रकार किसान आश्रम रुड़की तथा हरिद्वार के बीच एक ऐसा स्थल बन गया, जो श्रम तथा सेवा की उपलब्धियों का जीवन्त प्रमाण था।

आश्रम जीवन

बहिनजी ने किसान आश्रम की दिनचर्या बापू के आदर्शों के अनुकूल ही रखी। प्रतिदिन सुबह-शाम सामूहिक प्रार्थना होती थी। सांयकाल की प्रार्थना के बाद आश्रमवासी दिन भर के कार्य का व्योरा देते थे तथा साथ ही अगले दिन के कार्यक्रम निर्धारित किये जाते थे। इसी समय बहनजी बापू के विचारों और उनके जीवन से सम्बंधित घटनाओं को सुनाया करती थीं। रामायण तथा अन्य धार्मिक पुस्तकों का पाठ भी होता था। उन दिनों बिजली तो थी नहीं, अतः आश्रम के कामकाज के लिए 10-12 लालटेन थीं, जिन्हें बहनजी प्रतिदिन अपने हाथों से साफ करतीं, उनमें मिट्टी का तेल डालतीं, फिर एक-एक लालटेन प्रत्येक व्यक्ति अपने कमरे में ले जाता और दूसरे दिन सुबह होने पर वे लालटेनें बहनजी के कमरे के बरामदे में सफाई के लिए रख दी जातीं। आश्रमवासियों का

---

* उनकी अंग्रेजी और हिन्दी, दोनों पुस्तकों (आत्मकथा) में इस पत्र की तारीख 27.2.1944 है। लेकिन 'बापू के पत्र मीरा के नाम' (क्रमांक 365 , पृष्ठ 376) में 27.2.1945 है, जो ठीक है।

** सेवाग्राम में उनके पास जो घोड़ा था उसका नाम उन्होंने 'सजीला' रखा था। यहां 'तुलसी' और पशुलोक में 'माना' था।

भोजन सामूहिक ढंग से बनता था। एक बड़े कुकर में दाल-सब्जी बनती थी, गाय का दूध सभी को उपलब्ध होता था। अन्य कार्यों के अतिरिक्त हम सबको गौशाला में अथवा अन्य स्थानों में भी सफाई का काम करना पड़ता था। आटा पीसने के लिए चक्की चलाना, गोबर उठाकर उसका खाद (कम्पोस्ट) बनाना, रसोई के बर्तन साफ करना इत्यादि, आश्रम की दिनचर्या के अंग थे।

प्रारम्भ में बहनजी को यह पसन्द नहीं था कि कार्यकर्ता अपने परिवार सहित वहां रहें। उनकी धारणा थी कि आश्रम के वातावरण को आश्रम जैसा रखने के लिए केवल कार्यकर्ता ही वहां रहें—उनके बाल-बच्चे नहीं। परन्तु धीरे-धीरे उन्हें लगा कि इन कार्यकर्ताओं को अपने बाल-बच्चों से दूर क्यों रखा जाए, अतः इस विषय पर उन्होंने गांधीजी को लिखा, और उनकी राय जाननी चाही। अपने तारीख 4.12.46 के पत्र में गांधीजी ने सूचित किया —

> आश्रम की कल्पना बिल्कुल तुम्हारी ही मौलिक कल्पना है। अगर वर्तमान स्थान तुम्हारे लिये अनुकूल नहीं है, तो तुम्हें उसका जो उपयोग हो सकता है, कर लेना चाहिये। मैं खुद तो यह कहूंगा कि अपने सिवाय दूसरों के लिये तुम आश्रम-जीवन का विचार छोड़ दो। फिर तुम्हें ऐंठन महसूस नहीं होगी और तुम विश्व के समान ऊंची और विशाल बन सकती हो। तुम्हें मालूम है कि मैंने साबरमती में आश्रम तोड़ दिया और वह एक हरिजन संस्था बन गई। मूल तो सत्याग्रह आश्रम था। वह सदा के लिये मिट गया। इसलिए अपनी कल्पना का आश्रम और किसी को सौंप देने का विचार कभी न करो। वर्तमान स्थान में विवाहितों या कुंवारों को, या जो भी तुम्हारे शुरू किये हुए कामों को अच्छी तरह करें, उन्हीं को रख लो। (पत्र —378)

बापू का पत्र मिलने के बाद बहनजी ने कार्यकर्ताओं को अपने बाल-बच्चों को साथ में रखने की अनुमति दे दी और इस प्रकार धीरे-धीरे कार्यकर्ताओं के परिवार भी वहां रहने लगे। उन्हीं के शब्दों में—

> इस पत्र से मैंने स्पष्ट निश्चय कर लिया कि किसान आश्रम को ब्रह्मचारी आश्रम रखने का विचार छोड़ दिया जाए और वहां विवाहित पुरुषों को परिवार सहित रखा जाए। बापू की यह सलाह कि अपनी कल्पना का आश्रम मुझे अपने तक ही सीमित रखना चाहिए, मैंने पूरी तरह मान ली और चूंकि मैं उस समय ऋषिकेश के नजदीक के सुरक्षित जंगलों* में पशु-विकास की एक योजना सरकार के लिए बना रही थी, इसलिए मैंने चरागाहों के बीच गंगा तट पर एक छोटी-सी कुटिया बनाकर उसे अपना आश्रम बनाने का फैसला कर लिया। (पत्र—378 का फुट नोट)

सहकर्मियों के प्रति मीरा बहन का स्नेह

बहनजी कार्यकर्ताओं से व्यक्तिगत रूप में मिलतीं और उनके परिवार-जनों का हाल-चाल पूछती रहती थीं। वे सभी को खादी पहनने के लिए उत्साहित करती थीं। विदेशी तौर-तरीकों (कोट-पैन्ट-टाइ) का पहनावा उन्हें पसन्द नहीं था। वे रहन-सहन की सरलता और विचारों की उच्चता (simple living and high thinking) को जीवन का आदर्श मानती थीं।

---

* इसका संकेत 'पशुलोक' से है, जो बाद में बना।

एक बार हमारे एक साथी बीमार पड़ गये, उन्हें रुड़की के सैनिक अस्पताल में कुछ दिनों के लिए रखा गया। बहनजी स्वयं वहां जाकर उनका हालचाल पूछतीं, डाक्टर से मिलतीं और हर तरह से उनकी देख-भाल के प्रति सावधानी बरतने का प्रबन्ध करतीं। रोगी की सेवा किस प्रकार की जाती है, इसका वे स्वयं एक उदाहरण थीं और हम सब साथियों को भी वे इस विषय में प्रशिक्षण देती थीं। हर एक काम अपने नियमित समय पर किया जाए, इसका वे विशेष ध्यान रखती थीं।

उन दिनों रुड़की तथा हरिद्वार के बीच दौलतपुर गांव तक ही पक्की सड़क थी, वहां से आगे आश्रम तक लगभग दो किलोमीटर का कच्चा रास्ता था, जिसके दोनों ओर घनी कांटेदार झाड़ियां थीं तथा ऊंचा फूंस बहुतायत में था। एक दिन मुझे रुड़की से लौटते हुए रात हो गई और अन्धेरे में चलते हुए अचानक मेरे पैर में एक कांटा चुभ गया, जिसके कारण बड़ी कठिनाई से मैं आश्रम में अपनी झोंपड़ी तक पहुंच पाया। दूसरे दिन तकलीफ और बढ़ गई, यहां तक कि चलने-फिरने से भी मजबूर हो गया। ऐसी स्थिति में सुबह दूर गोपुरी संडास (शौचालय) में जाने के बजाए मैं अपनी झोंपड़ी के पास वाले ईख के खेत में ही किसी प्रकार लंगड़ाता हुआ शौच हो आया। बाद में बहनजी को जब इसका पता चला तो वे चुपचाप एक खुरपी लेकर उस खेत में गईं और उस शौच को मिट्टी से ढकने के बाद मेरे पास आकर बैठ गईं। पहले तो मुझे उन्होंने सफाई का महत्व समझाया, फिर मल-मूत्र और गोबर से खाद बनाने की प्रक्रिया व उस खाद के लाभ बताए, साथ ही मुझे तकलीफ में देखकर वे चिन्तित भी थीं। जब उन्होंने देखा कि मुझे किसी भी प्रकार आराम नहीं मिल रहा है, तो उन्होंने एक मित्र की कार मंगाई और मुझे हरिद्वार के अस्पताल में ले गईं। वहां मेरे पांव से लगभग एक इंच लम्बा कांटा निकाला गया, तब कहीं मुझे आराम मिला। यह उनकी आत्मीयता का एक उदाहरण है, और ऐसे अनेकों उदाहरण उनके जीवन से जुड़े हुए हैं।

मुझे उनका सदैव मातृवत प्यार व स्नेह मिला, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकूंगा। यदि कभी मुझे पत्र लिखने में देर हो जाती तो वे स्वयं लिखतीं और सभी का कुशल समाचार भिजवाने के लिए प्रेरित करतीं। अपने 15.2.1961 के पत्र में उन्होंने लिखा था—

> तुम्हें कभी ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि मैं तुमसे दूर हूं। हिमालय में रहते हुए मैं तुमसे जितना दूर थी, उसे देखते हुए यहां* मैं तुम्हारे ज्यादा नजदीक हूं, क्योंकि आज के इस युग में डाक की इतनी सुविधा हो गई है ....।

इसी पत्र में उन्होंने लिखा था—

> जीवन के इन अन्तिम दिनों को मैं कुछ लिखने और चिन्तन-मनन में लगाना चाहती हूं।

उनके कम्पोस्ट खाद बनाने के तरीके को भारत सरकार के कृषि मन्त्रालय ने मान्यता दी थी और इसी विषय पर मन्त्रालय (जब श्री के०एम० मुंशी कृषि मन्त्री थे) की ओर से एक पुस्तिका भी प्रकाशित हुई थी। मीरा बहन के कम्पोस्ट खाद बनाने के तरीके के बारे में 'हरिजन' में कई लेख प्रकाशित हुए हैं।**

---

* Sittenderferstrasse 16, Gaaden bei/Modling N.O. AUSTRIA

** हरिजन 10.3.1946 और 23.11.1947।

सैनिकों ने सड़क बनाई

ऊपर मैंने दौलतपुर से आश्रम तक की कच्ची सड़क के बारे में कहा है। बहनजी की एक विदेशी महिला मित्र, एक ब्रिटिश सैनिक अफसर की पत्नी, श्रीमती ड्यूक् एक दिन रुड़की से ब्रिगेडियर विलियम्स, जो बाद में जनरल विलियम्स बने, को आश्रम में ले आई थीं। बातचीत में दौलतपुर से आश्रम तक की उस कच्ची सड़क के बारे में भी चर्चा हुई और अन्त में तय हुआ कि इस सड़क को ब्रिगेडियर विलियम्स अपने विभाग के कर्मचारियों द्वारा बनवा देंगे। आश्रम से कोई दो मील पर सेना का एक 'सैपर्स एण्ड माइनर्स' (Sappers & Miners) प्रशिक्षण केन्द्र था। अतः यह निर्णय हुआ कि वे अपने आदमियों को भेजेंगे, ताकि वे इस सड़क का रेखांकन आदि कर लें, और काम शुरू करा दें। जब गांव वालों को इसका भान हुआ तो वे सब बहुत खुश हुए और इस निर्माण कार्य में उन्होंने अपना पूरा सहयोग देने का वचन दिया। कुछ ही दिनों में दो बड़े बुलडोजर और जमीन को समतल बनाने वाले यन्त्र वहां आ गये। मशीनों के वहां पहुंचने से गांव वालों में उत्साह पैदा हो गया और उन्होंने बहनजी को पूरा अधिकार दिया कि वे जैसा ठीक समझें, सड़क बनवा दें। बहनजी अपने टट्टू - 'तुलसी' पर सवार होकर आगे-आगे चलीं और उनके पीछे सड़क की हदबन्दी करने वाले चले। इस प्रकार बिना किसी बहस या झगड़े के सड़क की हदबन्दी कर दी गई और कुछ ही दिनों में एक मील से कुछ अधिक लम्बी कच्ची सड़क बन कर तैयार हो गयी।

विशेष अवैतनिक सलाहकार

1945-46 में सरकार की ओर से 'अधिक अन्न उपजाओ' (Grow More Food) मुहिम शुरू हुई। बहनजी का खेती-पशुपालन आदि से सम्बंधित ज्ञान उच्च कोटि का तो था ही, साथ ही केन्द्र में पं० नेहरू, राजेन्द्र बाबू, राजा जी, सरदार पटेल, राजकुमारी अमृतकौर, विजय लक्ष्मी पंडित, आर० के० पाटिल आदि से उनके घनिष्ट व नजदीकी सम्बन्ध भी थे। उसी प्रकार उत्तर प्रदेश में पं० गोविन्द बल्लभ पन्त, डा० काटजू, केशव देव मालवीय, शेरवानी जी, सी०बी० गुप्ता आदि उनके गुणों से परिचित थे। बहनजी न केवल 'अधिक अन्न उपजाओ' के कार्यक्रम में सक्रिय थीं अपितु वे भूमिहीनों के लिये भी चिन्तित थीं। आश्रम के पास उपजाऊ जमीन का एक बड़ा टुकड़ा सेना वालों ने संकट काल में हवाई जहाजों के उतरने व उड़ान भरने के स्थान (Air strip) के रूप में ले रखा था। वे उसे ग्रामीणों को वापिस दिलाना चाहती थीं। इसी सम्बन्ध में वे कुछ सरकारी अधिकारियों से मिलने के लिए दिल्ली व लखनऊ गईं। वे बापू से भी मिलीं और इस बारे में उनसे चर्चा की। बापू ने उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री, पं० गोविन्द बल्लभ पन्त से बात की। नतीजा यह हुआ कि नई शुरू की गई 'अधिक अन्न उपजाओ' मुहिम के सिलसिले में उन्हें अप्रैल 1946 से उत्तर प्रदेश सरकार का 'अवैतनिक विशेष सलाहकार' (Honorary Special Adviser) नियुक्त कर दिया गया। अब उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से उनकी सहायतार्थ कुछ कार्यकर्ता एवं अन्य सुविधायें भी प्राप्त हो गई थीं।

अपना नया काम सम्भालने के लिए लखनऊ जाकर वे कृषि मन्त्री व अन्य अधिकारियों से मिलीं। सरकारी तन्त्र में कार्यरत अधिकारी व अन्य सहायकों के कार्य करने के तौर तरीकों आदि को देखकर उन्हें अच्छा नहीं लगा, क्योंकि अब तक के अपने जीवन में उन्होंने यह सब नहीं देखा था। उन्होंने इस बारे में लिखा है—

> वहां मुझे सरकारी तन्त्र के काम करने के ढंग से भी परिचित होना था। यह मेरे लिए सर्वथा

> नई दुनिया थी। अब तक मैं भारत के भारतीयों में रही थी, परन्तु अब मैं अंग्रेज बने हुए नौकरशाही के सीधे सम्पर्क में आई। सारे अफसर और क्लर्क यूरोपियन या अर्ध-यूरोपियन लिबास में थे और एक-दूसरे को मिस्टर* कहते थे। (पृ० 310)

उत्तर प्रदेश सरकार का सलाहकार पद ग्रहण करने के बाद बहनजी को कई बार वार्षिक बजट आदि तय करने के लिए लखनऊ-दिल्ली जाना पड़ता था। मुख्यतया पशुपालन और कृषि विभागों से उनका सम्बन्ध रहता था। इन्हीं विभागों से सम्बंधित कार्यकर्ता (इंस्पेक्टर, सुपरिन्टेण्डेन्ट आदि) उनके पास आया करते थे। कार्यालय, सरकारी तथा व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार, हिसाब आदि मैं ही देखा करता था।

यहां पर यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि बहनजी ने सरकारी तन्त्र का भार तो स्वीकार कर लिया, लेकिन वह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं था, ऐसा मेरा मानना है।

बिछपुरी गांव का उद्धार

किसान आश्रम में रहने की अवधि में एक दिन एक वृद्ध हरिजन व्यक्ति उनसे मिलने आया। वह पास ही के बिछपुरी गांव का निवासी था। उसने बताया कि "पत्थरी राउ नदी के द्वारा लाई गई गाद (silt) के कारण गांव वालों के प्रायः सभी घर, जो मिट्टी के बने हुए हैं, नदी की चपेट में आ रहे हैं और यदि इस दिशा में कोई ठोस उपाय नहीं किए गए तो जल्दी ही नदी की मिट्टी से सब झोपड़ियां बर्बाद हो जायेंगी। हमारी बात कोई सुनता नहीं है --हम कहां जायें? हम लोग अब आपके पास अपना दुख लेकर आए हैं।"

उस गरीब बूढ़े आदमी की बातें सुनकर मीरा बहन खुद उस गांव में गईं और उनकी इस दयनीय हालत को देखकर उन्हें बहुत दुख पहुंचा। जो कुछ उस आदमी ने बताया था, सब सही था।

वापिस आकर, मीरा बहन ने इस गांव की दुखद घटना के बारे में एक लेख** लिख कर बापू को भेजा।

इस लेख को पढ़कर किसी सज्जन पुरुष ने बापू के माध्यम से मीरा बहन को रुपये 5000/- भिजवा दिये। धन प्राप्त होने पर उन्होंने उस पूरे गांव को पड़ोस की ही ऊंची जमीन पर बसाने की व्यवस्था कर दी, और इस धन में से जो थोड़ी राशि शेष रह गई थी, उससे पड़ोस के गांव में हरिजनों के पीने के पानी के लिए हैंडपम्प लगवा दिये।

पशुलोक आश्रम

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, बहनजी की हिमालय के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे सदैव उसके निकट रहकर उसकी नैसर्गिक छटा का आनन्द लेना चाहती थीं। उनका हृदय सदैव ही पर्वतवासियों तथा पशु-पक्षियों के बीच में रहने के लिए लालायित रहता था। वास्तव में मीरा बहन पशु, मानव और प्रकृति के सामंजस्य में किसी एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण करना चाहती थीं, जिसका गांधीजी के विचारों के अनुरूप सर्वांगीण विकास किया जा सके।

---

* देखें 'सभ्यता का नाश' --यह 'हरिजन सेवक' के तारीख 29 सितम्बर 1946 के अंक में प्रकाशित हुआ है।

**'हरिजन' के 3 मार्च, 46 के अंक में 'Stepping off the last rung' शीर्षक से छपा। हिन्दी में यही लेख 'हरिजन सेवक' में 'मौत की आखिरी सीढ़ी' शीर्षक से 10 मार्च, 1946 के अंक में प्रकाशित हुआ।

मीरा बहन को प्राकृतिक जगह चुनने की नैसर्गिक देन थी। पशुपालन सम्बन्धी उनका ज्ञान उच्चकोटि का था, जो बचपन से ही सम्भवतः बीज रूप में उनके भीतर था और अब पल्लवित होकर बाहर आ रहा था। उन्हीं के शब्दों में –

इन बड़े जंगलों के अनन्य सौन्दर्य और पशु-पक्षियों की विपुलता ने मेरे भीतर नई शक्ति जगा दी। कृत्रिमता से मुक्त निसर्ग में ऐसी विशाल प्राण-शक्ति रहती है, जो उसके साथ रहने वालों में अपने आप संचारित होती है, और मैं सच्चे जंगल में रहने को पहली ही बार आई थी। यहां चीते, तेन्दुए, साम्भर गाय, चितकबरे हिरन, जंगली सूअर, गीदड़, लोमड़ी और तरह-तरह के छोटे जानवर तो थे ही, लेकिन कभी-कभी जंगली हाथियों के समूह भी आते रहते थे। पक्षी भी उतने ही बहुसंख्यक थे – मोर और गिद्ध से लेकर नन्हीं-नन्हीं चिड़ियों तक सभी थे, और सब प्रकार के जलपक्षी भी थे। (पृ० 323)

बहुआयामी व्यक्तित्व की धनी होने के कारण किसान आश्रम में उनके करने के लिए तो काम की गुंजाइश काफी थी, किन्तु उन्हें लगा कि वह सीमित व्यक्तिगत संसाधनों से नहीं चलाया जा सकेगा। 1944 में जेल से छूटने के बाद स्वतन्त्र रूप से काम करने की इच्छा को देखते हुए बापू ने उन्हें कुछ धन की व्यवस्था करा दी थी, ताकि उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई न उठानी पड़े। उसी धन से वे किसान आश्रम की विभिन्न प्रवृत्तियों को चला रही थीं। लेकिन अब परिस्थिति बदल चुकी थी। इधर केंद्रीय और उत्तर प्रदेश की सरकारें भी चाहती थीं कि वे कुछ नई योजनाएं हाथ में लें। इस पृष्ठभूमि में उन्होंने किसान आश्रम को उत्तर प्रेदश सरकार के ग्राम सुधार विभाग को सौंप देने का तय कर लिया। साथ ही उन्होंने उत्तर प्रदेश और केन्द्रीय सरकारों को अपनी नई योजना, जो कि पशुधन की नस्ल को सुधारने से सम्बंधित थी, से अवगत कराया। उनका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार करते हुए इस योजना के लिए सरकार की ओर से उन्हें ऋषिकेश के पास वन विभाग की जमीन का काफी बड़ा हिस्सा उनकी पसन्द के अनुसार देना स्वीकृत कर लिया गया।

इस योजना के अन्तर्गत 1948 में वन विभाग ने उन्हें 2146 एकड़ जमीन लीज पर दे दी। उस भूमि में घना जंगल था - मुख्य रूप में पंपास और दूसरी 20-25 फीट तक ऊंची उगने वाली घास उसमें सर्वत्र देखी जा सकती थी। इस जंगल में पैदल जा पाना दुष्कर ही नहीं, अपितु असम्भव था। अब यह समस्या सामने आई कि कहां से और किस प्रकार काम शुरू किया जाये। मकान बनाना भी आसान नहीं था, क्योंकि वहां मच्छरों के कारण मलेरिया बुखार इतना भयंकर रूप धारण करता था कि महीनों उससे छुटकारा नहीं मिल पाता था। मीरा बहन को और इन पंक्तियों के लेखक को वहां बसने के बाद इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ। ऐसा माना जाता था कि इस जंगल में पहले तो मलेरिया बुखार ही किसी को जिन्दा नहीं छोड़ेगा और यदि कोई मलेरिया से बच भी गया तो जंगली जानवरों से बच पाना कठिन था। यह क्षेत्र, जंगली हाथियों, चीतों, तेन्दुओं आदि, तरह-तरह के जानवरों से भरा पड़ा था। इन सब विपदाओं के होते हुए भी मीरा बहन तो इसी जंगल को मंगल बनाने का स्वप्न देख रही थीं। वे बाबा कालीकमली वाले क्षेत्र की धर्मशाला, जो गंगा के किनारे पर राम नगर में थी, में रहने लगीं। एक दूसरी धर्मशाला में मुझे भी रहने का स्थान मिल गया। कुछ कार्यकर्ता ऋषिकेश शहर से आते-जाते थे। इस प्रकार उत्तर प्रदेश सरकार के 'अवैतनिक सलाहकार' के कार्यालय का काम वहीं से संचालित होने लगा।

समय का सदुपयोग करते हुए मीरा बहन वन विभाग के अधिकारियों के साथ उनके हाथी पर बैठकर

सर्वेक्षण का काम करने लगीं। सर्वेक्षण की समाप्ति पर अपनी योजना को कार्यरूप देने के लिए उन्होंने वीरभद्र खण्ड (Virbhadra Block) को उपयुक्त मान कर चुन लिया। इसी बीच महाराजा टिहरी गढ़वाल की ओर से एक हथिनी 'रामप्यारी' भी उन्हें मिल गई, जिस पर बैठ कर हम इस जंगल में आया-जाया करते थे। उन्होंने इस हथिनी के लिए चमड़े का एक हौदा (harness) भी बनवाया था, ताकि इसे कृषि के काम में हल चलाने आदि में इस्तेमाल किया जा सके। यह एक नये प्रकार का प्रयोग (experiment) था। वे प्रतिदिन कई-कई घन्टे उस जंगल में जाकर यह तय करती थीं कि कहां से रास्ता निकालना सम्भव हो सकेगा, कहां से घास-फूँस का कटान किया जाए, ताकि कुछ कार्यकर्ताओं आदि के रहने का प्रबन्ध किया जा सके। मामूली हल से इस जंगल का घास-फूँस निकालना सम्भव नहीं था, अतः बुलडोज़र, ट्रेक्टर आदि प्रयोग में लाये जाते थे। यहां की मिट्टी इतनी उर्वरा थी कि साफ की गई जमीन पर वर्षा होते ही फिर से घास-फूँस उग जाया करती थी।

भारत को आजादी मिलने के पश्चात अंग्रेज अपने देश को जाने लगे थे। ऐसे ही सेना के एक उच्च अधिकारी जो सहारनपुर में रहते थे, जाने से पूर्व अपनी अंग्रेजी नस्ल की घोड़ी (mare) मीरा बहन को भेंट स्वरूप दे गये थे। उस घोड़ी का नाम उन्होंने 'द्रौपदी' रखा। वह बहुत ही सुन्दर व चुस्त घोड़ी थी। कुछ समय बाद उसके लिए एक तांगा भी बनवा लिया गया, जिसमें पशुलोक परिवार के बच्चे ऋषिकेश स्कूल में पढ़ने जाया करते थे तथा अन्य कामों के लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार वह सवारी के काम भी आती और तांगे में भी जोत दी जाती थी। सरकार की ओर से एक छोटा ट्रक (Pick-up-truck) भी मिला हुआ था। वह ट्रक अक्सर पशु सम्बन्धी योजनाओं के काम आता था।

पशुलोक की जिस जमीन को घास-फूँस से साफ कर लिया जाता, उसको सुरक्षा प्रदान करने के लिए बाड़ (barbed wire fencing) कर दी जाती थी, ताकि आवारा पशु आदि उधर न आ सकें। उन्होंने अपने लिए गंगा के किनारे वीरभद्र मन्दिर के नीचे, कच्ची ईटों की एक कुटिया बनवाई। साथ ही वहां से कुछ दूरी पर तीन कुटियाएं और भी बनीं, एक में मैं रहता था, दूसरी में धर्मपाल और तीसरी में उत्तर प्रदेश सरकार के एक अधिकारी। तत्पश्चात शनैः- शनैः कुछ और निवास स्थान तथा स्टोर आदि भी बनाने पड़े। मीरा बहन ईंट-सीमेन्ट के मकान बनाने के पक्ष में नहीं थीं, वे कच्ची ईंटों से बनी झोंपड़ीनुमा इमारत को ही पसन्द करती थीं जिनके ऊपर फूँस के छप्पर होते थे। मकानों आदि के नक्शे भी वे स्वयं तैयार करती थीं। वे मानती थीं कि इमारत का काम स्थानीय सामग्री से ही कराया जाए और इस बात का ध्यान रखा जाए कि मकानों का आस-पास के वातावरण के प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ मेल बैठ जाए। कच्ची मिट्टी की मोटी दीवारें और फूँस के छप्पर न केवल देखने में सुन्दर, बल्कि रहने में भी सुखदायी होते हैं, क्योंकि वे गरमी में ठण्डे और सर्दी में गरम रहते हैं। पशुलोक को अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने का यत्न वे बराबर करती रहती थीं, तथा अन्य बातों पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करती थीं।

योजनाओं के लिए आर्थिक सहायता, केन्द्र तथा उत्तर प्रदेश सरकार ने आधा-आधा देना स्वीकार किया था। धीरे-धीरे इन योजनाओं के संचालन के लिए कृषि और पशुपालन विभागों के कार्यकर्ता भी नियुक्त हुए। इस प्रकार पशुलोक का नाम चारों और गूंजने लगा। पहले जहां एक भी मनुष्य के दर्शन होना दुर्लभ था, अब यहां सैंकड़ों की संख्या में कर्मचारी, कार्यकर्ता, अधिकारीगण दिन-रात काम में लगे रहते थे।

किसान आश्रम का नाम उन्होंने बापू की सहमति से रखा था। उसी प्रकार इस जगह का नाम 'पशुलोक

आश्रम ' रखने के लिए भी उन्होंने बापू की सलाह मांगी बापू ने उत्तर में लिखा

> तुम्हारे आश्रम को 'पशुलोक' नाम देना एक भव्य कल्पना है। वह कवित्वमय है। कभी पशुलोक आश्रम न लिखो। आश्रम—पशुलोक, यानी बीच में डेश लगा कर लिखना अच्छा है। अब चूंकि इस पर अधिक गहरा विचार कर रहा हूं, इसलिए मालूम होता है कि शायद पशुलोक आश्रम से तुम्हारी कल्पना अधिक अच्छी तरह व्यक्त होती है। परन्तु चूंकि यह बढ़िया कल्पना तुम्हारी है, इसलिये उसी पर अमल होना चाहिए। तुम्हारी पसन्द अंतिम रहेगी। (पत्र—385)

इस प्रकार 'पशुलोक' नाम प्रसिद्ध हो गया।

पशुलोक में प्रायः प्रतिदिन मीरा बहन से मिलने के लिए बाहर से लोग आया करते थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, जयप्रकाश नारायण, स्वामी शिवानन्द जी, केशव देव मालवीय, पंडित गोविन्द बल्लभ पन्त, डा० काटजू, जी०वी० मावलंकर, शेरवानीजी, सी०बी० गुप्ता, डा० सुशीला नैयर, आर०के० पाटिल आदि कुछ ऐसे प्रमुख नाम हैं, जो बहनजी से मिलने के लिए पशुलोक में आये थे। इनके अतिरिक्त योजनाओं के सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए सरकार की ओर से विशेषज्ञ (experts) भी आया करते थे। इस सम्बन्ध में सरदार बहादुर सर दतार सिंह और उनके सहयोगी सरदार हरबंश सिंह (दिल्ली) और श्री ए०एन० झा (लखनउ) के नाम उल्लेखनीय हैं। पशुलोक इस दृष्टि से विचार-विमर्श का एक केन्द्र बनता जा रहा था।

यहां पर यह उल्लेख करना असंगत नहीं होगा कि पशुलोक में आने वाले सभी छोटे-बड़ों को मिट्टी या पत्थर के बने प्यालों में ही चाय दी जाती थी - आजकल की तरह कप-प्लेट व बड़े बर्तन नहीं थे। बैठने के लिए कुर्सी-मेज नहीं थे,उनकी जगह 'मूढे' थे या चटाई बिछाकर सभी नीचे बैठते थे। यहां उन दिनों बिजली भी नहीं थी, केवल लालटेनों से काम लिया जाता था। लालटेनों को रोजाना साफ करना, उनमें मिट्टी का तेल डालना आदि का काम बहनजी स्वयं अपने ही हाथों से करना पसन्द करती थीं।

कार्यालय में भी मेज-कुर्सी नहीं थीं। जमीन पर बैठ कर सामने एक चौकी पर टाइपराइटर रख कर मैं काम करता था। कभी-कभी रात में भी टाइप का काम करना होता था तो मीरा बहन स्वयं लालटेन पकड़ कर साथ में ही बैठ जाती थीं। ऐसे घर-जैसे वातावरण में हम सब खुशी-खुशी दिन-रात अपने-अपने काम में व्यस्त रहते थे।

रात के समय, प्रायः चांदनी रात में, गंगा पार करके, हाथियों के झुण्ड 40-50-60 तक, चिंघाड़ते, शोर मचाते हुए पशुलोक की ओर आते थे। हमारी कच्ची झोंपड़ी को ही न गिरा दें, इस डर से हम उन्हें रास्ते से हटाने के लिए आग जला देते थे और थाली आदि बर्तनों से आवाज भी करते थे। इस झुण्ड में छोटे बच्चे भी होते थे, जिन्हें सदा बीच में रखा जाता था। यह दृश्य बड़ा ही मनभावन होता था। यहां पर यह भी मान्यता थी कि वीरभद्र मन्दिर के आस-पास एक शेर (बघेरा) रहता था। बहनजी उसके पैरों के निशान (pug-mark) से पहचान लेती थीं कि वह मादा है या नर, और कितनी आयु का होगा। मन्दिर के नीचे, एक छोटी नदी के किनारे कुछ गूजर परिवार रहते थे। वे गाय-भैंस रखते थे। एक शेर उनकी गाय-भैंसों को अक्सर मार डालता था, इसलिए उसको मरवाने के लिए देहरादून से एक शिकारी को बुलाया गया। वह मचान बांध कर दो दिन वहां रहा। अन्त में शेर मारा गया। बहनजी उस मरे हुए शेर के पास बैठ कर दुख प्रकट करने लगीं— 'भाई तुमने हमारे कई पशुओं को मार डाला; तुमने बहुत अन्याय किया; तुम्हारे मरने का मुझे बहुत दुख है; लेकिन मजबूरी में यह करना पड़ा।' ऐसी थी मीरा बहन की

ममता, जो जीवों के प्रति बहुत सदाशय थीं। यह ममता आजीवन उनके व्यक्तित्व का एक हिस्सा रही।

पशुलोक में मुख्य रूप से पशु सुधार (cattle development) से सम्बंधित दो योजनायें शुरू की गयी थीं --

1. **बूढ़ी और अशक्त गायों की पशुशाला** **(Camp for old and infirm cows)**

यहां ऐसी गायें रखी जाती थीं जो दूध नहीं देती थीं, अथवा जिनके मालिक उन्हें अनुपयोगी समझ कर वैसे ही छोड़ देते थे। इस योजना की व्यावहारिकता यह थी कि उन्हें अलग रखने से वे अपनी प्राकृतिक मौत से ही मरेंगी तथा आवारा किस्म के सांडों से भी वे मिल नहीं पायेंगी। बाद में उनकी खाल, हड्डी आदि का उपयोग किया जा सकेगा। कुछ गौशालाएं भी, जो ऐसी गायों का व्यय वहन नहीं कर सकती थीं, उन गायों को कसाई खाने में न भेज कर, यहां भेज देती थीं।

2. **दुग्ध विहीन गायों की पशुशाला** **(Dry cattle farm)**

इस योजना के अन्तर्गत ऋषिकेश और आस-पास की गायें, जिन्हें उनके मालिक कुछ समय के लिए अस्थाई तौर पर पशुलोक में रखना चाहते थे, तो वे ऐसा कर सकते थे। ऐसी गायों के लिए अच्छी नस्ल के सांड यहां पर उपलब्ध थे। बच्चा होने पर उनके मालिक अपनी गाय वापस ले जा सकते थे। ऐसी गायों को अच्छा चारा, पानी आदि की सुविधायें, योग्य व अनुभवी कर्मचारियों द्वारा दी जाती थीं। इस योजना के अन्तर्गत गायों के मालिकों से मासिक शुल्क के रूप में कुछ धन लिया जाता था।

यहां एक चर्मालय भी खोला गया था, जहां मरे हुए जानवरों की खाल, उनके सींग, हड्डी आदि का उपयोग किया जाता था।

मीरा बहन इन सब कामों को सेवाभाव से ही कर रही थीं, लेकिन सरकारी तन्त्र के अन्तर्गत। इसमें आय का अधिक ध्यान नहीं रखा जाता था, और वैसा उनका उद्देश्य भी नहीं था। उनका उद्देश्य तो गायों की नस्ल सुधारना, उन गायों को और उनके बछड़े-बछड़ियों को अच्छे वातावरण में रखकर अधिक उपयोगी और मजबूत बनाना था। इस प्रकार की योजनाओं को सफल होने के लिए काफी धैर्य, संयम और आर्थिक सहयोग की हमेशा जरूरत रहती है। धीरे-धीरे इन योजनाओं का लाभ स्पष्ट दिखाई देने लगा था। साथ ही प्रतिवर्ष खर्च भी बढ़ता जाता था और एक समय ऐसा भी आया जब पशुलोक की प्रवृत्तियों को सुचारु रूप में चालू रखने के लिए आवश्यकतानुसार पूरा खर्च जुटाना मुश्किल दिखाई देने लगा।

बापू ग्राम

मीरा बहन ने अपनी आत्मकथा 'एक साधिका की जीवन यात्रा' (दि स्पिरिट्स पिलग्रिमेज) में इस गांव के बारे में कुछ भी नहीं लिखा है। पशुलोक में भूमि की कमी तो थी नहीं। इसमें से कुछ भूमि भूमिहीन परिवारों को बसाने के लिए निर्धारित करके, वहां एक आदर्श गांव बसाने की उनकी इच्छा हुई। अपनी कल्पना में वे एक ऐसा गांव का चित्र बनाये हुए थीं, जो सब प्रकार से स्वावलम्बी हो तथा ऊँच-नीच, छुआ-छूत, छोटे-बड़े आदि के भेद-भाव से मुक्त हो। अतः उन्होंने तय किया कि भूमिहीनों के प्रत्येक परिवार को 10-10 एकड़ भूमि दी जाए, जिसमें वे अपना मकान बना सकेंगे तथा सामूहिक रूप से खेती-बाड़ी भी करेंगे और एक आदर्श गांव की स्थापना हो सकेगी।

36 सदस्यों की एक सहकारी समिति, 4 अप्रैल, 1950 को बनी जिसमें हरिजन और सवर्ण सभी वर्ग के लोग सम्मिलित थे। यद्यपि उस पहाड़ी-पथरीली जमीन में कुंआ खोदना आसान काम नहीं था, फिर भी दो कुएं खोदे गये। धीरे-धीरे वहां पंचायत घर बना और बच्चों के लिए स्कूल आदि का प्रावधान भी किया गया। मीरा बहन ने ग्रामवासियों के लिए कुछ नियमादि भी बनाए थे जैसे—यहां शराब आदि कोई नहीं पियेगा, खादी-ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाएगा, कौमी एकता बनी रहेगी तथा सर्वसम्मति से ही सब काम होंगे, इत्यादि।

खेद है, उनकी यह कल्पना साकार नहीं हो सकी। जिन किसानों को निःशुल्क जमीन दी गई थी, समय आने पर उनमें प्रलोभन की मात्रा बढ़ती गई। मीरा बहन के वहां से हटते ही पैसे वाले लोग जमीन खरीदने की दृष्टि से वहां पहुंचने लगे। आपस में झगड़े होने लगे। जमीन बिक्री होनी शुरू हो गई, साथ ही जमीन की कीमतें भी बढ़ने लगीं। इस प्रकार कई लोग अपनी-अपनी जमीनें बेच कर नकद पैसा लेकर, अन्य स्थानों पर चले गये। 1963 के आसपास केन्द्रीय सरकार ने आई०डी०पी०एल० कारखाना* इसी गांव की जमीन पर स्थापित किया। जिन लोगों की जमीन इस काम के लिए ली गई थी, उन्हें उसके बदले में दूसरी जगह जमीन दी गई। लगभग 350 एकड़ भूमि,हजारों मोटे हरे पेड़ों सहित आई०डी०पी०एल० को दे दी गई। इस कारखाने के वहां बन जाने पर जमीन की कीमतें आसमान छूने लगीं। करोड़ों रुपयों की परियोजनाएं (projects) क्रियान्वित होने लगीं।

'बापू ग्राम' तो अभी भी है, लेकिन वहां उस समय के मूल निवासियों में से आधा दर्जन लोग भी नहीं हैं। इनमें सबसे पुराने एक पंजाबी परिवार के श्री फतेह चन्द अभी भी वहां हैं। अभी तक इस गांव की जमीन झगड़े में ही है, क्योंकि मूल नियमों का पालन नहीं होने से रजिस्ट्रार कोऔपरेटिव विभाग ने इसका रजिस्ट्रेशन रद्द कर दिया है और वन विभाग अपनी जमीन इनसे वापस मांग रहा है। पहले जहां केवल 36 परिवारों को यहां बसाया गया था, अब यहां की आबादी हजारों में हो गई है -- लेकिन मीरा बहन की मूल कल्पना का गांव अब यह नहीं है। यहां पर लगभग सभी ने पक्के मकान बना लिए हैं तथा उन्हें आधुनिक आवश्यकताओं जैसे टी०वी०, रेडियो आदि से सुसज्जित कर लिया है। शायद इसी कारण से उन्होंने अपनी पुस्तक में इस गांव का उल्लेख नहीं किया है।

प्रताप नगर में

मीरा बहन का स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहता था। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, पशुलोक में रहते हुए प्रायः हर वर्ष उन्हें मलेरिया बुखार आ जाया करता था, जिससे बचने के लिए दो-ढाई महीनों के लिए हम मसूरी चले जाते थे। 1947 में भी बरसात के दिनों में कुछ समय के लिए हम मसूरी चले गये थे, बाद में उन्होंने उत्तरकाशी जाने का कार्यक्रम बनाया। मीरा बहन, धर्मपाल और मैं, हम तीनों उत्तरकाशी के लिए रवाना हुए। मीरा बहन अपने प्रिय घोड़े 'माना' पर थीं। वे सोचती थीं कि वहां की जलवायु कुल मिलाकर सुखदायी होगी और वे कुछ दिन वहां रह सकेंगी। जून का महीना था। भागीरथी घाटी की उमस भरी गरमी ने उन्हें विचलित कर दिया। उत्तरकाशी तक का रास्ता असह्य रूप में दमघोटू और अपेक्षा से अधिक गरम था। उत्तरकाशी पहुंचने के बाद कुछ दिनों तक उन्हें थकान बनी रही, क्योंकि रास्ते में कहीं-कहीं पैदल भी चलना पड़ा था। यहां कुछ दिनों के लिए बापू भी आ सकेंगे, ऐसा उनका मानना था। उनका यह विचार एक तरह से पक्का ही था। किन्तु बापू वहां आ नहीं

---

* Indian Drugs and Pharmaceutical Ltd.

सके। बापू ने अपने तारीख 15.6.1947 के पत्र में लिखा था – "मैं खुद उत्तरकाशी जाने का विचार कर रहा हूं, परन्तु ये सब तो सपने की बातें हैं। इसलिये इस पर कोई कल्पना न बनाना परन्तु मुझे वहां की सब बातें लिख सकती हो।"

मीरा बहन द्वारा भेजे गये उत्तरकाशी के वर्णन को पढ़ने के बाद बापू ने अपने तारीख 29.6.1947 के पत्र में लिखा --

> मेरे उत्तरकाशी जाने के विचार को तुम्हीं ने असम्भव बना दिया है। ....किन्तु मैं तो ईश्वर के हाथों में हूं। मैं न यह चाहूंगा, न वह। मेरे लिए तो आज की भलाई काफी है। बुराई का मुझे विचार ही नहीं करना चाहिए। कोई नहीं जानता कि वास्तव में क्या भला है और क्या बुरा। इसलिए हमें भलाई के सिवाय और कुछ सोचना ही नहीं चाहिए ——। (पत्र- 383)

कुछ समय बाद परिस्थिति ऐसी बनी कि उत्तरकाशी की जलवायु उन्हें अनुकूल नहीं लगी और वे किसी ऐसे स्थान पर जाने का विचार बनाने लगीं जहां की जलवायु ठण्डी तथा उनकी प्रकृत्ति के अनुकूल हो।

मीरा बहन का मन्तव्य जान लेने के पश्चात कुछ मित्रों ने उन्हें प्रताप नगर जाने की सलाह दी। यहां टिहरी गढ़वाल के महाराजा का एक अत्यन्त सुन्दर अतिथिगृह (महल) था। प्रताप नगर 7000 फीट से अधिक ऊंचाई पर टिहरी के ऊपर की पर्वतमाला पर बसा हुआ एक छोटा सा नगर है। उन दिनों टिहरी से आगे पक्की सड़क तो थी नहीं, पैदल या खच्चर (घोड़ा) का रास्ता था। बहुत खड़ी चढ़ाई थी। लेकिन प्रताप नगर पहुंचने के बाद वहां का एकान्त शान्त वातावरण मन को आनन्दित करने लगा। महल के नजदीक ही सेव का बगीचा था। मुझे याद है, रात में भालू (रीछ) सेव खाने यहां आया करते थे और आपस में खूब लड़ाई-झगड़ा भी करते थे। कभी-कभी उनकी तेज आवाज बहुत ही चौंकाने वाली होती थी। मैं अक्सर शाम के समय इस बगीचे में घूमने जाया करता था। वहां के निवासी बताते थे कि स्वामी रामतीर्थ को यह एकान्त स्थल बड़ा प्रिय था और वे यहां आकर ध्यान मग्न हो जाया करते थे।

बापू के पत्र मीरा के नाम

बापू द्वारा मीरा बहन को लिखे गये 650 पत्र उनके पास थे, जिन्हें वे अत्यन्त सावधानी के साथ सम्भाल कर, एक धरोहर की भांति, सदा अपने पास रखती थीं। ये पत्र 1924 और जनवरी 1948 के बीच में लिखे गये थे। प्रताप नगर में जलवायु सुहावना और ठण्डा तो था ही, साथ ही वहां और कुछ विशेष काम भी नहीं था, इसलिए यह तय हुआ कि मैं उन सब पत्रों को एक बार टाइप कर डालूं। इस सम्बन्ध में मीरा बहन ने अपनी जीवनी में लिखा है —

> मैं उत्तरकाशी में और यहां अपने साथ बापू के सारे पत्र ले आई थी। इन सबको मैंने शुरू से एकत्र करके एक पेटी में सुरक्षित रख छोड़ा था। पिछली बार जब मैं दिल्ली में थी तब मैंने बापू से सलाह ली थी और वे मेरे इस सुझाव से सहमत थे कि कुछ चुने हुए पत्र प्रकाशित कर दिये जायें। इसलिए अब मैं यह काम लेकर बैठ गई और जब तक हमने प्रताप नगर छोड़ा, तब तक मैंने 350 से अधिक पत्र (386) छांट कर व्यवस्थित कर दिये और कृष्ण मूर्ति ने उनकी प्रतियां टाइप कर डालीं। (पृ० 326)

गांधीजी के हाथ का लिखा हुआ पढ़ना आसान काम नहीं था। कई पत्र तो छोटा-मोटा कैसा भी कागज मिला, उसी पर लिखे हुए थे। कुछ पत्र नैपाली चिकने कागज पर लिखे गये थे, जिन्हें पढ़ने में काफी समय लगता था। फिर भी मैंने धीरे-धीरे लगभग सभी पत्रों को टाइप कर लिया। इससे मुझे गांधीजी के विचारों, उनके व्यक्तित्व, उनकी महानता का बोध तो हुआ ही, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ सीखने को मिला। इनमें से 386 पत्रों को बहनजी ने प्रकाशन् योग्य माना और वे अंग्रेजी भाषा में 'बापूज़ लेटर्स टु मीरा' (Bapu's Letters to Mira) नाम की पुस्तक में 1949 में नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित हुए। इसी पुस्तक का हिन्दी संस्करण 'बापू के पत्र मीरा के नाम' इसी प्रकाशक द्वारा 1951 में प्रकाशित हुआ। उसकी एक प्रति उन्होंने मुझे अपने हाथ से यह लिख कर दी —

> उस सुखद संस्मरणात्मक सहायता के लिए जो इन पत्रों की मूल प्रतियों को टाइप करने में उन्होंने (कृष्ण मूर्ति गुप्ता) मुझे दी। मीरा बहन 6.10.1949 । (मूल - अंग्रेजी में)

प्रताप नगर में हम कोई दो-ढाई महीने रहे। जैसा पहले उल्लेख किया गया है, टिहरी से प्रताप नगर तक का करीब 9 मील का रास्ता अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ व खड़ी चढ़ाई वाला था। वैसे तो वे अपने प्रिय घोड़े 'माना' पर सवार होकर ही इस मार्ग पर चल रही थीं, फिर भी मार्ग में कई ऐसे स्थान भी थे जहां पर घोड़े से उतर कर पैदल चलना पड़ता था। प्रताप नगर से टिहरी लौटते समय थकान के कारण भिलंगना नदी के पुल के पास आकर वे अर्ध मूर्छित हो गई थीं, अतः आराम करने के लिए कुछ समय वहां रुकना पड़ा। इस अर्ध मूर्छता की घटना से उन्हें लगा कि उनके हृदय की गति ठीक काम नहीं कर रही है - इसलिये दिल्ली जाकर उसका निदान कराना उन्हें आवश्यक लगा। बापू को इस विषय में उन्होंने एक पत्र लिख कर सूचित किया। बापू ने अपने 20.8.1947 के पत्र द्वारा उत्तर दिया –

> .... तो तुम्हें हिमालय पर्वत पर रहने से कोई लाभ नहीं हुआ। स्पष्ट है कि तुम अपने शरीर को बनाने में असमर्थ हो। मेरा सुझाव है कि गोपालन सहित तुम सब प्रवृत्तियां छोड़ दो। (पत्र—384)

उनके लिए इतनी ऊंचाई पर रहना शायद अच्छा नहीं रहा। यद्यपि प्रताप नगर का जलवायु अत्यन्त सुहावना और स्वास्थ्य वर्द्धक था, लेकिन ठण्डा भी काफी था। अतः उन्होंने तय किया कि अगस्त में पशुलोक जाकर वहां से वे अपने हृदय की गति की जांच के लिए नई दिल्ली जायेंगी।

दिल्ली में बापू के पास

टिहरी महाराजा (श्री नरेन्द्र शाह) को जब मीरा बहन के बीमार हो जाने का समाचार मिला, तो उन्हें अपनी राजधानी नरेन्द्र नगर में ले आने के लिए एक मोटर भेज दी। नरेन्द्र नगर में हम 15 अगस्त,1947 को संध्या समय पहुंचे, जब भारत अपनी आजादी की खुशी मनाने में व्यस्त था। मीरा बहन, नरेन्द्र नगर में महाराजा के अतिथिगृह में रहीं। मैं नीचे की ओर बने हुए एक मकान में रहा। उस दिन वे बाहर आना ही नहीं चाहती थीं, क्योंकि देश की वर्तमान परिस्थिति में पशुता का दानव चिंघाड़ रहा था। भाई-भाई के लहू का प्यासा बना हुआ था। मां-बहनों की इज्जत से खिलवाड़ किया जा रहा था। ऐसी स्थिति में आनन्दोत्सव मनाने की उनकी इच्छा नहीं हो रही थी। जगह-जगह हिन्दू मुसलमानों में साम्प्रदायिक झगड़े होने के समाचारों से अखबारों के पन्ने रंगे पड़े थे। हजारों नर-नारी शरणार्थी बनने पर मजबूर हो गये थे, और हजारों इन दंगों में मारे जा रहे थे।

दिल्ली पहुंचने पर हम बिड़ला हाऊस* में ठहरे। यहां हृदय विशेषज्ञ डा० जोशी** ने उनके हृदय की जांच कर, उन्हें सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ बताया। साथ ही यह परामर्श भी दिया कि क्योंकि शारीरिक तथा मानसिक थकान के कारण कभी-कभी उनके हृदय की गति में परिवर्तन आ जाता है, अतः वे कुछ समय आराम करें। वे अभी आराम करने का मन बना ही रहीं थीं कि अकस्मात् उन्हें यहां मलेरिया बुखार ने ग्रसित कर दिया। इस रोग से मुक्ति पाने के लिए डाक्टर ने उन्हें किसी गरम जलवायु वाले स्थान में जाने की सलाह दी। अतः अगस्त-सितम्बर दो माह यहां रहने के बाद हम दोनों बिरला जी का आतिथ्य स्वीकार करके पिलानी (राजस्थान) चले गये। पिलानी में करीब एक माह रहने के बाद हम फिर बिरला हाऊस, नई दिल्ली ही आ गये। बहिनजी का स्वास्थ्य अब पहले से काफी अच्छा था।

गांधीजी भी इन दिनों बंगाल (नौआखली आदि) से दिल्ली आ गये थे। उन्हें बिड़ला हाऊस में ही ठहराया गया। उन दिनों चारों ओर साम्प्रदायिक दंगे भयंकर रूप में हो रहे थे - दिल्ली में भी मार-काट मची हुई थी, जिससे दिल्ली का वातावरण भयावह हो गया था। पाकिस्तान की ओर से हजारों हिन्दू-सिख अपना घर बार छोड़कर बहुत ही बुरी दशा में यहां आ रहे थे। उनकी यह हालत देख-सुनकर यहां के कुछ हिन्दुओं ने भी मुसलमानों को सताना शुरू कर दिया था। गांधीजी के दिल्ली में पहुंचते ही यहां एक दम शान्ति हो गई। बापू और मीरा बहन प्रायः देश में व्याप्त इन घटनाओं के बारे में बात-चीत करते रहते थे। पाकिस्तान की ओर से रोजाना हजारों की संख्या में आने वाले शरणार्थी अपनी दर्द भरी कहानी सुनाते तो लगता था कि इंसानियत जैसी कोई चीज अब शेष नहीं रह गई है।

एक दिन दो युवा लड़कियां अपने दो भाइयों के साथ मीरा बहन से मिलने बिड़ला हाऊस में आईं। उनका लाहौर में अपना मकान था - अच्छा व्यवसाय भी था, चैन से दिन गुजार रहे थे - देश के बंटवारे की आग से वे भी बच नहीं सके और उनका सब कुछ स्वाहा हो गया - मां बाप भी नहीं बचे। उनकी कहानी सुनकर मीरा बहन का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने तय किया कि इन अनाथ बच्चों को पशुलोक (ऋषिकेश) ले जाना उचित होगा। पशुलोक पहुंच कर उनके सबसे बड़े भाई, राम प्रसाद को हमने अपने कार्यालय में ही टाइपिस्ट का काम दे दिया और उन सबकी निवास आदि की व्यवस्था कर दी गई।

बिड़ला हाऊस, दिल्ली में करीब एक महीना और रहने के बाद 18 दिसम्बर, 1947 को हम ऋषिकेश-पशुलोक के लिए रवाना हुए और वहां पहुंच कर फिर गौ-सेवा के काम में जुट गये।

बापू नहीं रहे

पशुलोक में आकर कुछ दिनों बाद ही, 30 जनवरी,1948 को बापू की हत्या का हृदय विदारक समाचार सुनने को मिला।

---

* उस समय इस मार्ग का नाम 'एलबुकर्क रोड' था। गांधीजी के निधन के बाद इसका नाम 30 जनवरी मार्ग हो गया है और यह स्थान "गांधी स्मृति" के नाम से जाना जाता है।

** डा० जोशी देश के जाने-माने हृदय रोग चिकित्सक थे। वे करोल बाग में रहते थे। एक दिन अचानक उनके पड़ोसी ने ही उन्हें गोली मार दी। वे साम्प्रदायिकता के शिकार हुए।

इस अति दुःखद सन्दर्भ में मीरा बहन ने लिखा --

> 30 जनवरी को शाम के साढ़े सात बजे पशुलोक में मुझे बापू की हत्या की खबर मिली। मैं बरामदे में निकल आयी थी। जब मैंने वे शब्द सुने, तो मैं स्तब्ध रह गई और आकाश की तरफ देखा तो वन के वृक्षों के ऊपर तारे चमक रहे थे। मैंने अपने दिल में इतना ही कहा, "बापू, बापू, आखिर यह हुआ !" इसके साथ ही शांति का ऐसा भाव छा गया कि उसने अन्धकार पैदा करने वाले आघात पर भी विजय पा ली। (बापू के पत्र मीरा के नाम -पृ० 397)

वास्तव में बापू ही उनके लिए सब कुछ थे। वे अक्सर कहा करती थीं —"मेरे अपने केवल दो ही हैं - ईश्वर और बापू"। बापू के निधन के तुरन्त बाद लिखा गया उनका लेख "वे एक हो गये " (They have become one) कई पत्र- पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ। (यह लेख परिशिष्ट-2 में दिया गया है)

उसी रात्रि को ऋषिकेश से कई मित्र उनसे मिलने आए और उन्हें दिल्ली ले जाने के लिए सभी प्रकार की व्यवस्था करने का आश्वासन भी दिया, किन्तु उन्होंने अपनी कुटिया में ही रहने का निश्चय किया - वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ सी हो गई थीं। बापू के ये शब्द मीरा बहन को हर घड़ी याद आते रहते थे --

> मेरी चिन्ता न करना। ईश्वर पर श्रद्धा और विश्वास रखना। मैं उसके हाथों में सुरक्षित हूं। वही मुझे बनायेगा या बिगाड़ेगा। उसके लिए सब बनाना ही है, बिगाड़ना कभी है ही नहीं। (पत्र—378)

और फिर —

> ईश्वर पर भरोसा रखो और जहां हो वहीं रहो —।
>
> अन्तिम दर्शन करने का कोई अर्थ नहीं है। वह आत्मा, जिससे तुम्हें प्रेम है, सदा तुम्हारे साथ है। (पृ० 342)
>
> और उन्होंने निश्चय किया कि - मैं वहीं रहूंगी, जहां मैं हूं।
>
> फरवरी 1948 के अन्त में हम दिल्ली आए और स्व० देवदास गांधी के घर पर ठहरे। बिड़ला हाऊस में वे उस स्थान को देखने गईं, जहां पर गोली लगने के पश्चात् बापू गिरे थे। एक दिन वे राजघाट, गांधीजी की समाधि स्थल पर भी गईं। उस समय वहां कुछ ईंटों का एक मामूली सा चबूतरा बना हुआ था। जल्दी ही उन्होंने वापस पशुलोक जाने का फैसला भी कर लिया।

अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा है --

> फरवरी के अन्त से पहले मैं एक बार दिल्ली गई। सारा वातावरण निस्तब्ध, निष्प्राण और नैराश्यपूर्ण लगने का मुझे स्मरण है --
>
> जवाहरलाल पीले और निस्तेज दिखाई देते थे, बल्लभ भाई मौन शोक में डूबे हुए थे। न कुछ कहने को था, न करने को। हम केवल साथ बैठ कर बापू का विचार ही कर सके थे। कुछ शब्द कहे भी गये तो वे अप्रासंगिक से और दूर से बोले जाते जैसे लगे। रही बात दिल्ली की, सो वह तो मुर्दों की

> नगरी-सी मालूम हुई, जहां सभी शोक की छाया में चलते मालूम होते थे। मैं बिड़ला भवन गई, मैं राजघाट के समाधि-स्थल पर गई। हर जगह वही नैराश्य, वही निःशब्द शून्यता। मैंने अपने आपसे कहा—मैं वापस वहीं चली जाऊं जहां खेतों और जंगलों का जीवन और प्रकाश है, जहां प्रकृति जानती ही नहीं कि मरे हुओं के लिए शोक क्या चीज होती है, क्योंकि उसमें मृत्यु है ही नहीं। मेरे लिए बापू यहां नहीं, वहां हैं, और मैं तुरन्त पशुलोक लौट गई। (पृ० 345)

बापू के इस आकस्मिक निधन से उनकी सब आशाएं निराशा में बदल गई थीं। वे सोचा करती थीं कि बापू किसान आश्रम में नहीं आ सके, उत्तरकाशी भी नहीं आ सके, तो वे पशुलोक में तो एक दिन जरूर आ ही जायेंगे। उनके लिए उन्होंने एक कुटिया भी निर्धारित कर दी थी।

बापू की अस्थियों (Ashes) को जब इलाहाबाद में गंगा-जमुना के संगम पर विसर्जन करने का दिन आया तो मीरा बहन से वहां चलने के लिए कहा गया था, लेकिन वे वहां भी नहीं गईं। हां, बाद में मित्रों के स्नेहपूर्ण आग्रह को देखते हुए बापू की भस्मी का एक भाग ऋषिकेश में गंगा में उनके हाथों विसर्जित हुआ। इसका वर्णन उन्होंने अपनी जीवनी में इस प्रकार किया है—

> गंगा की धार पर लकड़ी का जो चबूतरा बनाया गया था, उसके आस-पास से गंगा का शुद्ध और चमकता हुआ पानी तेजी से बह रहा था। जब मैंने उस तीव्र नीली धारा में भस्मी का विसर्जन किया तब मुझे जीवन में पहली बार प्रकृति की भव्यता का अनुभव हुआ, जो हमारे पार्थिव शरीर के अवशेषों को सर्वव्यापी प्रेम के साथ अपने भीतर पुनः ग्रहण कर लेती है। (पृ० 345)

पशुलोक सेवा मण्डल

पशुलोक में अब सब योजनाओं के लिए सरकारी सहायता मिल रही थी। साथ ही जैसा अधिकतर होता है, सरकारी अधिकारियों की कुछ गतिविधियों, सिफारिशों, काम करने कराने के तौर तरीकों आदि के कारण मीरा बहन को लगा कि यह सब काम सरकारी तन्त्र से अलग रह कर, एक स्वयं सेवी संस्था के माध्यम से कराया जाना ज्यादा उपयुक्त होगा। इसी विचार से वे लखनऊ गयीं। दिल्ली के सम्बंधित मित्रों से भी उन्होंने बातचीत की और अन्त में यह तय हुआ कि पशुलोक की योजनाओं को बन्द कर दिया जाए और सरकारी अधिकारियों को अपने-अपने विभागों में वापिस भेज दिया जाए। उनका मानना था कि जनता और पशुओं की सेवा किसी गैर-सरकारी संस्था द्वारा ही अधिक अच्छे ढंग से सफलतापूर्वक की जा सकेगी। उन्हीं के शब्दों में—

> मैं नौकरशाही के इस रवैये से अधिकाधिक ऊबती गई और प्रबल रूप से अनुभव करने लगी कि जनता और उसके पशुओं की सेवा किसी गैर-सरकारी संस्था के द्वारा अधिक अच्छी की जा सकती है —। (पृ० 350)

इस पृष्ठ-भूमि में 'पशुलोक सेवा मण्डल' नाम से एक रजिस्टर्ड संस्था गठित हुई। इसके अध्यक्ष, लोकसभा के तत्कालीन अध्यक्ष, श्री जी०वी० मावलंकर बने। कोषाध्यक्ष, ऋषिकेश के स्वामी ब्रह्मजी थे। अन्य सदस्यों में थे—स्वामी शिवानन्द जी महाराज, आचार्य जुगल किशोर, बाबा राघवदास, धर्मपाल आदि। वे स्वयं उस संस्था की मन्त्री थीं, और मैं सहायक मन्त्री बना। कुछ अन्य मित्र जो संस्था से जुड़े हुए थे उनमें सर्वश्री रामस्वरूप, जय प्रकाश शर्मा, शान्ती प्रपन्न शर्मा, महावीर त्यागी, सूर्यकान्त पारिख, गोस्वामी गणेश दत्त आदि प्रमुख थे।

इस संस्था के उद्देश्य तथा कार्य सूची इस प्रकार थी—

> एक ऐसे क्षेत्र या क्षेत्रों की स्थापना करना जहाँ पर मनुष्य और पशु नैसर्गिक रूप में साथ-साथ रहकर एक ऐसे विकेन्द्रित समाज का निर्माण कर सकें, जिसमें बापू के उन आदर्शों का ध्रुवीकरण हो, जो उन्होंने विश्व शांति के लिए चुने थे तथा व्यक्ति अपने ही क्षेत्र में पशुओं के साथ रहकर आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर होकर स्वस्थ व प्रसन्नतापूर्ण जीवन व्यतीत कर सकें। (पृ० 350)

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्नांकित कार्य-प्रणालियों का नियोजन किया गया,

1. सात सौ एकड़ जमीन पर एक सहकारी ग्राम का गठन। *
2. एक हजार एकड़ भूमि को पशुओं के चरने के लिये खाली रखना तथा स्थानीय गायों की नस्ल में सुधार लाने के लिए इन गायों के साथ हरियाणवी नस्ल के सांड़ों को रखना।
3. तेल निकालने के कोल्हू, बेंत (रिंगाल) के उपकरणों का निर्माण तथा मधुमक्खी पालन आदि से कुटीर उद्योगों को स्थानीय जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप बढ़ावा देना।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद को पशुलोक सेवा मण्डल के उद्घाटन के लिये विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था। राजेन्द्र बाबू पशुलोक में ही थे कि मीरा बहन की कुटिया से कुछ दूरी पर अचानक भयंकर आग लग गई। उन दिनों गरमी का मौसम था। मीरा बहन की कुटिया और आश्रम के बीच सूखा घास-फूँस तो था ही, किसी ने बीड़ी-सिगरेट पीकर उसका बचा हुआ टुकड़ा वहीं फेंक दिया। फिर क्या था - देखते ही देखते फूँस में आग लग गई और चारों ओर आग की ऊंची-ऊंची लपटें दिखाई देने लगीं। क्योंकि राजेन्द्र बाबू वहां थे, अतः कमिश्नर, कलक्टर से लेकर पुलिस और छोटे-बड़े सब उस आग को बुझाने में लग गये। सौभाग्य से आग पर काबू पा लिया गया और मीरा बहन की कुटिया भस्म होने से बच गई।

पशुलोक सेवा मण्डल की दो-तीन बैठकें भी हुईं, जिनकी अध्यक्षता श्री जी० वी० मावलंकर ने की थी। इस संस्था को आर्थिक सहयोग गांधी स्मारक निधि से मिलने की आशा की गई थी। निधि से उन्हें पहले साल कुछ सहायता उपलब्ध हुई, कुछ दान आदि से इकट्ठा किया गया। लेकिन अर्थाभाव बना रहा, क्योंकि स्थाई रूप में आर्थिक सहायता उपलब्ध होते रहने का कोई अन्य विकल्प नहीं था। साथ ही ऐसी परिस्थिति भी बनी कि सरकारी सहायता भी बन्द हो गई। अन्त में उन्होंने उत्तर प्रदेश सरकार को ही पशुलोक की जमीन वापस करने का फैसला कर लिया और उन्हें कहा कि वे अपने ढंग से जैसा चाहें, वहां काम करें।

अब वे कोई ऐसा स्थान अपने लिए ढूंढ निकालना चाहती थीं, जहां वे अपने ही ढंग से ग्राम वासियों और पशुओं की सेवा करती रह सकें, और इधर-उधर से किसी प्रकार का उनके ऊपर दबाव या उनके कार्य में व्यवधान उपस्थित न हो। वास्तव में वे हिमालय को छोड़ना भी नहीं चाहती थीं। इसीलिए वे एक ऐसे स्थान को तलाश कर रही थीं, जहां से हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के दर्शन उन्हें सदा होते रहें। ऐसे स्थान की खोज में वे जगह-जगह भटकती रहीं। इस भटकाव में उन्होंने लगभग 200 मील की यात्रा कर डाली, जिसमें मैं उनके साथ रहा। इस यात्रा का वर्णन उन्होंने एक लेख 'हिमालय की सीख' (Himalayan Lessons) में किया था। 'हरिजन' में यह लेख

---

* इस गांव का नाम "बापू ग्राम" रखा गया।

(मूल अंग्रेजी में) सात किस्तों में 1951 में प्रकाशित हुआ है। इसका हिन्दी अनुवाद 'हिमालय की सीखें' पुस्तक में मीरा बहन के लेखों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गोपाल आश्रम

मीरा बहन को प्राकृतिक जगह चुनने की नैसर्गिक देन तो थी ही, खोज करते-कराते अन्त में टिहरी से 28 मील की दूरी पर गेंवली गांव* के पास की जमीन उन्होंने पसन्द कर ली। यह भिलंगना नदी के ऊपर, चीड़ और देवदार के घने जंगलों से घिरी हुई थी। यहां से केदारनाथ तथा उससे जुड़ी हुई कई हिमानियां स्पष्ट दिखाई देती थीं। वन विभाग ने लगभग दो एकड़ भूमि उन्हें लीज़ पर दे दी। इस स्थान का नाम उन्होंने 'गोपाल आश्रम' रखा। यहां पर उन्होंने अपने तथा सह-कर्मियों के लिए निवास स्थान आदि का निर्माण कार्य भी करवाया।

अब चूंकि पशुलोक को पूरी तरह सरकारी तन्त्र के हवाले कर दिया गया था, अतः पशुलोक सेवा मण्डल भी भंग हो गया था तथा वहां से सभी कार्यकर्ता भी हट गये थे। मैं परिवार सहित ऋषिकेश नगर में गंगा किनारे एक मकान में रहने लगा था। मीरा बहन चाहती थीं कि मैं हमेशा उनके पास ही रहूं, अतः मैं गोपाल आश्रम में आ गया। यहां हम केवल तीन-चार व्यक्ति ही थे। मुझे यहां रहने में कुछ भी सार नहीं दिखाई दे रहा था। वास्तव में प्रारम्भ से ही इस केन्द्र के स्थायी रूप में चलते रहने का विश्वास मुझे नहीं हो पा रहा था, और मेरा मन कहता था कि बहनजी भी यहां ज्यादा नहीं रह पायेंगी। वे यहां से हिमाच्छादित पर्वत मालाओं को देखकर बहुत खुश होती थीं, क्योंकि वे प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासक थीं, लेकिन परिस्थितियां उनका साथ नहीं दे रही थीं।

अन्त में मुझे बहनजी से कहना ही पड़ा कि मैं यहां नहीं रह सकूंगा, और अप्रैल 1952 में मैं वहां से दिल्ली में केन्द्रीय गांधी स्मारक निधि में आ गया। बहनजी मुझे छोड़ना नहीं चाहती थीं -- परन्तु मेरी समस्याओं को समझते हुए उन्होंने अनमने मन से मुझे अनुमति दे दी। मुझे भी उनसे अलग होने का अत्यधिक दुख हुआ, लेकिन शायद विधाता की यही इच्छा थी, यह मानकर सन्तोष करना पड़ा। मेरे दिल्ली आने पर, उन्होंने गांधी स्मारक निधि के उस समय के मन्त्री (श्री लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम अशर) और उपाध्यक्ष (श्री देवदास गांधी) को मुझे वापिस उनके पास भिजवाने के लिए लिखा था, लेकिन यह भी सम्भव नहीं हुआ।

उन दिनों ग्रामीण विकास के लिए सामुदायिक ग्रामीण विकास योजनाएं, (Community projects for rural development) शुरू की जा रही थीं। बहिनजी को लगा कि यदि गांधीजी के आदर्शों के अनुसार कोई प्रयोगात्मक योजना सरल ढंग से प्रारम्भ की जाए तो यह क्षेत्र (भिलंगना घाटी) उसके लिए हर तरह उपयुक्त होगा। संयोग से वर्धा के पास सम्मेलन में उन्हीं दिनों उनका पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिलना हुआ तो उन्होंने अपनी इस योजना की जानकारी पंडित जी को दी। वे तुरन्त सहमत हो गये। उनकी सलाह के अनुसार, केन्द्रीय सरकार से बात हुई तो रुपये 12 लाख इस योजना के लिए सरकार ने मंजूर करना स्वीकार कर लिया। इसके बाद वे उत्तर प्रदेश सरकार से बातचीत करने लखनऊ गईं। उन्हें लगा कि सब कुछ ठीक है। वापिस टिहरी आकर एक समिति का गठन भी हो गया और योजना के उद्घाटन की तैयारी होने लगी। इस प्रकार वे इस काम में उत्साहपूर्वक

---

* 20 अक्तूबर, 1991 के भूकम्प में इस गांव को बहुत हानि पहुंची।

लग गईं। किन्तु बाद की घटनाओं ने मीरा बहन को हतोत्साहित कर दिया जैसा कि उन्होंने लिखा है—

> बहुत दिन नहीं बीते होंगे कि हमें लखनऊ से सूचनाएं और आदेश मिलने लगे, जिनसे यह प्रकट होता था कि नौकरशाही हमारी योजना पर से अपना काबू छोड़ने वाली नहीं है। मैं जल्दी ही लखनऊ वापस गई और मैंने फिर सरकारी अधिकारियों के साथ लम्बी वार्ताएं कीं। मुझे दुबारा आश्वासन दिया गया कि सब-कुछ ठीक हो जायेगा, परन्तु ज्यों ही मैं गोपाल आश्रम लौटी वैसे ही फिर वही बातें दुहराई जाने लगीं।
>
> मैंने सोचा कि यदि अन्त में यह वही मामूली पुराने ढंग की योजना सिद्ध हो और हमारी कल्पना का सादा सा विकेन्द्रित प्रयोग सम्भव न हो, तो फिर बेहतर यही होगा कि सरकार को अपने ही ढंग से चलाने के लिए सारी योजना सौंप दी जाए। और मैंने यही किया।
>
> इसका अर्थ था 'गोपाल आश्रम' छोड़ना, क्योंकि मैं ऐसे वातावरण के बीच रहने की कल्पना नहीं कर सकती थी जहां पर मेरी तमाम आशाएं विफल हो रही हों। इसके अतिरिक्त जिस ढंग की योजना में मेरा विश्वास नहीं था उसी का विकास होने जा रहा था। (पृ० 359-360)

बापू राज पत्रिका

गोपाल आश्रम में रहते हुए मीरा बहन ने एक मासिक पत्रिका —'बापू राज पत्रिका'* का प्रकाशन मई 1952 से शुरू किया था। सौभाग्य से इसकी कुछ प्रतियां अभी मुझे मेरे मित्र सूर्यकान्त पारिख ने अहमदाबाद से भिजवाई हैं। इस पत्रिका का छः माह का चन्दा एक रुपया था और पत्रिका के मुख्य उद्देश्य मूल रूप में जो उन्होंने बनाये थे, इस प्रकार थे—

बापू राज

(1) मजबूत तन्दुरुस्त गांव होंगे, जिसमें मनुष्य की मुख्य जरूरी चीजें बनती रहेंगी, अर्थात्—खुराक, कपड़ा और घर।

(2) सीधी-सादी सरकार होगी, जिसमें न कोई महल में रहने वाले होंगे, न कोई हजारों रुपये का पैट्रोल फूंकने वाले होंगे। जिसमें हुकूमत का काम सबसे ज्यादा गांव पंचायत खुद करेगी और पंचायत तमाम गांव को सच्चा रास्ता बताने वाली सेवक होगी।

(3) सीधे-सादे कानून, अर्थात् जिनको चलाने के लिए खून चूसने वाले वकील नहीं होंगे, न बड़े शहरों की कचहरियों में दौड़ना पड़ेगा।

(4) मजबूत और ईमानदार पुलिस जो जनता की रक्षा करने वाले सेवक होंगे और करोड़ों रुपया का खर्च कराने वाली फौज को बिदा करेंगे। हवाई जहाज को भी बिदा करेंगे।

(5) कोई पूंजीपति नहीं, जिनके कारखाने हमारे तमाम उद्योग को नष्ट कर डालेंगे और कोई जमींदार

---

* बापू राज पत्रिका के कुछ उपलब्ध अंकों को परिशिष्ट- 3 में समाहित किया गया है।

नहीं, जितनी लम्बी-चौड़ी जमीन होगी।

(6) अच्छे-अच्छे स्कूल, जिनमें हमारे बच्चे ईमानदार और मेहनती बनते जायेंगे।

(7) सब लोगों को शारीरिक काम करना होगा और सब को शुद्ध ताकत देने वाली खुराक प्राप्त होगी।

(8) किसी बाहर के मुल्क से कर्जा नहीं लेंगे। हमारा हिन्दुस्तान सीधा-सादा जीवन रखकर अपनी शक्ति से चलता रहेगा, क्योंकि दूसरों पर भरोसा रखने का मतलब गुलाम बन जाना है।

इस पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही वे अपने घोड़े 'माना' पर गांव-गांव जाती थीं और किसानों की सभाओं को सम्बोधित करती थीं। वे चाहती थीं कि किसानों को बहुत बड़ी संख्या में (लगभग दस हजार) दिल्ली ले जाकर पंडित नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद व अन्य नेताओं से उन्हें मिलायें और देश की वर्तमान सही स्थिति से उन्हें अवगत करायें। वे मानती थीं-"कांग्रेस सरकार ग्रामीण जनता से सम्पर्क बनाए हुए नहीं थी तथा सरकारी तन्त्र में व्याप्त भ्रष्टाचार राष्ट्र को खोखला बना रहा था।"

इस पत्रिका के चलाते रहने में उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और अन्त में इसका प्रकाशन पूरी तरह बन्द कर देना पड़ा। इन कारणों पर प्रकाश डालते हुए अपनी जीवनी में उन्होंने लिखा—

> मेरा उद्देश्य था, ग्रामवासियों को स्वावलम्बी अर्थ-रचना का वह प्रकार समझाने का प्रयत्न करना, जिसकी गांधीजी ने उनके लिए कल्पना की थी, और साथ ही उन्हें एक सादे विकेन्द्रित समाज की मांग प्रस्तुत करने के लिए एकत्र और संगठित होने की प्रेरणा देना। अवश्य ही यह एक विचित्र-सा साहस था। चूंकि मैं उन दूर के पहाड़ों में रह रही थी, इसलिए सारे लेख मुझ को ही लिखने पड़ते थे और पत्रिका का आर्थिक पक्ष भी मुझ अकेली के प्रयत्न पर ही निर्भर था। उस छोटे से पत्र को कुछ ग्राहक अवश्य मिल गये थे। परन्तु वह स्वावलम्बी कभी नहीं हुआ और अन्त में उसने मुझे दिवालिया बना कर छोड़ा। (पृ० 357)

कुछ समय बाद उन्होंने किसानों को दिल्ली ले जाने का विचार छोड़ दिया, कुछ आर्थिक और अन्य समस्याओं के कारण बापू राज पत्रिका का प्रकाशन भी बन्द हो गया।

गऊबल (कश्मीर) में

बहिनजी टिहरी गढ़वाल से जब कश्मीर गईं तब उनके साथ श्री जगदीश प्रसाद उनियाल और रामेश्वर दत्त* (ब्रह्मचारी जी) थे। उनियाल जी मेरे दिल्ली चले आने के बाद बहिन जी के पास आ गये थे और वे कई वर्षों तक उनके साथ रहे। वे इंग्लैण्ड भी गए, बहिनजी उन्हें बहुत काम का व्यक्ति मानती थीं।

मेरे अनुरोध पर उनियाल जी ने अपना एक संस्मरणात्मक लेख भेजा है, जो इस ग्रन्थ में सम्मिलित है। उनके व्यक्तित्व के बारे में उनके लेख से अधिक जानकारी मिलेगी।

गोपाल आश्रम छोड़ने के बाद वे बख्शी गुलाम मुहम्मद (जो उस समय जम्मू-कश्मीर के मुख्य मन्त्री थे) के आग्रह पर कश्मीर में 'कंगन' नामक स्थान में देवदार वृक्षों के सुन्दर वातावरण में रहीं। इस स्थान का नाम उन्होंने

---

* श्री रामेश्वर दत्त के विषय में एक संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट-7 में दिया गया है।

'गऊबल' रखा। उनका विचार था कि यहां की स्थानीय गायों को इंगलैण्ड से 'डैक्सटर' नस्ल की गायों के साथ मिला कर अच्छी नस्ल की गायें पैदा की जा सकेंगी। इसी उद्देश्य से उन्होंने छः डैक्सटर गायें और एक सांड वहां से मंगाया। कश्मीर में वे लगभग तीन वर्ष (1954-56) रहीं। इस बीच विदेशी नस्ल की गायों व सांडों के बारे में सरकारी नीति में काफी परिवर्तन हो गया था। इसलिए डैक्सटर गायों को हिमाचल प्रदेश में भेजना पड़ा।

गऊबल में अब उनके मन के अनुकूल कोई कार्य नहीं रह गया था। अब उनकी समस्या थी कि 'कहां जाएं' और 'क्या करें'?

अब तक के अपने द्वारा हिमालय में किये गये कार्यों पर आत्म चिन्तन करते हुए उन्होंने अपनी जीवनी में लिखा है—

> किसान आश्रम, पशुलोक, गोपाल आश्रम और गऊबल - सब मेरे जीवन में से सपनों की तरह निकल गये थे - कम से कम इतना तो स्पष्ट हो गया कि अब कोई सरकारी योजनाएं नहीं बनेंगी। (पृ० 366)

उपरोक्त पंक्तियों में मीरा बहन की अन्तस की पीड़ा झलकती है। कितना उत्साह था उनके मन में ग्राम और ग्रामवासियों के लिए कुछ करने का। कुछ ऐसा, जिससे न केवल उनकी आर्थिक व सामाजिक स्तर पर उन्नति हो अपितु उनके वन, कृषि व पशु भी उन्नत हों, परन्तु वह सब उस समय गड़बड़ा जाता था जब या तो धनाभाव आड़े आता था या सरकारी तन्त्र की घुस-पैठ।

फिर टिहरी गढ़वाल में - पक्षीकुंज

काश्मीर में लगभग तीन वर्ष रहने के बाद, मीरा बहन 1957 में फिर टिहरी गढ़वाल में चम्बा के ऊपर राणीचौरी के पास मेलधार में आकर रहीं। यह जगह उन्हें सबसे ज्यादा पसन्द आई। इस स्थान का नाम उन्होंने 'पक्षीकुंज' रखा.।

इस स्थान के बारे में उन्होंने लिखा है—

> यह जगह जो मुझे मिली, अत्यन्त सुन्दर थी - ऐसी जिसे पाने की मैं आशा नहीं रख सकती थी। वहां छोटे पैमाने पर घास की जमीनें थीं, देवदारु का वन था, और सामने पहाड़ों का सुन्दर और भव्य दृश्य था। शाम को जब मजदूर चले जाते थे, मैं हरे-भरे ढलानों पर ठहर कर सामने फैली हुई उस महान पर्वतमाला को देखती रहती थी, जिसमें बन्दरपूंछ, केदारनाथ और बदरीनाथ थे और दाहिनी तरफ़ नन्दादेवी तथा त्रिशूल के चारों ओर बीस से पच्चीस हजार फुट तक ऊंचे पहाड़ थे ——। (पृ० 368)

अपनी पसन्द के इस सबसे सुन्दर स्थान पर भी उनका मन अधिक समय तक नहीं रम सका। अब ऐसा आभास मिलता था कि उन्होंने अपना मन हिमालय को छोड़ने का बना लिया था। उन्होंने मुझे अपने 4.4.1958 के पत्र में लिखा था—

> मैं इससे सहमत हूँ या नहीं परन्तु यह सत्य है कि हिमालय का यह अत्यधिक सुन्दर और शांत स्थल 'पक्षीकुंज' मेरे से दूर हो रहा है।

इस पत्र से यह स्पष्ट संकेत मिलता था कि अब वे हिमालय में नहीं रह सकेंगी। इसी पत्र में उन्होंने यह भी लिखा था --

> "क्योंकि काफी समय से मेरे अन्तस में देर सबेर पश्चिम (यूरोप) जाने की बलवती इच्छा जागृत हो रही है, अतः मुझे अब इसे स्वीकार कर अपने मार्ग पर अग्रसर हो जाना चाहिए। मेरा यह भी विश्वास है कि आधुनिक भारत की अपेक्षा बापू के विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए वहां अधिक अनुकूलता है।"

पशुलोक सरकारी विभाग बना

1952-53 में पशुलोक की सम्पूर्ण भूमि (2146 एकड़) उत्तर प्रदेश सरकार के पशुपालन विभाग को हस्तान्तरित कर दी गयी थी। उन दिनों उत्तर प्रदेश सरकार के पशुपालन विभाग के आयुक्त श्री हर्ष बहादुर शाही थे। वे केन्द्र तथा उत्तर प्रदेश सरकार में कई उच्च पदों पर कार्य कर चुके थे। उन्होंने सेवाग्राम और गांधीजी के निकट रहे, पशु-विशेषज्ञ, श्री य०म० पारनेरकर की सेवाएं इस क्षेत्र के लिए प्राप्त कर लीं और फिर श्री पारनेरकर जी के मार्गदर्शन में यहां विभिन्न योजनाएं—गौ-सेवा, भेड़ पालन, बागवानी, खेती, वृक्षारोपण आदि—कार्यान्वित की गईं। पारनेरकर जी यहां पांच वर्ष तक रहे और बाद में उन्होंने अपने अनुभवों के आधार पर 'पशुलोक में पांच वर्ष' नाम से एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी। यह पुस्तक 'सर्व सेवा संघ' द्वारा 1961 मे प्रकाशित हुई थी।

कुल 2146 एकड़ भूमि में से 1048 एकड़ भूमि आई० डी० पी० एल०* (एन्टी-बायोटिक फैक्ट्री) आदि को दे दी गयी। शेष 1098 एकड़ भूमि में आजकल वहां 'केन्द्रीय भेड़ एवं ऊन अनुसंधान संस्थान' (Central Sheep and Wool Research Centre) स्थापित है। इसके वर्तमान उप-निदेशक डा० पी०एम० पाण्डेय हैं। 'पशुलोक' नाम तो अभी भी है, किन्तु मीरा बहन की कुटिया का कहीं नाम-निशान नहीं है। केवल वह जगह है जहां पर मीरा बहन की कुटिया बनी थी। इसी प्रकार उनके समय में जो थोड़े से मकान आदि वहां बने थे, उनकी जगह सैंकड़ों नये मकान, दुकान आदि बन गये हैं। वहां के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन को देखकर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि एक समय ऐसा भी था जब यह स्थान अधिकतर जंगली जानवरों (हाथियों आदि) का निवास स्थल था, और आदमी वहां जाने से भी डरता था, जबकि आज यहां बड़ी संख्या में लोग इधर-उधर आते-जाते दिखाई देते हैं। किसी समय के इसी बीहड़ में उस अद्भुत महिला ने अपने आश्रम की स्थापना की थी। मुझे याद है, भयंकर बरसात के दिनों में भी जब हम वहां साधनहीन अवस्था में रहते थे, ऐसे समय में तथा उन भय मिश्रित क्षणों में हमें उसी महान महिला के संकल्प, दृढ़ता और जीव-जगत के प्रति उनकी ममता का ही सम्बल होता था, जिसके आधार पर हम निर्भीक रूप से कार्य में व्यस्त रहते थे।

मीरा बहन ने भारत छोड़ा

1944 में जिस महिला ने जेल से छूटने के बाद हिमालय की गोद में ही कहीं बसने की कल्पना की थी, अब उन्होंने उसी हिमालय को, भारत देश को, छोड़ने का अंतिम निर्णय कर लिया था। मुझे उन्होंने अपने दिनांक 11.4.1958 के पत्र में लिखा था ** --

> -- लगता है तुमको मेरा भारत छोड़ना सुखद नहीं लग रहा है, परन्तु चाहे तुम ईश्वरीय प्रेरणा

---

* Indian Drugs and Pharmaceuticals Ltd.

** स्थान -- पक्षीकुंज, पो० ओ० चम्बा, जिला-टिहरी गढ़वाल (मूल अंग्रेजी में)

को स्वीकार करो अथवा नहीं – भौतिकता से घिरे रहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति अपने आपको अधिक ऊँचाइयों की तपन में भी स्वस्थ नहीं रख सकता हो, ऐसी स्थिति में उसे चाहिए कि वह एक ऐसे देश अथवा स्थान पर चला जाए, जहां कम ऊँचाइयों वाली शीतोष्ण जलवायु हो। निष्कर्षतः मुझे लगता है कि अच्छा यही होगा यदि आरम्भ में ही मैं इंग्लैण्ड चली जाऊँ। वहां मेरे कुछ मित्र और सम्बन्धी भी मिल सकते हैं और उधर कुछ स्थानों से मैं परिचित भी हूं।

पुनः 23.12.1958 को बहनजी का एक और पत्र मिला, जिसमें लिखा था कि वे 28 जनवरी को इंग्लैण्ड रवाना हो जायेंगी।

दिल्ली में आकर वे कुछ दिनों के लिए राष्ट्रपति भवन में (उस समय डा० राजेन्द्र प्रसाद, राष्ट्रपति थे) ठहरी थीं। गांधी स्मारक निधि में कार्यरत होते हुए भी मैं उनसे मिलने वहां जाया करता था।

एक दिन जब मैं बहनजी से मिलने राष्ट्रपति भवन गया हुआ था तो एक बहुत ही हंसा देने वाली घटना घटित हुई – रामेश्वर दत्त, जिन्हें वे सदा 'ब्रह्मचारी जी' कहा करती थीं, उनके साथ थे। उस दिन की घटना है कि कुछ कपड़े धोने के बाद उन्हें सुखाने के लिए रामेश्वर दत्त राष्ट्रपति भवन की छत पर चले गये थे। वहां अचानक उन्हें सुरक्षाकर्मियों (Security Personnel) ने पकड़ लिया और मीरा बहन के पास ले आये। उनके समझाने और आश्वासन देने के बाद ही उन्हें छोड़ा गया। जब हमने पूछा कि तुम राष्ट्रपति भवन की छत पर क्यों चढ़ गये थे, तो उन्होंने बहुत ही भोलेपन से कहा "मुझे क्या मालूम था कि यहां छत पर कपड़े नहीं सुखाये जाते।" 3 जनवरी को मीरा बहन तीन-चार भरे हुए बक्से* लेकर मेरे घर पर उन्हें छोड़ने के लिए आई थीं। 4 जनवरी को मैं राष्ट्रपति भवन में उन्हें प्रणाम करने गया और 5 जनवरी को वे बम्बई के लिए प्रस्थान कर गईं और वहीं से 28 जनवरी, 1959 को इंग्लैण्ड चली गयीं।

---

* इन बक्सों में उनके कुछ पुराने कपड़े, पुस्तकें, पत्र व्यवहार की प्रतियां आदि थे, जो तीन साल बाद उन्होंने वापिस मंगवा ली थीं।

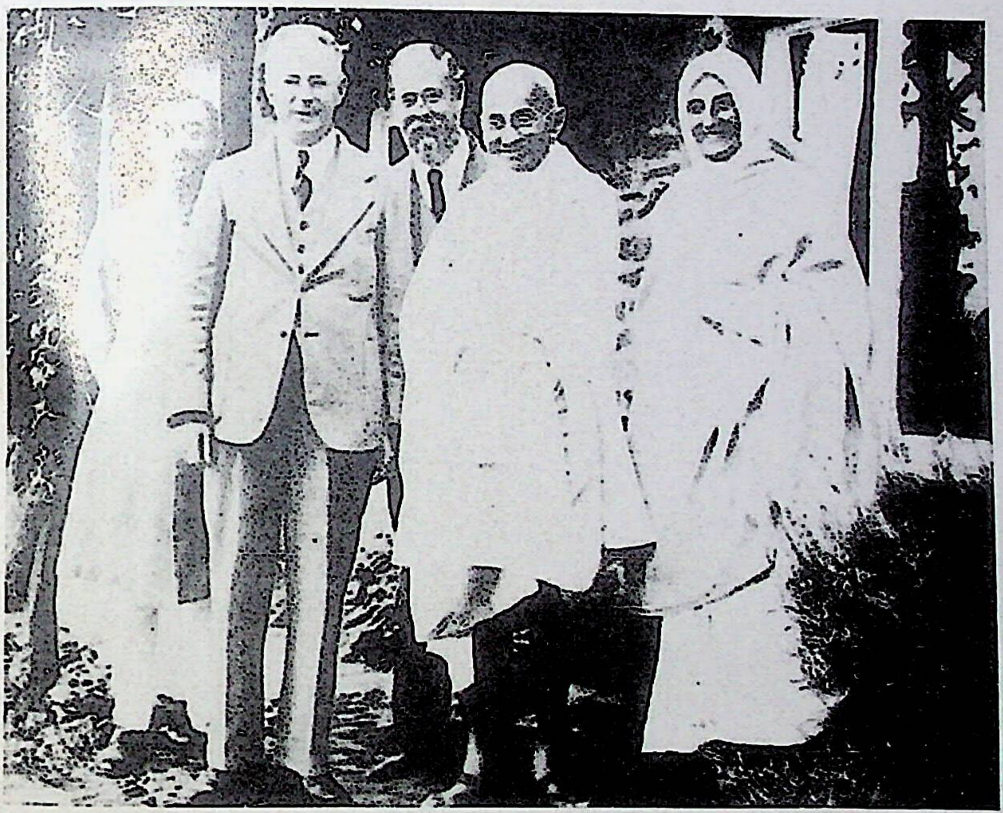

Mira behn with Gandhiji — at Round Table Conference, London (1931)

राउंड टेबल कान्फ्रेंस, लंदन में गांधी जी के साथ मीरा बहन

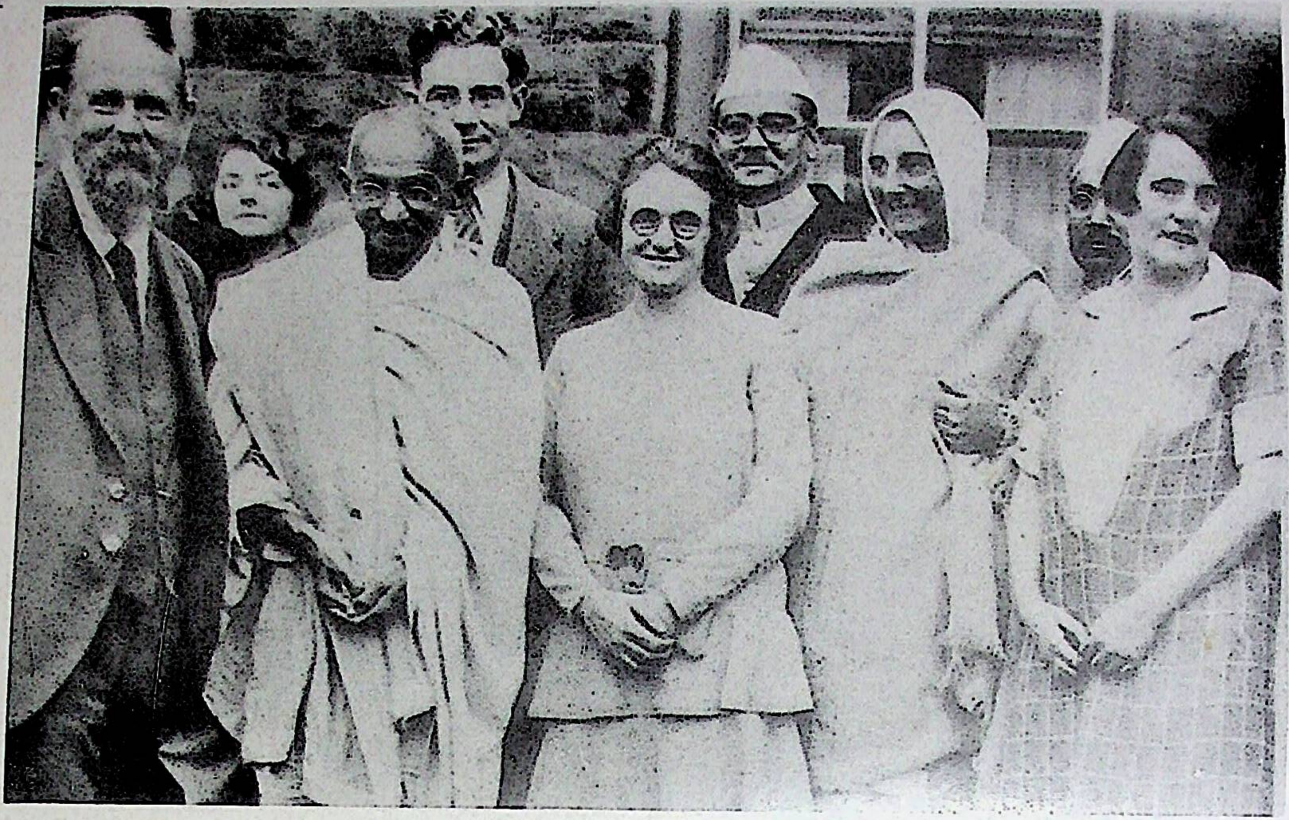

Mira behn with Gandhiji — at Round Table Conference, London (1931)

राउंड टेबल कान्फ्रेंस, लंदन में गांधी जी के साथ मीरा बहन

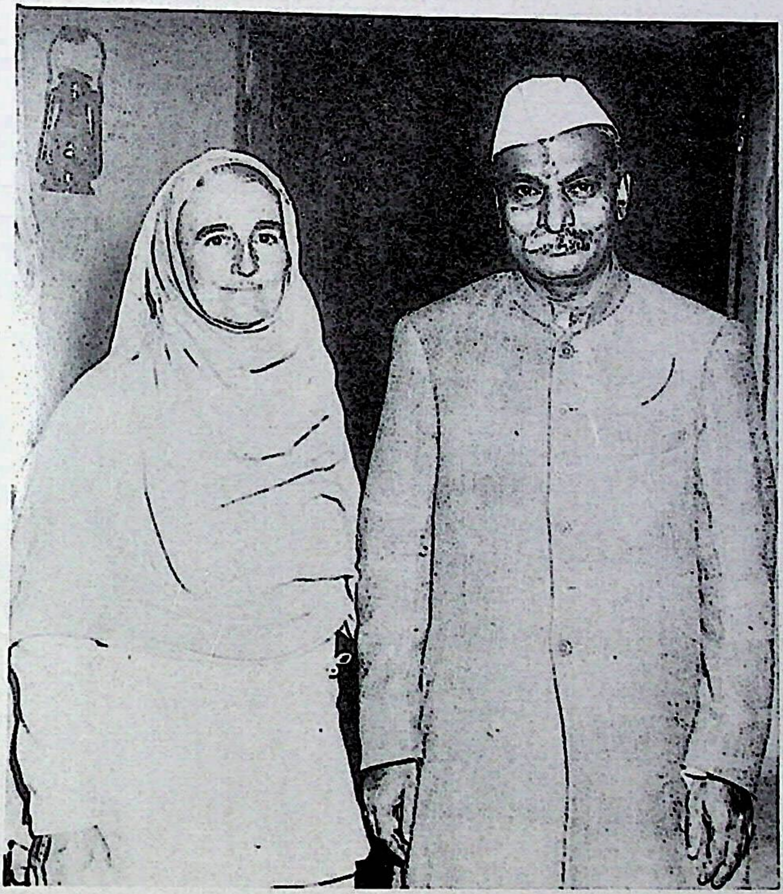

Courtesy — M.M. Lal

Mira behn with Dr. Rajendra Prasad

डा० राजेन्द्र प्रसाद के साथ मीरा बहन

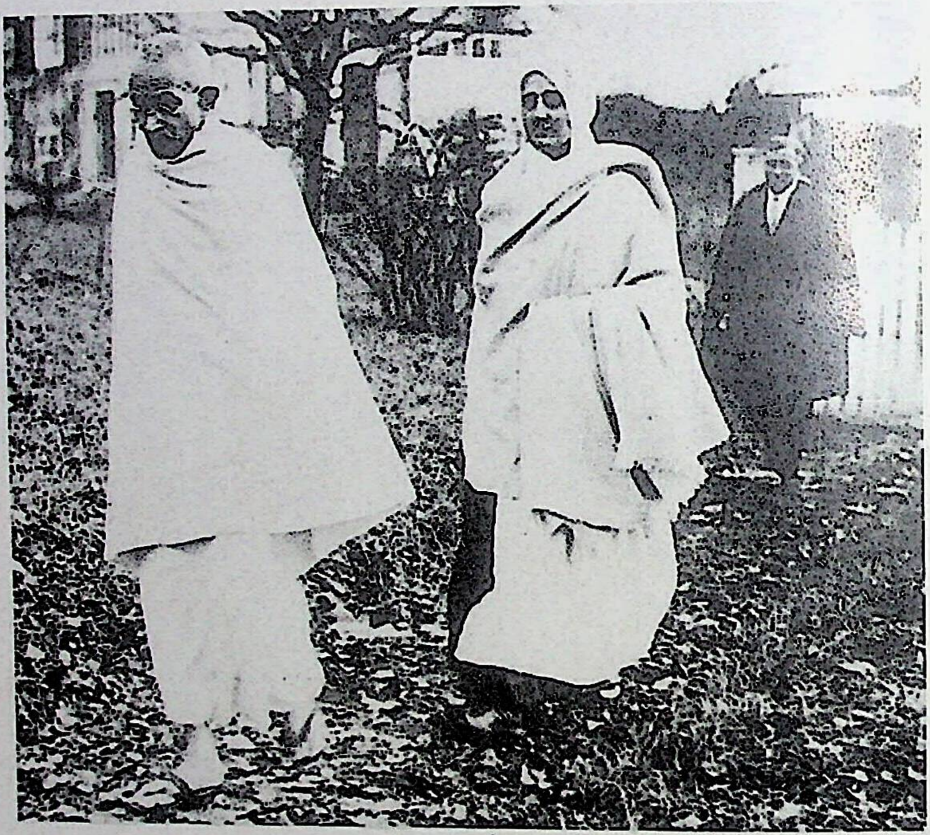

Mira behn with Gandhiji

गांधी जी के साथ मीरा बहन

इंग्लैण्ड और आस्ट्रिया में

इंग्लैण्ड मीरा बहन की मातृभूमि थी, अतः स्वाभाविक ही था कि वे भारत छोड़ने के बाद सबसे पहले अपनी मातृभूमि, इंग्लैण्ड ही गयीं। उन्होंने सोचा था कि वहां उन्हें अपनी प्रकृति के अनुकूल वातावरण मिलेगा, कुछ परिचित मित्र-सम्बन्धी भी होंगे। लेकिन लन्दन में कुछ दिन रहने पर उन्हें लगा कि यहां भी दुनिया बदल चुकी है - जिन बातों को वे भारत में पसन्द नहीं कर सकती थीं, वे यहां पर भी उन्हें कैसे अच्छी लगतीं? यहां के कोलाहलपूर्ण और भीड़-भाड़ युक्त वातावरण में वे अपने आपको खोया-खोया सा महसूस करने लगीं। यहां आकर जो कुछ उन्होंने देखा-सुना, उससे उन्हें निराशा ही हुई। उनकी कल्पना का समाज और वातावरण उन्हें यहां नहीं मिल सका।

लन्दन से मुझे उनका पहला पत्र* दिनांक 11 फरवरी 1959 का लिखा हुआ मिला। इसमें उन्होंने अपने लन्दन पहुंचने का समाचार दिया था। उन्होंने लिखा था कि निवास आदि का सन्तोषजनक प्रबन्ध यहां पर है, फिर भी लन्दन में कुछ सप्ताह ही रहने का उन्होंने तय किया।

दूसरा पत्र** लन्दन से ही दिनांक 19 मार्च, 1959 का था। इसमें उन्होंने लन्दन में लगभग पांच माह रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की थी, और इसके बाद वे आस्ट्रिया जाना चाहेंगी, ऐसा संकेत था। वास्तव में वे एक ऐसा शांत-एकान्त वातावरण चाहती थीं, जहां वे वृक्षों, पशु-पक्षियों और प्रकृति के सान्निध्य में अपने ही ढंग से अपना जीवन बिता सकें। ऐसा स्थान उन्हें आस्ट्रिया में ही मिल सकेगा, ऐसा उनको बताया गया था। इसलिये अब उनका लक्ष्य आस्ट्रिया में ही जाकर बसने का हो गया और उसी के अनुरूप अपनी तैयारी करने लगीं।

इंग्लैण्ड में रहते हुए उन्हें कई स्थानों पर सभा-सम्मेलनों में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जाता था। वे जहां भी जातीं, गांधीजी के आदर्शों का प्रचार-प्रसार करतीं, और उन्हीं से सम्बंधित अपने अनुभव सुनातीं। इसी अवधि में दो बार, सितम्बर 8 और 29 को उनकी बी०बी०सी० के माध्यम से वार्ता प्रसारित हुई, जैसा कि उनके पत्रों से स्पष्ट होता है।

आस्ट्रिया में

सितम्बर 1959 में ही बहनजी इंग्लैण्ड से आस्ट्रिया पहुंच गयीं। उन्होंने अपने दिनांक 21.9.1959 के पत्र*** में लिखा कि यह स्थान, यहां का जलवायु, आस-पास का वातावरण सब कुछ बहुत अच्छा है। यहां के लोग

---

* 33 कलैरेण्डन रोड, लन्दन, डब्लू-11

** ब्रुक हाउस, लॉटन, ऐसेक्स, इंग्लैण्ड

*** C/o Baronin Latscher, Unterbury, Post Kuhnsdorf, Karnten, Austria.

भी बहुत मिलनसार और सहयोगी है। यहां गांधीजी के प्रति लोगों में श्रद्धा और सम्मान है। मेरे इस अनुरोध पर कि वे हिमालय में अथवा भारत के किसी भी स्थान में, जो उन्हें अनुकूल लगता हो, वापिस आ जायें, तो इसी पत्र में उन्होंने लिखा --

> -- जिन कारणों से प्रेरित होकर मैं यहां आई हूं मुझे लगता है उनमें जीवन्तता है और यही वह स्थान है जहां पर मुझे कुछ समय तक रहना है। मेरा यह मानना है कि इस स्थान को मैं अपना मुख्यालय बनाऊं - बाद में शायद मैं भारत भी आ सकती हूं। वैचारिकता के आधार पर कह सकती हूं कि यदि आज बापू होते तो वे भी यह स्वीकार करते कि मेरा स्थान आज यहीं है, अन्यथा मुझे पश्चिम और पूर्व -- दोनों का ज्ञान क्यों होता? (मूल अंग्रेजी)

आस्ट्रिया में यह स्थान उन्हें अपने मन पसन्द का मिला, ऐसा उनके पत्र से स्पष्ट होता है। इसी पत्र में उन्होंने लिखा था कि इंग्लैण्ड में उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया था, लेकिन यहां ठीक है।

वियना से वे कुछ दिनों के लिए (दिसम्बर 1959 में) ग्रीस* (करन्थिया) में जाकर रहीं। ग्रीस भी उन्हें पसन्द आया, लेकिन इतना नहीं, जितना आस्ट्रिया। ग्रीस में करन्थिया से ऐथेन्स होकर वे वापिस आस्ट्रिया आ गयीं। आस्ट्रिया में उनके निवास स्थान बदलते रहे, क्योंकि स्थाई रूप से कहीं बस जाने के उद्देश्य से वे ऐसा शान्त एकान्त स्थान तलाश करती रहती थीं, जहां वृक्षों के साथ-साथ पशु-पक्षी भी हों, ग्रामीण वातावरण हो और आर्थिक दृष्टि से भी महंगा नहीं हो। लेकिन वे आस्ट्रिया छोड़कर किसी दूसरे देश में नहीं जायेंगी, यह उनका अन्तिम निर्णय था। अपने 19.10.1960** के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था --

> विश्वास करो अब मैं यहां स्थायी रूप से रहूंगी। मुझ में परिश्रम करने की क्षमता है तथा यहां का जलवायु भी उत्कृष्ट है। --- पास का वनावरण मेरा घर है और आशा करती हूं कि अन्ततः मैं इसके समीप अपने रहने के लिए एक छोटी कुटिया बना लूंगी। (मूल अंग्रेजी)

आस्ट्रिया में रहते हुए वे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का साप्ताहिक विदेश संस्करण तथा 'स्वराज्य' जैसे पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ती रहती थीं ताकि भारत में घटित हो रही घटनाओं की उन्हें जानकारी मिलती रहे। उनके व्यक्तित्व की यह भी एक विशेषता रही कि पृथ्वी के चाहे जिस भाग में भी उनको रहना पड़े, वे अपने को भारत की जनता के साथ जोड़े रखना चाहती थीं, ताकि किसी न किसी रूप में भारतवासियों की सेवा करती रह सकें और उन्हें हमेशा उन्नति तथा प्रगति का मार्ग दिखलाती रह सकें। भारत में, मुख्यतया हिमालय के क्षेत्र में, पेड़ों की अन्धाधुन्ध कटाई से होने वाली हानि, यहां के बिगड़ते हुए पर्यावरण, भू-स्खलन आदि के विषय में वे सदैव चिन्तित रहती थीं, और भारत सरकार के अधिकारियों तथा अन्य सम्बंधित लोगों का, पत्र-व्यवहार व लेखों आदि द्वारा इस समस्या की ओर ध्यान आकर्षित करती रहती थीं।

इसी सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के उस समय के कृषि मन्त्री, श्री एस०एस० बरनाला के साथ पत्र-व्यवहार में उन्होंने वृक्षारोपण तथा ओक (बांज) की महत्वपूर्ण भूमिका के बारे में अपने विचार व्यक्त किये थे। बाद में तत्कालीन प्रधान मन्त्री, श्री मोरारजी भाई देसाई को भी अपने 14 नवम्बर, 1978 के पत्र द्वारा उन्होंने इन्हीं विषयों पर उनका ध्यान आकर्षित किया था। तत्कालीन प्रधान मन्त्री और कृषि मन्त्री के साथ हुए पत्र-व्यवहार का हिन्दी

---

* Care of Post Master, Xylokartro, Carinthia, Greece.

** Sittendorferstrasse 18, Gaaden bei/Modling, N.O. Austria.

रूपान्तर परिशिष्ट-4 में प्रस्तुत किया गया है।

श्री मोरारजी भाई को लिखे गये पत्र में जिस लेख का उल्लेख है, वह The One Remedy (मात्र एक ही हल) इस पुस्तक में परिशिष्ट-5 में दिया गया है।

आर्थिक कठिनाइयां

आर्थिक दृष्टिकोण से वे साधारणतया कठिनाई में ही रहीं। 1969-70 तक केन्द्रीय गांधी स्मारक निधि से उन्हें सहायता मिलती रही - बाद में भारत सरकार की ओर से उनको मासिक 'पेंशन' के रूप में यह सहायता जारी रही। इससे किसी प्रकार वे अपना जीवन निर्वाह करती रहीं — साथ ही रामेश्वर दत्त की वहां (आस्ट्रिया में) मदद करने के अतिरिक्त भारत में उनके परिवार के लिए भी वे कुछ धन भिजवाती रहीं।

गांधी स्मारक निधि के ट्रस्टियों को उन्होंने दिनांक 13.3.1962 को एक पत्र लिखा था। इस पत्र में उन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति का ब्यौरा तो दिया ही था, आस्ट्रिया में स्थायी रूप से बसने का कारण भी स्पष्ट किया था। इस पत्र से पश्चिम और पूर्व की दुनिया के देशों में गांधीजी के आदर्शों को अधिक गहराई से समझने-समझाने की आवश्यकता पर भी उन्होंने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा था—

> — मुझे आपको कष्ट देते हुए खेद है, किन्तु यह प्रश्न यहां मेरे काम से सीधा सम्बन्ध रखता है। यह मेरे मासिक भत्ते के बारे में है, जो आप कृपापूर्वक मुझे भेजते हैं। वर्तमान स्थिति में जब कीमतों में लगातार वृद्धि हो रही है, टैक्स बढ़ रहे हैं और मैं ठण्डी जलवायु में रह रही हूं, यह आर्थिक सहायता भारत में तो पर्याप्त थी, यहां नहीं। इसके साथ अलग से मैं अपनी स्थिति और आवश्यकताओं के बारे में जानकारी दे रही हूं।
>
> आप यह मान लें कि मेरा आस्ट्रिया में आना अकारण नहीं है। यह मेरी जीवन यात्रा की एक स्वाभाविक पूर्ति है। बीथोवन के संगीत ने मुझे भारत की स्वतन्त्रता के प्रति भाग लेने की प्रेरणा दी और अब मैं अपने उसी वन क्षेत्र में आ गयी हूं जहां बीथोवन ने अपने जीवन का अधिकांश भाग व्यतीत किया था। भारत में रहते हुए अन्तिम दिनों में यदि मेरे जीवन में कुछ अशान्ति थी, तो उसका कारण यही था कि मेरे जीवन का कुछ मौलिक भाग अधूरा रह गया था। बापू इस बात को समझते थे और मुझे विश्वास है कि अब मैं यहां अपने इच्छित वातावरण में आ गयी हूं, इससे बापू बहुत प्रसन्न हुए होते।
>
> अन्त में मेरा आपसे निवेदन है कि आप पश्चिम में अपने काम की दिशा को एक नये प्रकार से सोचें। बापू जितने भारत के लिए थे, उतने ही यहां के लिए भी हैं। कुछ बातों में यहां (पश्चिम में) बापू के विचारों की मान्यता की अधिक गुंजाइश है, क्योंकि यह क्षेत्र दो विश्व युद्धों को झेल चुका है —।

इस पत्र में उन्होंने अपनी आय का ब्यौरा निम्न प्रकार से दिया था —

गांधी स्मारक निधि से प्रति माह रुपये 300.00
सेवाग्राम से प्रति माह रुपये 75.00
पितामह से मिलने वाली वार्षिक वृत्ति रुपये 140-00 (बापू के पास आने पर यह रुपये 500/- प्रतिवर्ष थी, जो अब कम हो गयी है)।

इस पत्र में उन्होंने अपने गिरते हुए स्वास्थ्य का भी उल्लेख किया। अन्त में उन्होंने गांधी स्मारक निधि से निवेदन किया कि उनको मासिक मानदेय रुपये 300/- के स्थान पर रुपये 500/- प्रतिमाह यदि स्वीकार कर लिया जाए तो उससे उन्हें बहुत ही शारीरिक और मानसिक राहत मिलेगी।

मीरा बहन की मांग के अनुसार गांधी स्मारक निधि ने उनकी मासिक मानदेय की रकम रुपये 300/- से बढ़ाकर, जुलाई 1962 से, रुपये 500/- मासिक स्वीकार कर ली थी।

फिर इंग्लैण्ड में

अपनी जन्म भूमि किसे प्यारी नहीं होती? आस्ट्रिया में मीरा बहन बस तो गईं; परन्तु भारत छोड़ने के बाद 1959 में वे सर्वप्रथम अपनी मातृभूमि इंग्लैण्ड ही गई थीं, लेकिन वह स्थान उनके विचारों व स्वभाव के अनुकूल नहीं बैठा, अतः कुछ मित्रों के सुझाव पर वे आस्ट्रिया चली गईं। फिर भी, सभा-सम्मेलनों आदि में भाग लेने के लिए कभी-कभी इंग्लैण्ड जाना ही पड़ता था। गांधी शताब्दी समारोहों के अवसरों पर भी वे वहां गईं।

गांधी शताब्दी समारोह

1969-70 में महात्मा गांधी की जन्म शताब्दी देश-विदेशों में मनाई गई। आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड में भी शताब्दी कार्यक्रम आयोजित किये गये, जिनमें मीरा बहन का हर प्रकार का सहयोग रहा। वियना में उन्होंने राजदूत काउन्ट कैसरलिंग और उनकी पत्नी काउन्टेस कैसरलिंग के सहयोग से शताब्दी कार्यक्रम क्रियान्वित किये।

लन्दन में गांधीजी की जन्म शताब्दी समारोह के कार्यक्रम में, गांधीजी के कुछ संस्मरण सुनाने हेतु लार्ड माउन्टबैटन ने मीरा बहन को आमन्त्रित किया था। उनकी वार्ता (संस्मरण आदि) सुनने के बाद लार्ड माउन्टबैटन ने उन्हें 24-10-69 को जो पत्र लिखा था, उसका हिन्दी रूपान्तर तथा मूल पत्र नीचे दिये गये हैं--

प्रिय मीरा बहन

मैंने जब गांधी जन्म-शताब्दी में गांधीजी को श्रद्धांजलि देने के कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए आपको निमन्त्रित किया और आपने वह स्वीकार किया, तभी आशा की थी कि आप गांधीजी से सम्बंधित कुछ अनोखे संस्मरण हमें सुनायेंगी। लेकिन 21 अक्तूबर के दिन जब रायल एल्बर्ट हॉल, लन्दन में यह समारोह सम्पन्न हुआ और आपने संस्मरणों को सुनाते हुए जो दृश्य उपस्थित किया तथा सुनने योग्य बातें बताईं, वे तो मेरी ऊँची से ऊँची आशाओं से भी परे, अधिक ऊँची तथा अधिक गहरी सिद्ध हुईं।

सचमुच ही आपने सारे जनसमुदाय को अपने जादू भरे शब्दों से वशीभूत कर सारे समारोह को अपने में समेट लिया था; आप इसकी अधिकारी भी थीं।

कार्यक्रम की समाप्ति पर मुझे अपनी भतीजी, बेडिन की मारग्रेविन, राजकुमार फिलिप की बहन की दफन क्रिया में सम्मिलित होने के लिए तुरन्त ही जर्मनी जाना पड़ा, परन्तु अब लौट आया हूं और हृदय की तमाम गहराइयों के साथ आपके प्रति आभार प्रदर्शन का कर्त्तव्य पूरा कर रहा हूं।

निःसन्देह किसी ऐसे व्यक्ति से मिलना जिसके विषय में गांधीजी सदैव ही प्यार-दुलार भरे

शब्दों में बोलते रहे हों, मेरे लिए कितना उत्साह वर्धक था। क्योंकि मैं भी नौसेनिक बेड़े में कार्यरत था, अतः मुझे सुनाते हुए वे (गांधीजी) अक्सर कहा करते थे - मेरे पास भी एक नौसेना अधिकारी की पुत्री है जो बहुत ही अद्‌भुत रूप से मेरी सेवा तथा मदद करती है।

पुनः अनेकों धन्यवाद सहित,

आपका

(बरमा का माउन्टबैटन)

Broadlands,
Romsey,
Hampshire,
SO5 9ZD
Telephone ROMSEY 3333.

24th October, 1969

Dear Mira behn,

I expected something quite exceptional when you kindly accepted my invitation to give reminiscences of Gandhiji at the Centenary Tribute to him at the Royal Albert Hall on the 21st October, but your own performance far exceeded my wildest hopes.

You absolutely captivated and charmed the entire audience and stole the whole show; and deserved to do so too.

I had to go off to Germany to attend the funeral of my niece, the Margravine of Baden, Prince Philip's sister, immediately afterwards but now I have got back I am writing to you at once to express my very sincere and heartfelt thanks.

May I add it was a great thrill to meet someone whom Gandhiji always spoke about with such affection. Because of my own service in the Navy he kept on drawing my attention to the fact that he had an Admiral's daughter with him giving him the most wonderful service and help.

Once more all my thanks.

Yours sincerely,
(Mountbatten of Burma)

इन्दिरा गांधी का सहयोग

अपने जीवन के अन्तिम चरण में उन्होंने एक बार फिर अपनी मातृभूमि लन्दन लौट जाने का तय किया और 1977-78 में कुछ समय के लिये वे इंग्लैण्ड में आ गईं, लेकिन यहां आकर उन्हें निराशा ही हाथ लगी। सबसे अधिक कष्ट उन्हें जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक संसाधनों के अभाव के कारण हुआ। इन्हीं दिनों श्री देवेन्द्र कुमार* की लन्दन में बहन जी से भेंट हुई। बाद में वापिस आने पर उन्होंने बताया था कि मीरा बहन के पास इतना भी पैसा नहीं था कि वे अपने लिये गरम कपड़े सिलवा सकें - पिछले तीन वर्षों से वे उन्हीं कपड़ों में गुजारा कर रही थीं जो उनके पास थे। कमाण्डर-इन-चीफ की बेटी, जिसके घर में अनेक नौकर-चाकर थे, उनकी ऐसी स्थिति की कल्पना करना घोर पीड़ा दायक है। इस पर भी वे खुश थीं - उनके मन में किसी के प्रति किसी प्रकार की द्वेष भावना नहीं थी।

भारत में इन दिनों श्री मोरारजी भाई देसाई प्रधानमन्त्री थे (इनका कार्यकाल 24.3.1977 से 28.7.1979 तक रहा)। उस समय हिमालय सेवा संघ के अध्यक्ष, श्री के०अरुणाचलम और श्री करण भाई के साथ मैं श्री मोरारजी भाई से मिला था और मीरा बहन की वर्तमान आर्थिक स्थिति से उन्हें अवगत कराया था। मोरारजी भाई ने सहानुभूति प्रकट करते हुए इतना ही कहा था कि यदि वे भारत में आ जायें तो हम उनकी सभी प्रकार से देख-भाल, सेवा-सुश्रूषा करेंगे। लेकिन वे भारत में नहीं आयेंगी, यह तो स्पष्ट ही था। वे लन्दन से पुनः आस्ट्रिया वापिस लौट गईं।

भारत की राजनीति में फिर फेर बदल हुआ और श्रीमती इन्दिरा गांधी पुनः प्रधान मन्त्री बनीं (14.1.1980 से 31.10.1984)। इससे पहले वे 24.1.1966 से 24.3.1977 तक प्रधानमन्त्री रहीं। मैंने इन्दिरा जी को मीरा बहन की आर्थिक स्थिति के बारे में एक पत्र 29.5.1980 को लिखा और उनसे निवेदन किया कि वे मीरा बहन की जिस प्रकार उचित समझें, मदद करें, ताकि वे अपने जीवन के अन्तिम चरण के शेष दिन सुविधा पूर्वक बिता सकें। मैंने उन्हें यह भी सुझाव दिया था कि यदि इस वर्ष जमनालाल बजाज ट्रस्ट की ओर से उन्हें पुरस्कार मिल जाए तो उचित होगा, इससे उनकी आर्थिक स्थिति भी कुछ हद तक सन्तोषजनक हो सकेगी। मेरे इस पत्र के उत्तर में इन्दिरा जी ने मुझे लिखा—

प्रधान मन्त्री निवास
नई दिल्ली

जून 1, 1980

प्रिय श्री गुप्ता,

आपका मई 29 का पत्र प्राप्त हुआ। मैं मीरा बहन से पूर्णतः परिचित हूं। कुछ वर्ष पूर्व जब मैं आस्ट्रिया गई थी तो मैंने विशेष रूप से उनसे मिलने का कार्यक्रम बनाया था तथा उन्हें अपने समारोहों

---

* केन्द्रिय गांधी स्मारक निधि के भूतपूर्व मंत्री

में भी आमन्त्रित किया था। मैं जानती हूं कि भारत सरकार ने उनकी मदद की है, परन्तु वह अत्यल्प है। आप स्वयं ही जमनालाल बजाज ट्रस्ट को क्यों नहीं लिखते। मैं भी इस दिशा में प्रयत्नशील रहूंगी।

आपकी

इंदिरा गांधी

(मूल अंग्रेजी)

प्रधानमन्त्री, इंदिरा जी के सुझाव के अनुसार मैंने श्रीमती मदालसा बहन को लिखा था और उनकी राय के अनुसार श्री रामकृष्ण बजाज को भी लिखा। मैं आशावान था कि उन्हें यह पुरस्कार मिल जायेगा, किन्तु ऐसा हो नहीं सका।

मीरा बहन को और अधिक आर्थिक कठिनाई का सामना न करना पड़े, इसे ध्यान में रखते हुए इन्दिरा जी ने इस सम्बन्ध में तुरन्त कार्यवाही की। उन्होंने भारत के आस्ट्रिया में स्थित राजदूत को आवश्यक निर्देश भिजवाये, फलस्वरूप मीरा बहन ने मुझे अपने 5.9.1980 के पत्र* द्वारा सूचित किया कि भारतीय राजदूत उनसे मिलने उनके निवास स्थान पर आये थे और अप्रैल 1980 से उनकी मासिक पैन्शन की रकम में आस्ट्रियायी शिलिंग 3400 की वृद्धि मंजूर की गयी है। इससे पहले भारत सरकार की ओर से उन्हें अप्रैल 1969 से आ०शि०4000 मंजूर किये गये थे। उन दिनों यह राशि भारतीय मुद्रा में रु० 1162 के लगभग बनती थी। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चय हुआ कि उनकी दवाइयों आदि का पूरा व्यय आस्ट्रिया में भारतीय दूतावास वहन करेगा। 20,000 आस्ट्रियन शिलिंग का एक चैक भी राजदूत ने उन्हें दिया।

फिर अपने 3.11.1980 के पत्र में उन्होंने मुझे लिखा --

--इन्दिरा जी की सहानुभूति पूर्वक कार्यवाही के कारण मेरी आर्थिक कठिनाइयों का समाधान हो गया है --।

पद्म विभूषण

भारत सरकार ने मीरा बहन की इस देश के तथा मानवता के लिए की गयी सेवाओं को देखते हुए उन्हें 1981 में 'पद्मविभूषण' से सम्मानित किया। यह अलंकरण ग्रहण करने के लिये वे स्वयं दिल्ली नहीं आ सकीं, क्योंकि उन दिनों वे अस्वस्थ थीं। वियना में ही भारतीय राजदूत ने अलंकरण से सम्बंधित औपचारिकतायें सम्पन्न कीं। इस अवसर पर उन्होंने प्रधानमन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी और राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी को अलग-अलग पत्र लिखकर उनका आभार प्रकट किया। ये दोनों पत्र 5 फरवरी, 1982 को लगभग एक-सी भाषा में लिखे गये थे जो मूल अंग्रेजी तथा हिन्दी रूपान्तर के साथ नीचे दिये गये हैं--

प्रधानमन्त्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी को

पद्मविभूषण प्राप्त कर मैं अत्यधिक द्रवित हो गई हूं। इन सब वर्षों में मैंने किया ही क्या है, यही न जिसके लिए मेरी अन्तश्चेतना ने मुझे प्रेरित किया - मैं अत्यधिक आभारी हूं।

---

* Kracking 6, 3443 Sieghartskrchen, Austria.

Letter to Prime Minister Smt. Indira Gandhi -

I feel quite overcome by the award of Padma Vibhushan. What have I done all these years but just follow the urge that guided me in my work - I am deeply touched.

राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी को

इस अलंकरण की प्राप्ति से मैं अत्यधिक द्रवित हो गई हूं, इन सब वर्षों में मैंने वही किया है जिसके लिए मेरी अन्तश्चेतना ने मुझे प्रेरित किया। भारत के इस प्यार भरे व्यवहार के लिए मैं अत्यधिक आभारी हूं।

Letter to the President Shri Neelam Sanjiva Reddy -

I am quite overwhelmed by such an award for simply having followed the urge that guided me all these years in my work. I feel profoundly touched by this expression of India's affection.

आत्मकथा सम्बन्धी संक्षिप्त नोट

'पद्मविभूषण' अलंकार की प्राप्ति के अवसर पर प्रैस के लिए मीरा बहन ने एक संक्षिप्त नोट लिख कर दिया था। इसकी एक प्रति (अंग्रेजी में) श्रीमती ली कलीचे ने वीयना से हमें भेजी थी। उसका हिन्दी रूपान्तर परिशिष्ट-6 में समाहित है।

मीरा बहन जो अब नहीं हैं

बापू के निर्वाण के बाद मीरा बहन बापू द्वारा प्रतिपादित रचनात्मक प्रवृत्तियों में, मुख्यतया हिमालय के सान्निध्य में सदैव सक्रिय रहीं। उनकी अभिलाषा भी यही थी कि हिमालय के किसी ऐसे क्षेत्र में जाकर वे स्थायी रूप से रहें, जहां से उन्हें हिमाच्छादित चोटियों के दर्शन होते रहें, जहां उनके प्रिय पशु-पक्षी, सघन वृक्ष आदि हों तथा जहां प्राकृतिक सौन्दर्य का आत्मीय आनन्द मिलता रहे। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु वे स्थान-स्थान पर घूमती रहीं। लेकिन यह विचार कभी क्रियान्वित हो सकेगा, ऐसा सम्भव होता हुआ दिखाई नहीं पड़ता था, और ऐसा हुआ भी नहीं।

1956 में काश्मीर छोड़ने के साथ ही उन्हें आभास हो रहा था कि भारत को भी छोड़ना ही होगा, परन्तु मार्ग स्पष्ट नहीं था। वे अपनी स्थिति को, एक तरह से अपने आपको ही, नहीं समझ पा रही थीं। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति में थीं - और उनकी अन्तरात्मा शायद कह रही थी—काश! आज बापू होते तो वे मेरा मार्गदर्शन करते।

वास्तव में वे बड़ी ही द्विविधा की स्थिति में थीं। गांधीजी की सच्ची अनुयायी बेटी होने के नाते वे बापू की अनुपस्थिति में अपने भविष्य के बारे में कुछ भी तय नहीं कर पा रही थीं। बापू के मार्गदर्शन, उनके पितृ तुल्य

स्नेह-प्यार से वे वंचित हो गई थीं। उनसे बिछुड़ने का दुख वे सहन नहीं कर पा रहीं थीं। बापू के आकस्मिक निधन ने उनके जीवन में एक प्रकार का शून्य पैदा कर दिया था - तभी तो उन्होंने लिखा था— "वे एक हो गये - मेरे लिये ईश्वर और बापू दो ही थे। अब वे एक हो गये हैं।*"

इसी अवधि में अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करते हुए उन्हें लगा कि कहीं पर कुछ कमी रह गई है, जिसे उन्होंने अपनी जीवनी में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है–

> जब मैंने अतीत पर विचार किया तो मैंने स्पष्ट रूप से महसूस किया कि मैं बापू को कभी भी पूरा सन्तोष नहीं दे सकी थी, क्योंकि कोई चीज ऐसी हमेशा मेरे भीतर दबी रही, जिसके कारण मुझ पर तनाव पड़ता था और जिसे समझकर बापू ने बार-बार मुझे चेतावनी दी थी–। (पृ० 368)

मीरा बहन 1925 में बापू के पास, रोमां रोलां से प्रेरणा पाकर ही भारत में आई थीं। अब उन्हें फिर रोमां रोलां और बीथोवन के अपने पुराने संस्मरणों की याद ताजा होने लगी - वे महान संगीतकार बीथोवन की पुस्तकें पढ़ने लगीं, जो रोमां रोलां ने उन्हें बहुत पहले दी थीं। इन पुस्तकों के अध्ययन और मनन से उन्हें एक नई दिशा का भान हुआ, जिसे उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया –

> कोई चीज मेरे भीतर आन्दोलन उत्पन्न करने लगी - वह कोई बुनियादी चीज थी। मैंने अपनी आंखें बन्द कर लीं। हां - यह उसी पुरूष की आत्मा थी, जिसके संगीत से मैं तीस वर्ष से अलग हो गई थी। मैंने उसकी (बीथोवन की) आत्मा की आवाज सुनी और उसके सान्निध्य को अनुभव किया -- मुझे उससे एक नया दर्शन और नई प्रेरणा प्राप्त हुई -- मुझे अपनी आत्मा के साक्षात्कार का भान हुआ -- इस जन्म का तीसरा और अन्तिम अध्याय आरम्भ हो गया था। यह समाप्ति नहीं, परन्तु आरम्भ था। (पृ०369)

बापू के निधन के बाद वे भारत में 11 वर्षों तक रहीं, यह भी एक बहुत ही विचारणीय बात है, क्योंकि थोड़े समय के लिए भी उनसे अलग रहना वे बर्दाश्त नहीं कर सकती थीं। इन वर्षों में वे बापू की स्मृति को अपने हृदय में छिपाये रहीं, और प्राणपन से भारतीयों की सेवा में जुटी रहीं।

मीरा बहन को अब केवल ईश्वर पर ही एकमात्र भरोसा रह गया था। उन्हें विश्वास था कि ईश्वर का मार्गदर्शन अवश्य ही मिलेगा, और उसी विश्वास के कारण अब उन्होंने अपनी मातृभूमि इंग्लैण्ड में लौट जाने का निर्णय किया था। वे इंग्लैण्ड चली गईं, लेकिन बचपन से ही एकान्त और प्राकृतिक वातावरण में रहने की चाह और बाद में बापू के सान्निध्य में लम्बी अवधि के अनुभवों के कारण वे इंग्लैण्ड के कोलाहल पूर्ण और शान-शौकत के जीवन में ठहर नहीं सकीं। कुछ समय इधर-उधर घूमने के उपरान्त, अन्ततोगत्वा आस्ट्रिया जाकर ही उन्हें अपनी पसन्द का स्थान मिला और वहीं बस गईं।

जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे वहां बापू के विचारों के प्रचार-प्रसार में ही लगी रहीं। उनकी आवश्यकताएं बहुत ही सीमित थीं। वृद्धावस्था में भी अनेक बार स्वयं पत्रों को टाइप कर लेती थीं, कपड़े धो लेती थीं, खाना पकाती थीं, घर की सफाई करती थीं और मिलने आने वाले अतिथियों का सत्कार भी करती थीं। यहां रहते हुए भी

---

* परिशिष्ट- 2

उन्होंने देश-विदेश के पत्र-पत्रिकाओं के लिये अनेक लेख आदि प्रकाशनार्थ भेजे - रेडियो, दूरदर्शन पर उनके व्याख्यान प्रसारित हुए।

बीथोवन के जीवन और संगीत से तो वे बचपन से ही प्रभावित थीं। यहां (आस्ट्रिया) रह कर उन्होंने लगभग 400 पृष्ठों की बीथोवन की जीवन गाथा लिखी।* लेकिन खेद की बात है कि वह उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो सकी। फिर इसी पुस्तक को संक्षिप्त रूप में 'द मिस्टिक विजन आफ बीथोवन' (The Mystic Vision of Beethoven) लिखा। बाद में उन्होंने बीथोवन पर एक छोटा लेख 'बीथोवन द मिस्टिक' (Beethoven the mystic) लिखा था, जो यूरोप की कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ।

धीरे-धीरे अवस्था के साथ-साथ उनका स्वास्थ्य क्षीण होता चला गया। उनके हृदय की गति काम करने लायक बनी रहे इस उद्देश्य से उन्हें हृदय में गतिनियामक यंत्र (Pace-maker) लगाया गया था।

उनके स्वास्थ्य के बारे में श्रीमती कलीचे, वियना से मुझे बराबर लिखती रहती थीं। मीरा बहन के अन्तिम दिनों में जब वे बीमार थीं, श्रीमती कलीचे और उनकी बहन श्रीमती रोजेटा स्पाल्ट ने उन्हें हर प्रकार की मदद दी। रामेश्वर दत्त तो वहां थे ही जो मृत्यु पर्यन्त उनकी सेवा में लगे रहे।

20 जुलाई, 1982 को उनका देहावसान हो गया। और इस प्रकार भारत की आजादी की लड़ाई में सम्मिलित होने के लिए पश्चिम से पूर्व की ओर आई, एक महान आत्मा, पुनः पश्चिम में जाकर, उसी अनन्त लौ में विलीन हो गई, जिससे छिटक कर उसने आजादी की, सिद्धान्तों की ओर जीवन को जीने की कला की एक लम्बी लड़ाई लड़ी थी। गांधीजी की यह मुंहबोली बेटी, मात्र बेटी ही नहीं थी, वह एक विश्वकोष थी, उन सब अवधारणाओं, चिन्तनों, आदर्शों की, जिसके लिए गांधीजी ने आजादी की लड़ाई लड़ी और शहीद भी हुए।

आस्ट्रिया में मृत लोगों को जलाने का नियम नहीं है। फिर भी मीरा बहन की अन्तिम इच्छा यही थी कि उनका दाह-कर्म किया जाए। उनकी अन्तिम इच्छा के अनुरूप रामेश्वर दत्त ने ही उनकी चिता को अग्नि दी थी। बाद में उनकी भस्मी भारत में भी लायी गयी और ऋषिकेश आदि कुछ स्थानों पर गंगा और हिमालय में उसका विसर्जन किया गया। इस प्रकार भारत की लाडली सदैव के लिए भारत की भूमि में समा गई।

मीरा बहन की स्मृति अक्षय स्मृति है। ऐसी स्मृति जो दृढ़ संकल्प, सत्यान्वेषण, विचारनिष्ठा तथा आचरण की उच्चतम प्रामाणिकता की अद्वितीय मिसाल है। उन्होंने गांधीजी को पूरी तरह समझा और उनके द्वारा प्रतिपादित तौर-तरीकों पर पूरा विश्वास करते हुए अपना जीवन जीया।

---

* The mystic vision of Beethoven's spirit.

उपसंहार

भारत के लिए समर्पित मीरा बहन बीसवीं शताब्दी की एक विलक्षण महिला थीं। अपनी इहलीला समाप्त कर भी आज वे हमारे बीच अपने विचारों, कार्यकलापों के कारण उपस्थित हैं। अनेक सचेत लोगों की तरह वह भी गांधीजी के प्रति आकर्षित हुईं और जहां भी वे रहीं, उन्होंने गांधी के विचारों के प्रचार-प्रसार में ही अपना जीवन सार्थक माना।

गांधीजी के विचारों को कर्म के क्षेत्र में रूपान्तरित करने का जो कार्य उन्होंने किया, वह एक तरह से गांधी विचारधारा को विभिन्न स्तरों पर क्रियान्वित करना, उन्हें परखना और उनके निष्कर्षों को मनुष्य-जाति के भविष्य के लिए सप्रमाणित करना है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि वे प्रभाववादी थीं। गांधीजी के कार्यक्रमों को पूर्णता देने में उन्होंने अपनी निजी, मौलिक शैली का भी सृजन किया था, जो विभिन्न दिशाओं से किये जाने वाले कार्यों के एक समग्र प्रभाव के रूप में है।

पराधीनता से उत्पन्न भारतीय जनजीवन की त्रासदी तथा उससे मुक्ति पाने के लिए स्वतन्त्रता-संग्राम की प्रत्येक गतिविधि की भागीदारी के अतिरिक्त वन-संपदा तथा जीव-जन्तु के प्रति उनकी ममता उन्हें पर्यावरण के आद्य विचारकों की अग्रिम पंक्ति में स्थान देती है। ममत्व और वैज्ञानिक दृष्टि का जो असाधारण समन्वय उनमें था, वह अन्यत्र दुर्लभ है। सबसे बड़ी बात थी कि वे पश्चिम से आकर पश्चिम के अंहकार से एकदम मुक्त हो गई थीं - पूर्व का जो दर्प अन्य प्रसंगों में भारतीय विचारकों में मिलता है, वे उससे भी एकदम अप्रभावित थीं। भारतीयता में एक रूप होने का उनका अपना निर्णय वास्तव में इस बात का द्योतक है कि वे मनुष्य के उत्कर्ष के लिये उसके प्राकृतिक स्वरूप में विश्वास रखती थीं। पाश्चात्य विचारों में एक कृत्रिमता है, इसका उन्हें पूर्ण ज्ञान था। वे इस बात से भी भली-भांति परिचित थीं कि पश्चिम का वैज्ञानिक विकास उसी कृत्रिमता की परिणति थी, इसलिए उन्होंने गांधीजी के व्यक्तित्व में इस कृत्रिमता से मुक्त होने का विकल्प देखा था। उनकी दृष्टि, विवेक और गांधीवादी विचारधारा से निर्मित थी। इसी के फलस्वरूप उन्होंने सहज संगत, सार्वभौमिक विश्व-दृष्टि का विकास किया था। उस सतत प्रक्रिया में हम मीरा बहन की सक्रिय आकृति आज भी महसूस कर सकते हैं। नामानुरूप, विश्वहित में विश्वमोहन परमात्मा के प्रति सर्वांग रूप से समर्पित मीरा बहन गांधीजी की पूरक व्यक्तित्व थीं और इतिहास में उनकी यह छवि सदैव अपना एक अलग स्थान रखेगी।

मीरा बहन के कुछ चुने हुए लेख

अनुक्रम

अविस्मरणीय 57

हिंसा की निरर्थकता 57

अल्मोड़ा का स्वतंत्रता संग्राम 58

बिहार की घटनाएं : छत्तवन 59

बिहार की घटनाएं : दरिद्रनारायण 60

स्वतंत्रता दिवस : 26 जनवरी 1930 62

एक महान गिरफ्तारी 64

भाईचारा 65

कोई समझौता नहीं 67

कारावास की कोठरी से 68

एक सरकारी कैदी 71

सावधान ! खतरा ! 72

पुलिस का आदर्श व्यवहार 73

कताई सेना 76

खादी चिंतन 77

कांचीपुरम् 79

यात्रामार्ग के स्फुट चित्र 80

झाडूवाला पुण्य यात्री 82

सेगांव में कार्यारम्भ : कुछ तथ्य और आंकड़े 83

आंध्र देश की एक झलक 85

सेगांव : रोज के अनुभव 86

मौत की आखीरी सीढ़ीपर 88

कचरे में से सोना 90

हमारा पशुधन 92

खोया स्वर्ग 92

सांस्कृतिक विजय 93

दीपक तले अंधेरा 94

अधिक अनाज कैसे पैदा किया जाए - भाग 1 96

अधिक अनाज कैसे पैदा किया जाए - भाग 2 98

अनुशासन का वरदान 104

गांधी-रोमां रोलां मुलाकात 105

बापू 106

विकास या विनाश 108

सांप-छछूंदर की गति 109

वनों का जलाक्रांत होना और भूमि का क्षरण 110

गुटबन्दी से कैसे बचा जाए 112

स्मृतियां 114

हिमालय की सीख 115

स्वर्ग के बीच नरक 130

लेकिन किसान और मजदूर कहां है? 131

इतना आसान नहीं है 132

जब संसद सदस्य हंसे 133

गायों के लिए भूमि 133

पहनावे के बारे में प्रधानमंत्री का परिपत्र 135

हिमालय क्षेत्र में पशु प्रजनन 137

हिमालय में विकास कार्य 142

आत्मा का विकास 145

ओक (बांज) के विलुप्त वन 146

अविस्मरणीय

आगरा में व्यतीत कर रहे अपने 'विश्राम के दिनों' में गांधीजी अपने पड़ौस से संध्या समय घर लौटने से पहले फतेहपुर सीकरी गए। सूर्य पश्चिम में डूब रहा था, अतः हमें मुख्य द्वार तक पहुंचाने वाली सीढ़ियों को पार करने के लिए काफी संघर्ष करना पड़ा। शाम की उस धुंधली रोशनी में वहां के अधिकारियों के स्नेहमय मार्गदर्शन में, हमने उस महान अद्भुत स्थान की सभी विस्मयकारी वस्तुएं देखीं।

क्योंकि रात घिर रही थी, अतः गांधीजी के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे सांध्य भोजन, दही और फल जिन्हें हम अपने साथ लाए थे, खा लें। हमें एक बहुत बड़े खुले चौक में ले जाया गया जहां पर चारों ओर पानी से घिरा हुआ सिंहासन स्थापित था। जन समूह जो कि सभी सार्वजनिक मार्गों व गलियारों में एकत्र हो गया था, वहां तक नहीं पहुंच सकता था। हमारे मेहरबान दोस्तों ने कहा, "गांधीजी के कलेवे के लिए यह स्थान उपयुक्त रहेगा" और वे गांधीजी को पानी के पार सिंहासन तक ले गए जहां पर लाल पत्थरों की पट्टी के ऊपर शुद्ध खादी की चादर बिछा दी गई थी।

चारों ओर के सुंदर और चित्ताकर्षक बरामदों को देखते हुए, जिनसे वह चौक घिरा हुआ था, मैंने एक भवन देखा जो कि अपनी तीन-चार शानदार मंज़िलों के साथ बहुत ऊंचा, आसमान में सिर उठाए हुए खड़ा था। मैंने अपने मन में कहा--'वह एक अच्छा श्रेष्ठ स्थान होगा' और शीघ्र ही मैंने अपने साथ के तीन चार साथियों को शिखर तक साथ देने के लिए तैयार कर लिया।

सूर्य अस्त हो गया था। पश्चिम का सारा भाग सुनहरी रोशनी में चमक रहा था, जिसके कारण आकाश तथा पार्श्व में खड़े उस प्राचीन स्थान के अनेकों गुम्बद व मीनारें गुलाबी आभा से द्युतिमान हो रहे थे।

मैंने बहुत नीचे चौक की ओर अपनी आंखें घुमाईं। उस सिंहासन के ऊपर जिस पर किसी समय शक्तिशाली मुगल अपनी शहंशाही शान-शौकत के साथ बैठते होंगे, रोशनी में एक सफेद चादर दिखाई दे रही थी और उसके ऊपर एक दुबली-पतली भूरी सी आकृति, घुटने तक धोती में लिपटी हुई, चुपचाप तथा ध्यानमग्न बैठी हुई थी, तथा उनके चारों ओर (प्रबन्धकों द्वारा उन्हें वहां से हटाने के प्रयासों के बावजूद) उनके ग्रामीण भाई सभी फाटकों, दरवाजों, खिड़कियों आदि से भीतर झांक रहे थे।

प्राचीन और अर्वाचीन का यह वैषम्य अविस्मरणीय था।

(यंग इंडिया 21.11.1929 - से अनूदित)

हिंसा की निरर्थकता

अपने विचारों में खोयी मैं दीघा घाट में एक सड़क के किनारे-किनारे प्रातःकालीन सैर से लौट ही रही थी कि अचानक किसी को पीटे जाने और जोर से बोलने की आवाज से मेरा दिवास्वप्न टूट गया। मुंह उठाने पर मैंने

अपने सामने टमटम खींचते एक भूरे रंग के छोटे से घोड़े को देखा। इसके कान पीछे की ओर मुड़े हुए थे और पूंछ टांगों के बीच में। हालांकि एक व्यक्ति उसकी लगाम खींच रहा था, दूसरा बग्घी में बैठकर इसे डंडे से पीट रहा था, दो या तीन टमटम को धक्का लगा रहे थे और सबके सब कर्कश आवाज में चीख रहे थे, फिर भी वह अपनी पूरी ताकत से टमटम न खींचने के लिए अड़ा हुआ था।

बिना कुछ कहे मैं उनके पास गयी और घोड़े की लगाम अपने हाथों में ले ली। वे सब लोग एक दम चुप हो गए और शांतिपूर्वक मुझे निहारते रहे। मैंने पहले घोड़े की लगाम ठीक की। यह लगाम आधी टूटी हुई थी और फिर सोचा कि लगाम पकड़कर घोड़े के साथ-साथ चलना बेहतर रहेगा। कुछ देर तो उसने चलने में आना-कानी की, लेकिन थोड़ी देर बाद वह आगे बढ़ने लगा और मेरे साथ शांत स्वभाव से चलता रहा। इस प्रकार मैं उसे मार्ग पर ले आयी लेकिन मैं उसे दुलकी चाल चलाने में असमर्थ रही। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं हैं क्योंकि बग्घी में अधिक सवारियां थीं और घोड़े का साज भी ठीक से नहीं बंधा था। इसलिए हमने सोचा कि धीरे चलना सर्वोत्तम होगा ताकि मंजिल पूरी हो जाए।

जब हम विद्यापीठ के मोड़ पर पहुंचे तो मैंने शुभ यात्रा की कामना करते हुए उनसे विदा ली। परन्तु मैं मुश्किल से कुछ ही कदम चली थी कि फिर मैंने वही जोर-जोर से धमकाने तथा मार-पीट की आवाज सुनी। उन लोगों ने अपना पुराना तरीका पुनः शुरू कर दिया था। इस बार घोड़ा पहले से कहीं अधिक हठ कर रहा था। वह पीछे की ओर भागता और बार-बार हठ करता जा रहा था और सब मिलकर भी उसे रास्ते पर नहीं ला सके। अंत में उन्होंने अपनी गलती का अहसास किया, उन्होंने घोड़े को जोर-जोर से धमकाना एवं पीटना बंद कर दिया, टमटम को हांकने वाला अपनी सीट से नीचे उतर गया, और घोड़े की लगाम पकड़कर धीरे-धीरे उसके साथ चलने लगा। इस प्रकार वे मेरी आंखों से ओझल हो गए।

यद्यपि अपने दैनिक जीवन में हम ऐसे छोटे-बड़े सबक सीखते रहते हैं तथापि हम में से हर एक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अन्याय सें अनुरक्त रहता है। कुल मिलाकर क्या मनुष्य मूर्ख नहीं है? इंग्लैण्ड सब कुछ प्राप्त करने की इच्छा से, भारत में खून-खराबा करता रहा, आंख दिखाता रहा और अत्याचार करता रहा, लेकिन अब जब भारत ने उसके प्रति घृणा प्रदर्शित करना शुरू किया तो उसे आश्चर्य हुआ और बौखलाने लगा।

और इस प्रकार ध्यानमग्न मैं चलते-चलते अपने नए दिवास्वप्न में खो गयी।

(यंग इंडिया 19.12.1929 - से अनूदित)

अल्मोड़ा का स्वतंत्रता संग्राम

अल्मोड़ा एक सुंदर नगर है और वहां की जलवायु भी असाधारण है, इसी कारण बर्तानवी लोगों, खासतौर पर उनकी सेना द्वारा इस नगर का दमन किया जाता रहा है, फिर भी यहां के लोग राष्ट्रीय संग्राम (स्वतंत्रता) में कभी पीछे नहीं रहे हैं। अतः स्वाभाविक रूप से विदेशी आक्रांता यहां के लोगों से नाराज रहे जैसा कि नीचे दिए गए निजी पत्र के सारांश से पता चलता है —

अल्मोड़ा नगरपालिका के बोर्ड ने 26 मई को नगरपालिका के कार्यालय पर राष्ट्रीय ध्वज

फहराने का प्रस्ताव पास किया।

जिस इमारत में नगरपालिका का कार्यालय है वह सरकारी इमारत है। प्राधिकारियों ने नगरपालिका पर राष्ट्रीय ध्वज न फहराने की चेतावनी दी थी। नगरपालिका बोर्ड ने इस चेतावनी के सामने घुटने टेक दिए, लेकिन नगर के लोग इस चेतावनी से नहीं डरे और जलूस के रूप में ध्वज को लेकर नगरपालिका के कार्यालय पर पहुंचे। श्री मोहन जोशी के नेतृत्व में जब जुलूस नगरपालिका के कार्यालय की इमारत के द्वार पर पहुंचा तो प्राधिकारियों ने जुलूस को अवैध घोषित कर लोगों को तितर-बितर होने के आदेश दिए। अधिकांश भीड़ तो तितर-बितर हो गई लेकिन सर्वश्री मोहन जोशी और शांतिलाल के साथ थोड़े से स्वयं सेवक वहीं जमे रहे। फलस्वरूप उपायुक्त, जो घटना स्थल पर पहुंच गए थे, ने गोरखाओं को उन लोगों पर लाठी बरसाने का आदेश दिया। उस समय वहां 40 से 50 गोरखा और 8 से 10 पुलिस के सिपाही मौजूद थे। स्वयंसेवकों और नेताओं पर क्रूरतापूर्ण हमला किया गया। ऐसा लगता है कि श्री शांतिलाल की पसली टूट गई है, क्योंकि वे अपने शरीर के बाएं अंग को हिला-डुला नहीं सकते थे। लगता है उन्हें प्ल्यूरिसी हो गई है। श्रीयुत जोशी को चोट लगने से बुखार हो गया है।

अल्मोड़ा जैसे स्थान पर जहां चारों ओर सेना ही सेना है, लोगों ने इस तरह अपनी स्वतंत्र भावना का प्रदर्शन किया, उसके बारे में सोच कर बड़ा हर्ष होता है। स्थानीय नेता जिन्हें बहुत गहरी चोटें आईं, मेरे निजी मित्र हैं, और इन लोगों ने जिस बहादुरी से आजादी की लड़ाई लड़ी, उसे जानकर प्रत्येक व्यक्ति का दिल खुशी से झूम उठेगा।

(यंग इंडिया 19.12.1929 - से अनूदित)

बिहार की घटनाएं : छतवन

छतवन मधुबनी से आठ मील दूर नेपाल की तराई के समीप विशाल सपाट भूमि पर बसा एक छोटा सा गांव है। यह सफेद कपास की कताई का केन्द्र है। एक अकेले इसी गांव में 300 से अधिक चर्खे चलाए जा रहे हैं और आस-पास के गांवों की स्त्रियां भी अपना सूत बेचने के लिए यहीं लेकर आती हैं। फिलहाल छतवन में हर माह 40 मन से कम सूत एकत्र नहीं किया जा रहा है और उसे बैलगाड़ियों में लादकर बुनाई के लिए मधुबनी भेजा जाता है।

पिछले वर्ष मैं तीन महीने तक इस गांव में रही और रोजाना किसानों से मिलती रही तथा उन्हें नए प्रकार की धुनकी की जानकारी देती रही। उस समय मुजफ्फरपुर के सेवाश्रम से कई साथी मेरे साथ आए थे।

गांव में बहुत गरीबी है। थोड़े से लोग ही जमीन के एक बहुत बड़े भाग के मालिक हैं। शेष लोगों के पास मात्र एक अथवा दो एकड़ भूमि है, या उनके पास उनकी झोंपड़ी और उसके प्रांगण के अलावा कुछ भी नहीं है। महीनों और वर्षों तक घर से दूर रहते हैं और कभी-कभी वे अपने बच्चों और स्त्रियों के लिए बहुत मामूली धन भेज देते हैं, परन्तु कभी कुछ भी नहीं भेज पाते हैं। ऐसी परिस्थितियों में उन स्त्रियों और बच्चों के लिए तथा गरीब विधवा स्त्रियों के लिए भी कताई का यह चरखा, जीवन यापन का सहारा बनता है। अनेकों ऐसी भी स्त्रियां हैं

जिनका गुजारा इस चरखे पर ही निर्भर है।

इन भागों में ए०आई०एस०ए०(All India Spinners Association अर्थात अखिल भारतीय चर्खा संघ) के आने से हजारों भूखे मरते लोगों के लिए जीवन यापन के साधन उत्पन्न हुए हैं और उनके जीवन में आशा की एक किरण जगी है।

जब कोई व्यक्ति स्वयं अपनी आंखों से खादी के धागों को बनता देखेगा तब गांधीजी के इस कथन का अर्थ उसकी समझ में आएगा कि खादी पवित्र धागे से बनती है और इसे पहनना ही हमारा परम कर्तव्य है, अधिक कुछ नहीं।

(यंग इंडिया 2.1.1930 - से अनूदित)

बिहार की घटनाएं : दरिद्रनारायण

दिन ढल गया था, शाम हो रही थी जब मैंने छोटे से गांव छतवन में उन किसानों से भेंट करना आरम्भ किया जिनके साथ गत् वर्ष मिलजुल कर काम किया था। इस गांव में एक धुनकी (कार्डिंग मशीन) की जांच करनी थी और एक बूढ़े बीमार का हालचाल पूछना था। गांव की गलियों से गुजरते हुए मैं दाएं-बाएं छोटे-छोटे कच्चे घरों में घूमती रही।

क्या गरीब के प्रेम से अधिक मीठी कोई वस्तु हो सकती है? और मैं अपने आप से कहने लगी — यदि राजा और जमींदार अपने धन को व्यक्तिगत विलासिताओं और विदेशी फैशन पर खर्च करने के स्थान पर, जैसा कि वे प्रायः करते भी हैं, अपनी गरीब जनता से मिलें-जुलें और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने उस धन को लगाएं जिसे वे विलासिता में व्यय करते हैं तो इससे उन्हें परम आनंद का अनुभव होगा। जो लोग आज दुःख और उपेक्षा से मर रहे हैं उनकी सेवा करने से इन्हें किस प्रकार का प्रेम प्राप्त होगा और उन लोगों को ये किस प्रकार का आनंद प्रदान करेंगे, अकल्पित है।

एक बच्चे की आवाज से मेरा ध्यान टूट गया —"आइए, आइए, आपको हमारे घर में आना चाहिए।" हां अवश्य, क्योंकि उस घर में एक अंधा बूढ़ा मुसलमान था और एक छोटा लड़का भी जो पिछली बसन्त ऋतु में बहुत बीमार रहा था।

मेरी आवाज सुनकर उस बूढ़े आदमी ने जोर से कहा अरे! मीरा बहन आप हैं (अपनी मीठी सिंग-सोंगी बिहारी बोली में वे मुझे मीरू बहिन बोलते थे) और उनका चेहरा खुशी से खिल उठा जो किसी भी व्यक्ति की आंखों में आंसू लाने के लिए पर्याप्त था।

"आपका पौत्र कैसा है?" मैंने पूछा।

उसने बताया-"भगवान की दया से वह बच गया है।" और वहां एक और छोटा बालक भी था जो दूर बैठा खुशी से गन्ना चूस रहा था।

दादी मां द्वारमार्ग पर बैठी थी, और अपने चरखे पर सूत कात रही थी। बूढ़ा दादा (अंधे आदमी का बड़ा

भाई) दिन भर के परिश्रम से थककर खेतों से लौटा था। लेकिन अपनी थकान के बावजूद वह मित्रवत् भावना से खुश हो गया।

"अरे मैं तो आप के आने की जानकारी लेने के लिए सबेरे डिपो पर गया था। आप कैसी हैं ? आप कितने दिन यहां रहेंगी ?" और इसके बाद बहुत सी बातें की।

जैसे ही मैं चलने को हुई, बूढ़े आदमी ने गहरे दुःख से देखते हुए तथा अपने पतले हाथ फैलाते हुए कहा— "अरे हम क्या दे सकते हैं? हम इतने गरीब हैं कि घर में आपको देने लायक खाना भी नहीं है।"

और वास्तव में वे लोग गरीब हैं, गांव के सर्वाधिक गरीबों में से एक।

अब देर हो रही थी। सूर्यास्त हो गया था। लेकिन पास ही एक घर था जहां पिछले बसन्त में एक आदमी बुखार से बहुत पीड़ित था, अतः मैं उसे देखने वहां गई। आंगन में घुसते ही मैंने देखा कि दो स्त्रियां अनाज साफ कर रही हैं। उन्होंने मुझे पहचान लिया, लेकिन वे चुप रहीं।

उस दरवाजे की ओर, जहां मैं प्रायः उस बीमार आदमी को देखने जाया करती थी, इशारा करते हुए मैंने पूंछा— "वह कैसा है?"

उन्होंने बताया—"वह मर गया है।" और अपने चेहरे अपनी साड़ी से ढक लिये।

इस दुःख को शब्दों में नहीं कहा जा सकता और एक मिनट तक हम चुपचाप रहे। इसके बाद मैंने मृत आदमी की बूढ़ी मां के बारे में पूछा, वह काम करने के लिए खेत पर गई थी। अब उन्हें जीवन के लिए संघर्ष करना था क्योंकि उनके परिवार में कोई कमाने वाला आदमी नहीं रह गया था, दो भाई पहले ही मर गये थे और आखिरी भी चल बसा। इस परिवार में केवल स्त्रियां और बच्चे रह गए थे।

रात की गहरी नीली चादर आसमान पर छा रही थी, पूर्व दिशा में तारे चमकने प्रारम्भ हो गए थे, लेकिन मुझे एक और घर में जाने की जल्दी थी। वह घर सदैव अत्यंत कंगाल और सब तरह से दीनहीन रहा था, और वहां जाए बिना मैं घर नहीं लौट सकती थी। यह गांव के बाहर आखिरी घर था और इसके आगे खुले खेतों के अलावा कुछ नहीं था। मैंने उसके आंगन में प्रवेश किया। वहां अंधेरे में अभी भी एक आदमी नई काटी गई धान की फसल जिसे वे दिन में घर लाए थे समेट रहा था और प्रांगण के एक किनारे में कुछ महिलाएं शाम का मामूली भोजन तैयार कर रहीं थीं। उन्होंने मेरी ओर देखा लेकिन कहा कुछ नहीं। वे सब लगातार कठिन परिश्रम करती थीं। वे सदा ही ऐसी मेहनत पसन्द करती थीं इसलिए मैं आराम से उन्हें देखती रही। इसी समय अंधेरे में बरामदे से किसी ने मेरी ओर संकेत किया। मैं वहां गई। वह अत्यंत गरीबी में दबी, बुखार से ग्रस्त महिला थी, उसके पास दूध, दवा तथा और कोई सुख साधन उपलब्ध नहीं था।

"मीरू बोहिन"— वह बुदबुदायी—"आप मेरी हालत देखती हैं। बताइए मुझे क्या करना चाहिए।"

कितनी भयानक दुःख भरी स्थिति थी। वास्तव में वह क्या कर सकती थी? मेरे साथ दवाई नहीं थी, लेकिन जो भी सर्वाधिक मैं कर सकती थी मैंने किया। मैंने उसे गर्म पानी पीने और अर्थ बैंडेज के उपयोग की सलाह दी। उसने ध्यानपूर्वक सुना और इसके बाद निराशा पूर्वक मुझे देखकर कहा—"लेकिन इन वस्तुओं को कौन तैयार करेगा ?"

इस समय आंगन की दूसरी ओर से कुछ स्त्रियां मुझे जोर-जोर से पुकारने लगीं । मैं उस ओर गई तो एक स्त्री मुझे शीघ्रता से अपनी झोंपड़ी में ले गई । झोंपड़ी का फर्श छोटे-से तेल के चिराग से धुंधला-धुंधला दिखाई दे रहा था । वहां मैंने गंदे तथा जीर्ण-शीर्ण कपड़ों का एक ढेर-सा देखा । वह उसका पति था । झोंपड़ी में प्रवेश करते ही जैसे ही उसने मेरी आवाज सुनी, वह मेरी ओर घूम गया और अपनी आंखें खोलकर एक अत्यंत व्याकुल दृष्टि से मुझे देखने लगा ।

इसके बाद उसने कहा, "आप आई हैं मैंने सुना था" — और अपना हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया ताकि मैं उसकी नब्ज देख लूं ।

उसकी त्वचा जल रही थी और नब्ज बहुत तेज थी । बुखार उसे अस्वाभाविक शक्ति दे रहा था, और जोर की उत्तेजित आवाज में उसने जल्दी जल्दी अपने दुखों की कहानी कहनी शुरू कर दी — कई दिनों और हफ्तों से बुखार है, फिर एक दिन अस्पताल भी गया, वहां उन्होंने मुझे कुनेन की अधिक मात्रा दे दी । उसके बाद बहुत पीड़ा हुई और अंदर की अत्यधिक गर्मी से बुखार और बढ़ गया । अब ताकत नहीं है, काम भी नहीं हो सकता और गरीबी बढ़ रही है, चारों ओर निराशा ही निराशा ।

"मेरी मदद करो" — अपने कमजोर हाथों को हवा में हिलाते हुए वह चिल्लाया — "इस बुखार को खत्म करने के लिए मुझे कुछ दे दो ।"

मैंने उसे आराम करने की सलाह दी । धीरे-धीरे वह शांत हो गया । और मुझे भी दूर जाना था ।

ओह! ऐसी भयानक बीमारी की स्थिति में एक व्यक्ति अपने आपको कितना शक्तिहीन महसूस करता है ।

"भगवान इन गरीब लोगों की मदद करें" —यही मेरे दिल की आवाज थी ।

और तब उस क्षण मैंने हर तरफ ईश्वर की उपस्थिति अनुभव की । ईश्वर ही है जो हमेशा इन गरीबों के बीच रहता है । यदि वह नहीं होता तो ये गरीब लोग बहुत पहले पागल हो गए होते ।

इस प्रकार गंभीर चिन्तन-मनन करते अंधेरी गलियों से गुजरती हुई मैं यार्न डिपो में वापिस पहुंच गई ।

(यंग इंडिया 2.1.1930 - से अनूदित)

स्वतंत्रता दिवस : 26 जनवरी 1930

व्रत, प्रार्थना और श्रम से युक्त इस पूरे दिन में मेरी आंखों के सामने दो तस्वीरें उभर कर आईं । एक भारत की और दूसरी इंग्लैण्ड की ।

एक समय का गौरवशाली और समृद्ध भारत आज निर्धन, भूखों मरता, अनपढ़, अंग्रेजों के अपने लाभ के लिए बनाए गए करों और महसूलों ने जिसका खून चूस लिया है, जिसका कच्चे माल का भण्डार सूना हो गया है, कुटीर उद्योग तबाह हो गये हैं, और जो अंग्रेजों की बेहद मंहगी फौज और नागरिक प्रशासन के बोझ तले कष्ट से छटपटा रहा है, अब अपनी पुरानी छवि की छाया मात्र रह गया है ।

यही सब सोचते हुए मेरे दिमाग में दुखी किसानों से भरे भारत के सत्तर लाख गांव घूम गए, जहां असहाय विधवाओं के लिए कोई सहायता नहीं, बुजुर्गों के लिए कोई आशा नहीं, बेरोजगारों के लिए कोई काम नहीं, अनगिनत गांवों में छोटे बच्चों के लिए कोई स्कूल नहीं, और इस सब को खामोशी से देख रही पुलिस उनकी रक्षा करने के स्थान पर उन्हें आतंकित करने में अधिक सजग है।

मैंने वे अनगिनत घर देखे हैं जिनमें बढ़ते हुए बच्चों के पोषण के लिए दूध, घी और तेल भी नहीं था, बल्कि अगर कुछ था तो थोड़ा सा चावल का मांड, थोड़ी सी रोटी और थोड़ा सा नमक। मैंने झोपड़ियों के दरवाजों पर बंधे, भूख से मरते पशु (ढोर) देखे हैं, और देखे हैं बीमारी और अल्प पोषण के कारण जर्जर, निढाल और मरियल से स्त्री-पुरुष।

ये सारी वास्तविकताएं मैंने अपनी आंखों के सामने देखी हैं। मैंने काफी हद तक, भारत के किसानों के बीच रहकर काम किया है और मस्तिष्क में समा जाने वाली ये तस्वीरें, वास्तव में देखे हुए सत्य की याद की एक छाया भर ही थीं।

इसके ठीक विपरीत दूसरी तस्वीर थी इंग्लैण्ड की जो अपनी शान और व्यापार के बूते पर गर्व से सिर उठाए हुए, एक ऐसे महान साम्राज्य की महारानी, जो समृद्ध, धन-धान्य से भरपूर, पढ़ी-लिखी, अपनी जनता के लाभ के लिए बनाए गए करों व महसूलों से पोषित, दूसरों के कच्चे माल के आधार पर अपने भारी-भरकम उद्योगों की जरूरतें पूरी कर रहा है। जिसकी अपनी फौज और अपना प्रशासन है। यह सच है कि इक्के-दुक्के स्थानों पर, विशेष कर बड़े औद्योगिक शहरों में गरीबी और कष्ट भी देखने को मिलते हैं, लेकिन भारत की तरह ऐसी स्थिति को विपत्ति की स्थिति तो कतई माना ही नहीं जा सकता!

मेरे दिमाग में इंग्लैण्ड के मुस्कराते हुए देहात और उसमें रहने वाले सुखी और सम्पन्न किसानों की तस्वीर उभर आई। असहायों, बूढ़ों, बीमारों और बेरोजगारों को राज्य से मिलने वाली सहायता तथा पूरे देश में प्रत्येक छोटे बच्चे के लिए पौष्टिक आहार, शिक्षा और इस सब को रक्षित करती हुई वहां की सम्मानित पुलिस।

मैंने खुशी से चहकते वे कौटेजनुमा मकान देखे हैं जिनमें बच्चों के लिए दूध था और बड़ों के लिए पनीर, मांस (सूअर का) और अन्य चर्बी युक्त वस्तुएं थीं। मैंने शाम को घास के मैदानों से लौटती हट्टी-कट्टी सुंदर गायों को देखा है और देखे हैं स्वस्थ और बलवान स्त्री-पुरुष।

बार-बार मेरी आंखों के सामने वे सब सम्पन्नताएं उभर-उभर कर आती रहीं जिन्हें मैंने देखा है। मैंने इंग्लैण्ड के खेतिहरों के बीच में रहकर कुछ सीमा तक काम किया है, और दिमाग में यादों के झरोखों से वही झलकता है जो कुछ देखा गया हो।

ओ! इंग्लैण्ड के भाइयो और बर्तानवी धन्धों के समर्थक भारतीय भाइयो – "देखो, इस तस्वीर को देखो।"

क्या तुम्हारी आंखें नहीं हैं, या तुम्हें दिखाई नहीं देता है?

क्या तुम्हारे दिल नहीं है, या तुम महसूस नहीं करते हो?

क्या तुम्हारे पास बुद्धि नहीं है, या तुम समझते नहीं हो?

हाय रे दुर्भाग्य ! जो देखना ही नहीं चाहे उससे बढ़कर अंधा और कोई नहीं है।

लेकिन अब बिगुल बज चुका है, और जागृति की वेला नजदीक ही है।

(यंग इंडिया 30.1.1930 - से अनूदित)

एक महान गिरफ्तारी

रात के सुनसान अंधेरे में वे चोरों की तरह उन्हें चुपचाप ले जाने के लिए आए थे। "जब कभी वे उन्हें गिरफ्तार करना चाहते थे तो लोगों से डरते थे, क्योंकि लोग उन्हें पैगम्बर मानते थे।"*

रात के 12 बजकर 45 मिनट के समय सूरत के जिलाधीश, पिस्तौलधारी दो भारतीय पुलिस अधिकारी तथा राइफलधारी लगभग 30 पुलिसकर्मी उस छोटे से प्रांगण में चुपचाप घुस आए, जहां गांधीजी और उनके साथी सत्याग्रही सो रहे थे। उन्होंने तत्काल उन लोगों को घेरे में ले लिया और अंग्रेज अधिकारी ने गांधीजी की शय्या के पास जाकर उनके मुंह पर टार्च की रोशनी डालकर कहा — "क्या आप मोहनदास करमचंद गांधी हैं?"

"आप मुझे खोज रहे हैं?" गांधीजी ने पूछा और साथ ही कहा, "कृपया मुझे स्नान के लिए समय दीजियेगा।"

उन्होंने दांत साफ करना प्रारंभ किया। अधिकारियों के हाथ में टाइम पीस था और वे खड़े-खड़े गांधीजी को निहार रहे थे। उसी समय जब गांधीजी ने उनसे पूछा, वारंट लाए हैं, तो जिलाधीश ने नीचे लिखा आदेश पढ़कर सुनाया —

> "चूंकि गवर्नर-इन-काउन्सिल, मोहनदास कर्मचंद गांधी की गतिविधियों से खतरे का अनुभव करते हैं, इसलिए वे निर्देश देते हैं कि मोहनदास कर्मचंद गांधी को सन् 1827 के विनियम के तहत हिरासत में ले लिया जाए और उन्हें सरकारी आदेशानुसार जेल में रखा जाए और यह भी कि उन्हें तत्काल यरवदा केंद्रीय जेल भेज दिया जाए।"

स्नान आदि समाप्त हो गया, रोजमर्रा की छोटी-मोटी जरूरत की वस्तुएं बांध ली गईं और उनके कागजात उनके दल के एक सदस्य को सौंप दिए गए। उसी समय गांधीजी पुनः अधिकारियों के पास गए और कहा, "कृपया प्रार्थना के लिए कुछ क्षण और दीजिए", उनका यह अनुरोध मान लिया गया, और उन्होंने पुलिस के घेरे में अपने साथियों के साथ खड़े होकर प्रार्थना की।

जैसे ही प्रार्थना समाप्त हुई, वे उन्हें मोटर-लारी में बैठाकर ले गए। उनके साथ मोटर लारी में तीन अधिकारी और लगभग आठ पुलिसकर्मी भी थे।

टेलीफोन के सभी तार काट दिए गए थे और सड़कों पर पुलिस का पहरा था —

---

* एस. मैथ्यू XXI 46

तत्काल, चुपचाप, गोपनीयता।

न जांच न न्याय।

सरकार अपना बयान जारी कर रही है और प्रतिवादी चुपचाप जेल की कोठरी में बंद है। —वे उनके नश्वर शरीर को बंदी बना सकते हैं और जेल में डाल सकते हैं। —वे उनकी पवित्र वाणी को जेल की ऊंची-ऊंची दीवारों में बंद कर सकते हैं, लेकिन वे एक महान आत्मा को बंद नहीं कर सकते — उनकी ज्योति सभी सांसारिक अवरोधों को पार कर जाएगी। जितना अधिक वे इसे दबाने का प्रयास करेंगे उतना ही अधिक यह ज्योति चमकेगी, और केवल भारत में ही नहीं, बल्कि सारे संसार का मार्ग प्रशस्त करेगी।

हे भारत, भारत, तेरी परीक्षा की महान घड़ी आ गई है। भगवान तुझे विजय तथा शांति का मार्ग दिखाए।

जो तुझे अन्य सांसारिक बातों के अलावा तेरे प्रेम और ज्ञान के कारण प्रेम करता है और तुझे पहचानता है उसी ने तुझे यह बताया है कि यदि तेरे पास उस पवित्र मार्ग पर अडिग रहने का बल व साहस है तो स्वतंत्रता अब तेरी पहुंच में है—यह मार्ग जो तुझे दिखाया गया है, वह सत्य एवं अहिंसा का मार्ग है। भगवान तुझे वह बल एवं वह साहस प्रदान करे।*

(यंग इंडिया 8.5.1930 - से अनूदित)

भाई चारा

बंद और चटखनी लगे दरवाजे, राइफलें लिए हुए आदमियों की चहलकदमी, आदेशों की चिल्लाहट, जंजीरों की खनक — कुल मिलाकर मारधाड़ और दमन का वातावरण। और ऐसे वातावरण में उन बंद दरवाजों के पीछे बंद हैं भारत के कुछ सपूत। हां, केवल साबरमती में ही नहीं, बल्कि पूरे देश भर में, इस धरती के कई जानेमाने सपूत— ऐसे भले, सच्चे और निडर लोग, जिन्हें संसार का सबसे गौरवशाली देश भी अपना कहने में गर्व महसूस करे, जेलों में डाल दिए गए हैं।

ऐसा है, आजादी और न्याय के प्रति बर्तानवी प्यार।

मैं, महादेव भाई को मिलने साबरमती जेल गई थी, और जेल के दरवाजे पर बैठी, अंदर जाने का इंतजार करते हुए जब मैं अपनी तकली पर कताई कर रही थी, मेरे दिल में एक के बाद एक, बस दो ही प्रकार की भावनाएं उमड़ रही थीं, एक तो भारत के सपूतों के लिए खुशी ओर गर्व की, तथा दूसरी इंग्लैण्ड के बेटों के लिए दुख और शर्म की।

लेकिन एक न एक दिन इंग्लैण्ड के लोगों को इसका अहसास होगा और पछतावा भी। यदि भारत इस महान आन्दोलन से, सच्चाई और अहिंसा के सहारे उबर कर आ सकता है तो भारत को स्वतंत्र करने का अर्थ इंग्लैण्ड को शुद्ध करना भी होगा।

---

* एस. मैथ्यू XVI 55

इसी समय किसी ने बंद दरवाजों के पीछे से हमें बुलाया। हम अंदर गए, धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ीं। ऊपर पहुंचने पर हमें एक छोटी सी मेज के पास बैठने को कहा गया। उस मेज पर एक हट्टा-कट्टा अंग्रेज, जिसे विशेष जेलर बताया गया, बैठा था।

मैं उससे बात करने लगी। आखिरकार हम सब इंसान हैं, इसलिए आओ, मानवता के उस बंधन को महसूस करें, जिससे सरकारें बहुत डरती हैं। यूरोप के महान युद्ध के दौरान भी वे भाई चारा अपनाने से बहुत डरते थे। कोई भी सरकार अपनी दुषूचक्रपूर्ण योजनाएं केवल तब तक ही जारी रख सकती है जब तक कि वह अपनी जनता को इस अहसास से बचाए रख सके कि जिस राष्ट्र को तहस-नहस करना है, उसमें भी ऐसा ही मासूम जनसमूह शामिल है जिसकी आशाएं, डर, खुशियां और गम उन्हीं के समान हैं।

इसके बाद महादेव भाई आए, कुछ थके-थके से, कुछ-कुछ पीले से पड़े हुए, लेकिन उत्साह और हंसी ठट्ठे से भरपूर। थोड़ी बातचीत के बाद वे मेरी तरफ मुड़कर बोले "जेल आते समय मेरे साथ एक घटना घटी, उसके बारे में तुम्हें जरूर बताऊंगा।" देखिए, यह उन्हीं भाई चारे की घटनाओं में से एक है —

> मुकदमा समाप्त हो चुका था और मुझे जेल की गाड़ी में बैठा दिया गया। इस गाड़ी की पिछली ओर एक अंग्रेज सार्जेंट बैठा था। चारों तरफ लोगों की भारी भीड़ थी। अचानक कहीं से एक पत्थर फेंका गया, जो उस सार्जेंट की ठोड़ी में लगा और वह बुरी तरह से कट गई। चेहरे पर लगकर गिरते हुए उस पत्थर को पकड़कर वह आह भरते हुए बोला -"देखो तुम्हारे बेहूदा आदमी क्या हरकत करते हैं। यदि वे अहिंसा पर ही अडिग रहते तो हम कुछ नहीं कहते, लेकिन देखो, उनका यह कैसा व्यवहार है। जो आदमी अहिंसा का पालन नहीं कर सकते, वे इस आंदोलन से बाहर ही रहें तो अच्छा होगा, वरना वे इस अहिंसात्मक आंदोलन को तबाह कर देंगे।" मैंने तुरंत अफसोस जाहिर किया और उससे कहा कि "यदि वह गाड़ी रूकवा दे तो मैं जनसमूह से बात करके उन्हें अपने आप पर शर्मिन्दा करवा दूंगा।" इस पर सार्जेंट ने कहा कि गाड़ी तो मैं नहीं रोक सकता, और उसके बाद फिर इसी घटना की शिकायत करने लगा। मैंने कहा, गाड़ी में बंद, अंदर बैठा मैं कर ही क्या सकता हूं। मैं तो सिर्फ यही कह सकता हूं कि इस घटना से मुझे बहुत दुख हुआ है और मैं खुशी-खुशी इसके लिए प्रायश्चित करुंगा। साथ ही मैंने यह भी कहा कि यदि तुम चाहो तो मुझे पत्थर मार सकते हो, यही ठीक रहेगा। सार्जेंट ने थोड़ा नर्म पड़ते हुए ऐसा करने से इन्कार किया। लेकिन थोड़ी देर बाद वह फिर इसी मसले को लेकर उल्टा-सीधा बोलने लगा — "देखो , लोग कैसी बेहूदगी कर रहे हैं — पेशावर को देखो — ऐसे लोग इस आंदोलन से दूर ही क्यों नहीं रहते "। मैंने पूरी हमदर्दी के साथ हामी भरी और फिर हम लोग बापू और आम स्थिति के बारे में बातचीत करने लगे।
>
> लेकिन फिर एक बार अपने हाथ में पकड़े उस पत्थर को देखते वह बोला —"इसे मैं निशानी के तौर पर रखूंगा।" मैंने उससे कहा — "कृपया ऐसा न करें, यदि मेरे अफसोस जाहिर करने की सच्चाई पर आपको जरा सा भी विश्वास है तो आप इसे अवश्य फेंक देंगे।" यह बात उसके दिल को छू गई और उसने वह पत्थर तुरंत फेंक दिया।
>
> फिर जब हम आश्रम के पास से गुजर रहे थे तो मैंने उसे इशारे से बताते हुए कहा — "देखो , यह मेरा घर है।" उसने कहा, बहुत अच्छा है, मैंने आश्रम कभी नहीं देखा। जब तुम जेल से बाहर आ

जाओगे तब मैं तुम्हारे घर जरूर आना चाहूँगा। मैंने कहा अवश्य आना, मुझे बहुत खुशी होगी। संभवतः अब तो आप मुझे अपना नाम बता देंगे, ताकि वह मेरे पास रहे। उसने कहा — "हां-हां, जरूर, लेकिन लिखने के लिए मेरे पास पेंसिल नहीं है"। मैंने तारों की जाली में से उसे अपना पैन देते हुए कहा — "यह लीजिए मेरा पैन"। कागज पर अपना नाम लिखकर वह कागज और पैन उसी जाली में से मुझे दे रहा था तो मैंने कहा — "नहीं, पैन को कृपया आप ही रखें, यह पत्थर के मुकाबिले अधिक अच्छी निशानी होगी।" वह भावुक हो उठा और प्रशंसा करते हुए उसने वह छोटीसी निशानी अपनी जेब में डाल ली।

महादेव भाई ने बात समाप्त करते हुए कहा — "जब हम अलग हुए तब तक हम दोनों बहुत अच्छे दोस्त बन चुके थे"। यह कहते हुए उनका चेहरा खुशी से चमक रहा था।

हमारी मुलाकात का समय पूरा हो चुका था। हमने महादेव भाई से विदा ली और एक बार फिर उस सींखचे वाले दरवाजे से बाहर निकल आए।

(यंग इंडिया 8.5.1930 - से अनूदित)

कोई समझौता नहीं

विदेशी कपड़े के बहिष्कार के संबंध में आजकल कई किस्म के विचार सामने आ रहे हैं, जिसकी वजह से हमारे सामने जो मुद्दा है उसके गड़बड़ाने का डर है। अतः इस मामले में गांधीजी के मौलिक मुद्दों पर पुनर्विचार करना उपयुक्त होगा।

यदि हमें विदेशी कपड़े के बहिष्कार को सफल बनाना है तो खादी को छोड़कर कोई और समझौता या बीच का रास्ता नहीं हो सकता। या तो वह खादी हो या फिर शुद्ध रूप से देशी, भारतीय मिल का कपड़ा। न तो विदेशी मिलों के साथ कोई सांठ-गांठ हो सकती है और न ही ऐसी भारतीय मिलों के साथ जिनमें ब्रिटिश प्रबंध या पूंजी लगी हो। ऐसा करने से हम अपने आप को न केवल अन्य देशों के आर्थिक शोषण का शिकार बनाएंगे, बल्कि एक चोर रास्ता भी खुला छोड़ देंगे, जिससे ब्रिटिश निर्माता चोरी छिपे अपना कपड़ा हमारे बाजारों में भेज सकेंगे, और तब हमारी हालत वर्तमान से भी बदतर हो जाएगी, क्योंकि ब्रिटिश कपड़ा चोरी छिपे आता रहेगा और हम उसका बहिष्कार नहीं कर पाएंगे। हमारे बहिष्कार आंदोलन पर जो एक और खतरा मंडरा रहा है वह है बर्तानिया में बनी हुई वस्तुओं का भारतीय बाजारों में प्रवेश। अतः हमें आमतौर पर सभी ब्रिटिश चीजों के बहिष्कार पर लोगों का ध्यान केन्द्रित करना है। परन्तु गांधी जी बार-बार हमसे कहते आए हैं कि वर्तमान स्थिति में इसे पूरी तरह से सम्पादित करना असंभव है, और इससे लोगों की शक्ति एक व्यर्थ दिशा में छितरा जाने की भी संभावना है। परन्तु यदि हम सही तरीके से काम करें तो विदेशी कपड़े का बहिष्कार एक तात्कालिक संभावना है, और शायद हमारे द्वारा उठाए जाने वाले और किसी भी कदम की अपेक्षा, अंग्रेज सबसे ज्यादा इससे आशंकित हैं।

अतः इस प्रश्न पर हमें स्पष्ट रूप से सोचना होगा, उसके पश्चात सब ठीक ही होगा।

(यंग इंडिया 15.5.1930 - से अनूदित)

कारावास की कोठरी से

रविवार को साबरमती आश्रम में उस समय लोग खुशी से झूम उठे जब गांधीजी का सबके प्रति शुभकामना संदेश लिए एक बड़ा लिफाफा मिला।

यरवदा कारावास के अधिकारियों ने गांधीजी को आश्रम तथा अपने संबंधियों को अपने कुशल समाचार तथा शुभकामना संदेश आदि भेजने की अनुमति दे दी। हमारी ओर से इस अवसर पर यह उचित होगा कि शेष भारत एवं विश्व में गांधीजी के असंख्य मित्र जो कारावास की कोठरी के समाचार सुनने के लिए उत्सुक हैं, उन सब तक यह संदेश पहुंचा दें। मुझे संबोधित करते हुए उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

जेल से मैं तुम्हें यह पहला पत्र लिखना शुरू कर रहा हूं और वह भी आज अवकाश के दिन। मैं प्रसन्न हूं और विश्राम के अगले क्षणों की तैयारी कर रहा हूं। यहां की रातें ठण्डी हैं और मुझे खुले आसमान में सोने की अनुमति मिल गई है। इस प्रकार अब मैं सोने में ताजी हवा का आनंद लेता हूं। मेरे खाना लेने की विधि में परिवर्तन के बारे में तुमको मेरे अन्य पत्रों से जानकारी मिल जाएगी।

सद्भावना पूर्वक भेजा गया चरखा एवं उसके साथ सतर्कता पूर्वक बांधी गई अन्य वस्तुएं प्राप्त करके मुझे बहुत संतोष मिला है। जेल अधीक्षक ने मुझे बताया है कि धुनकी मेरे उन मित्रों से रास्ते में गुम हो गई है जो उसे लेकर आ रहे थे। उसके बारे में मुझे चिंता नहीं है क्योंकि आप लोगों ने पर्याप्त मात्रा में पूनियां मेरे पास भेज दी हैं।

मुझे यह जानकारी नहीं है कि मेरे पास पुस्तकें किसने भेजीं। ये वे पुस्तके नहीं हैं जो मैं चाहता था -- तथापि यह गलती बहुत अधिक महत्व नहीं रखती क्योंकि इस अवसर पर मैं पुस्तकें छोड़ना नहीं चाहता। मैं तकली चलाने में अधिक से अधिक समय लगाता हूं। मुझे महसूस होता है कि तकली चलाने की मेरी गति अब धीमी हो गई है। मैं मुश्किल से एक घण्टे में तीस राउंड (चक्र) पूरे कर पाता हूं, क्योंकि पहले दिन 160 राउंड लेने में मुझे लगभग 7 घंटे लगे। कार्य समाप्ति पर मैं बिल्कुल थक गया था। मुझे अपनी गति बढ़ाने की विधि सीखनी होगी, इसलिए मुझे पुस्तकें पढ़ना शुरू करने की कोई जल्दी नहीं है -- ।

कारावास के सभी कर्मचारी दयालु और सतर्क हैं।

सप्रेम
बापू

12.5.1930

(पुन:) मुझे विश्वास है कि अब मुझे आश्रम की डाक प्राप्त हो जाया करेगी। इसलिए तुम भी आश्रम की डाक के साथ सप्ताह में एक पत्र भेज सकती हो।

अपने सामान्य पत्र में बापू लिखते हैं

> मेरा स्वास्थ्य ठीक है। मैं सबेरे (प्रातः 4 बजे) आश्रम के समय पर उठता हूं। मेरे लिए प्रकाश की व्यवस्था है इसलिए मैं अपनी परम्पराओं के अनुसार गीता पढ़ सकता हूं। गत अनेक दिनों की मेरी थकान धीरे-धीरे दूर हो रही है। मैं नियमित रूप से प्रातः आठ बजे और दोपहर को बारह बजे आराम करता हूं, और इस प्रकार दिन में लगभग दो से तीन घंटे तक सो लेता हूं। मार्च (डांडी मार्च) के दौरान मैंने संतरे लेना छोड़ दिया था लेकिन यहां पुनः लेना शुरू कर दिया है। पहले दिन मैंने बकरी का कच्चा दूध पिया ओर इसे मैं लगातार पी रहा हूं। मैं लगभग तीन पाव दूध पीता हूं। अब इसकी मात्रा थोड़ा कम कर दूंगा, अथवा इसकी दही खाया करूंगा। सबेरे के समय मैं गर्म पानी के बजाय ठण्डा पानी पीता हूं। वे मुझे पानी गर्म करने की पूरी सुविधा देते हैं, लेकिन यदि शरीर ठण्डे पानी से स्वस्थ रखा जा सकता है तो गर्म पानी की क्या आवश्यकता है। मैंने शहद खाना छोड़ दिया है, और ठण्डे पानी से स्नान करना शुरू कर दिया था लेकिन कल से मैं फिर गर्म पानी से स्नान करने लगा हूं। बकरी का दूध मेरी उपस्थिति में निकाला जाता है, इसलिए दूध की शुद्धता के बारे में प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता। यदि कच्चा दूध अस्वास्थ्यकर महसूस हुआ तो मैं इसे गर्म कर लूंगा।
>
> उन्होंने बर्तन आदि साफ करने के लिए मुझे एक आदमी दे रखा है। मैं छुआरे और किशमिश खा रहा हूं। मेरी खुराक के बारे में चिंता करने की आवश्यकता नहीं है।

अंत में अपने उन मित्रों का हवाला देते हुए जो उन्हें फल और अन्य वस्तुएं भेजा करते थे, वे कहते हैं —

> आजकल दूसरे लोगों के बारे में अनावश्यक चिंता करने का समय नहीं है, और होना भी नहीं चाहिए। हमारे पास अनावश्यक खर्चों के लिए धन नहीं है इसलिए हमें अनावश्यक खर्च नही करना चाहिए।

इसके बाद कताई का हवाला देते हुए उन्होंने लिखा है—

> जहां तक मेरे कातने का संबंध है वह नियमित रूप से जारी है। मैं प्रतिदिन सूत की एक लच्छी तैयार करता हूं।
>
> जेल के बाहर मैंने तकली पर अपनी गति कभी नहीं देखी, तकली से कातने में रुचि उत्पन्न करनी होगी। वर्धा में कुछ लोगों की गति आधे घंटे में अस्सी राउंड (चक्र) तक पहुंच गई है। जिन लोगों ने वहां तकली चलाना सीखा है उनकी सही गति की जानकारी करनी चाहिए और इसकी सूचना मुझे देनी चाहिए।

बा (कस्तूरबा गांधी) को लिखी लाइनों में वे कहते हैं —

> यह कितना सुखद था कि अपनी गिरफ्तारी की पूर्व संध्या पर मैं तुमसे और अन्य सभी बहनों से मिला, और उस समय मुझे तुम्हारे साथ तुम्हारे घर तक जाने में बड़ा आनन्द आया।
>
> जिस प्रकार आकाश से वर्षा की मधुर फुहार झरती है उसी प्रकार भगवान ने भी हम पर अनुकम्पा की।

आप में से किसी को भी उदास अथवा दुःखी नहीं होना चाहिए। बहनों की प्रार्थना के सभी पद ध्यान पूर्वक व्यवस्थित होने चाहिएं। मैं आशा करता हूं कि वे रोजाना पूरी एकाग्रता के साथ दोहराए जाते होंगे।

अपने पुत्र देवदास के लिए उन्होंने लिखा —

मुझे मालूम नहीं तुम कहां हो। हम सबकी देखभाल करने के लिए ईश्वर है, इसलिए हमें एक-दूसरे की चिंता नहीं करनी चाहिए।

अन्य अनेक लोगों के बारे में उन्होंने एक अथवा दो पंक्तियां लिखी हैं। लक्ष्मी नाम की गोद ली गई 'अछूत' बेटी, आश्रम की युवा लड़कियों तथा अन्त में छोटे बच्चों को भी उन्होंने संबोधित किया है। जहां वे एक शक्तिशाली साम्राज्य के संबंध में अत्यंत अद्भुत विद्रोहात्मक लेख लिखने का साहस रखते हैं वहीं वे बच्चों के लिए प्रेम भरे पत्र लिखने में भी दक्ष हैं। उनके द्वारा लिखा गया एक पत्र इस प्रकार है—

प्यारे छोटे बच्चो,

सामान्य पक्षी बिना पंखों के नहीं उड़ सकते। पंखों से संभवतः सभी उड़ सकते हैं, परन्तु यदि तुम बिना पंखों के उड़ना सीख जाओ तो वास्तव में तुम्हारे सभी दुःखों का अंत हो जाएगा। और मैं तुम्हें बिना पंखों के उड़ना सिखाऊंगा।

देखो, मेरे पंख नहीं हैं, लेकिन मैं प्रतिदिन मन से उड़कर तुम्हारे पास पहुंच जाता हूं। यह देखो, छोटी विमला है, यहां हरी और धर्मकुमार भी हैं। इसी प्रकार तुम भी मन से उड़कर मेरे पास आ सकते हो।

उन लोगों के लिए शिक्षक की आवश्यकता नहीं जो सोचना जानते हैं। शिक्षक हमारा मार्गदर्शन कर सकता है, लेकिन वह हमें सोचने की शक्ति नहीं दे सकता। यह शक्ति हमारे अंदर छिपी है। जो विवेकशील होते हैं उनके विचार भी विवेकपूर्ण होते है।

आप लोगों में से वे कौन हैं जो संध्याकालीन प्रार्थना उचित ढंग से नहीं करते।

सभी हस्ताक्षर करके मेरे पास पत्र भेजो, और जो हस्ताक्षर करना नहीं जानते वे हस्ताक्षर की जगह अंगूठे का निशान लगाएं।

यरवदा पैलेस — रविवार

बापू की शुभकामनाएं

महान आत्मा में प्रेम और शांति की शक्ति भी महान ही होती है। भगवान करे उनका अटल विश्वास सदैव हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहे।

(यंग इंडिया 22.5.1930 - से अनूदित)

एक सरकारी कैदी

गांधीजी का कारावास कैसा हो इस बात की आवाज अखबारों में उठाई गई। हमारे लिए यही सर्वोत्तम होगा कि इस मामले की विस्तृत जांच करें।

जब गांधीजी को सुनसान अंधेरी रात में गिरफ्तार कर लिया गया और बिना जांच ,1827 के बम्बई विनियम के प्रावधानों के तहत सरकारी कैदी के रूप में उन्हें कारावास में बंद कर दिया, तो हमने अपने आपसे प्रश्न किया कि सरकारी कैदी का क्या अर्थ है?

लेकिन इस संबंध में कोई भी सही-सही नहीं बता सका। बम्बई की सरकारी कारावास नियमावली में सरकारी कैदियों के संबंध में हमें निम्नलिखित जानकारी मिली —

> 1818 के बंगाल विनियम III, 1819 के मद्रास विनियम II, अथवा 1827 के बम्बई विनियम के प्रावधानों के तहत जब किसी व्यक्ति को सुरक्षित अभिरक्षा हेतु किसी कारावास में रखा जाता है तो इस स्थिति में अधीक्षक तत्काल सारे मामले की रिपोर्ट महानिरीक्षक को भेजता है। इस रिपोर्ट में आमतौर पर सरकारी कैदी के पद एवं नाम, हिरासत में रखने के संबंध में जारी आदेश, उसकी सुरक्षित अभिरक्षा के लिए किए गए प्रावधान, उसे दिया जाने वाला विशेष प्रकार का भोजन, जिस वार्ड में उसे रखा जाना है उसका विवरण और उसके चिकित्सा संबंधी रिकार्ड दिए जाएंगे, और तदुपरांत महानिरीक्षक इन सभी बातों के बारे में ऐसे आदेश जारी करेगा जिन्हें वह उस कैदी के स्वास्थ्य एवं आराम के लिए जरूरी समझेगा। ये आदेश जारी करते समय यह ध्यान रखा जाएगा कि यदि चिकित्सा तथा सुरक्षित अभिरक्षा से संबंधित सरकारी अनुदेश जारी नहीं किए गए हैं तो महानिरीक्षक ऐसे अनुदेश जारी करने के बारे में सरकार से निवेदन करेगा। इस श्रेणी का कोई कैदी जब जेल में रखा जाएगा तो हर पहली जनवरी और जुलाई को फार्म नं० 59 पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जाएगी।

उस नियमावली में हमें इसके अलावा और कोई जानकारी नहीं मिली, और हमारे पास इस सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने के इंतजार के अलावा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

अब चार सप्ताह की प्रतीक्षा के बाद हमें कुछ समाचार मिलने लगे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से गांधीजी के साथ सावधानी पूर्वक व्यवहार किया जाता है। जब मैं उनसे 21 मई को मिली, उन्होंने स्वयं बताया, "मेरी सभी आवश्यक जरूरतों का पूरी तरह ध्यान रखा जाता है, मैं कह सकता हूं, इससे पहले कि मैं किसी वस्तु की मांग करूं, वे मेरे कहने से पहले ही उस वस्तु की व्यवस्था कर देते हैं।" गांधीजी के साथ किए गए व्यवहार का यह उज्ज्वल पक्ष है। इसका अंधेरा पक्ष गांधीजी का वह एकांत है जिसमें उन्हें जेल में रखा जा रहा है, उसके संबंध में उन्होंने कुछ नहीं बताया।

इसलिए यह लगता है कि गांधीजी का सरकारी कैदी होने का अर्थ यह है कि— दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से उनके साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया गया है, लेकिन उन्हें लोगों से बिलकुल अलग-थलग रखा गया है।

अब हमें इस 'एकांत' का अर्थ जानना है। कारावास के नियमों के अनुसार यह एक विशेष प्रकार की सजा मानी जाती है, और यह इतनी कठोर सजा है कि यदि किसी कैदी को यह सजा दी जाए तो उसकी देख-रेख, चिकित्सा एवं अन्य प्रकार की सुविधाओं के विशेष प्रबंध की व्यवस्था करनी पड़ती है।

अभी-अभी 17 अप्रैल, 1930 को सजा प्राप्त कैदियों को तीन श्रेणियों में बांटने के संबंध में बम्बई सरकार ने कुछ और अनुदेश जारी किए हैं। इन अनुदेशों में यह कहा गया है कि — जहां तक सम्भव हो श्रेणी 'ए' के कैदियों को अलग कोठरी दी जाए और उसमें अपेक्षित फर्नीचर, मिलने-जुलने तथा व्यायाम की सुविधाएं और शौच एवं स्नान की उपयुक्त सुविधाएं उपलब्ध कराई जाएं।

इसलिए हम इस नतीजे पर पहुंचे कि यद्यपि गांधीजी के साथ अच्छा व्यवहार किया गया है, उन्हें विशेष प्रकार का भोजन दिया गया है और उनके स्वास्थ्य की जांच विशेष डाक्टरों द्वारा कराई गई है (सरकार ने इन बातों की सूचना अखबारों में दी है) लेकिन इसी दौरान वे एक ऐसी सजा भी भुगत रहे हैं जो सरकारी अधिकारियों के अनुसार सबसे कठोर एवं दिल दहलाने वाली सजा है, और जिसे अवार्ड करना इन अधिकारियों के अधिकार क्षेत्र में है (लेकिन इस सजा के संबंध में सरकार ने अखबारों को कोई खबर नहीं दी)।

गांधीजी अपनी अद्भुत सहनशक्ति के कारण इस तनाव को सहन कर सकते हैं लेकिन यदि ऐसा तनाव लगातार रहे तो उनके सामान्य स्वास्थ्य पर इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता।

गांधीजी को इस तरह का दण्ड देने से सरकार को क्या लाभ हो सकता है? आज भी जेल में उनके असंख्य मित्र एवं सहयोगी मौजूद हैं, अतः उनके लिए उपयुक्त और पर्याप्त साहचर्य जुटाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

यदि सरकार गांधीजी के साथ मानवोचित व्यवहार नहीं करती है तो वह भारत तथा विश्व की दृष्टि में गिर जायेगी।

(यंग इंडिया 5.6.1930 - से अनूदित)

सावधान ! खतरा !

खादी के प्रमियो और बायॅकाट आंदोलन के समर्थको, सावधान ! एक बड़ा खतरा तुम्हें चारों ओर से घेर रहा है।

तुम सब खादी को पसंद करते हो और दौड़ कर बाजार जाकर उस कपड़े को खरीद रहे हो जिसके बारे में दुकानदार तुम्हें बताता है कि यह शुद्ध सुंदर खादी है। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। यह या तो मिल का कपड़ा है (अक्सर विदेशी) या इस तरह काता और बुना गया है जिससे खादी सा लगे या फिर मिल का मोटा कपड़ा है जो बहुत बड़ी मात्रा में विदेश से आया है और हाथ से बुना हुआ जैसा लगता है। खादी की मांग के बढ़ते जाने के साथ-साथ इसमें धोखा-धड़ी भी बढ़ रही है।

ऐसे कपड़े को खरीदने से क्या लाभ? इससे तो विदेशी शोषक की ही सहायता हो रही है और भारत के

गरीब सूत कातने वालों को नुकसान पहुंच रहा है। जबकि आप इसका उल्टा चाह रहे हैं।

एक और चीज अब शुरू हो रही है जो आपके लिए और भी बुरा फंदा बन जाएगी और जिसकी वजह से आप जो सूत कातने वाले लोग हैं उनको और भी अधिक नुकसान पहुंच सकता है। अनेक सिद्धांतहीन व्यापारी पूरे देश में उन सूत कातने वालों और बुनकरों पर अपना नियंत्रण करना शुरू कर रहे हैं जो पहले इतने सालों तक शुद्ध खादी के कपड़े बनाते रहते थे। वे उन्हें अधिक मजदूरी का लालच देकर घटिया दर्जे के और अक्सर नकली खादी के कपड़े बड़ी से बड़ी संख्या में बनवा रहे हैं। उन कपड़ों को वे बहुत मंहगे दाम में बेच रहे हैं — और तुम उत्साह में उसे खरीदने की होड़ लगा रहे हो। इससे न केवल बाजार में घटिया और नकली खादी का उत्पादन गंभीर रूप से बढ़ रहा है बल्कि हाथ से कताई करने वाले और बुनकर एक ऐसे कुचक्र पूर्ण धंधे में फंस रहे हैं जिसके भविष्य के बारे में कुछ भी निश्चित नहीं है।

ऐसी अवस्था में क्या किया जाए?

सबसे पहले तो किसी भी ऐसी दुकान से खादी न खरीदो जिसे 'अखिल भारत चरखा संघ' ने प्रमाणित न किया हो। और अगर अत्यधिक मांग के कारण तुम्हें खादी भंडार में अपनी इच्छित वस्तु न मिले तो कुछ देर प्रतीक्षा कर लो परन्तु खुले बाजार में खरीदारी करके नकली खादी मत खरीदो।

खुले बाजार में नकली खादी खरीदने से तो हजार गुना अच्छा यह है कि फिलहाल खादी खरीदी ही न जाए क्योंकि यह नकली कपड़े, खादी और 'बहिष्कार आन्दोलन'(boycott movement) के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

लेकिन अगर तुम गांधीजी की बात याद रखो और उस पर अमल करो तो खादी के बिना ज्यादा दिन तक प्रतीक्षारत रहने की जरूरत नहीं पड़ेगी। गांधीजी ने अपनी गिरफ्तारी से ठीक पहले हर आदमी, औरत और बच्चे से कहा था कि अपने लिए सूत अपने आप कातो। जिन्हें चरखा न मिले वे तकली ले लें। तब हम पर्याप्त मात्रा में सूत पा सकेंगे। वर्तमान संकट का यही एक अचूक उपाय है — अपने घर में सूत कातो। अपने सूत की सावधानी से लच्छियां बनाओ और उससे कपड़ा बुनवाओ। इससे तुम्हें शुद्ध खादी ही नहीं मिलेगी — बल्कि उसके साथ वह पवित्र भावना भी मिलेगी, जिसे वे ही लोग समझ सकते हैं जिन्होंने उसे महसूस किया है।

इसे अनुभव करने की कोशिश करो। मैं विश्वास दिलाती हूं कि खुद के काते हुए सूत से बुने कपड़े पहनने का अपना ही एक आनंद है।

जब हर घर अपनी जरूरत के लिए खुद सूत कातने लगेगा तो हम वास्तव में मजबूत हो जाएंगे। ब्रिटेन निराश होकर भारत से हाथ खींच लेगा। और हम दुनिया भर के शोषकों को चुनौती दे सकेंगे।

यह मात्र सपना नहीं - वास्तविक अर्थशास्त्रीय तथ्य है।

(यंग इंडिया 12.6.1930 - से अनूदित)

पुलिस का आदर्श व्यवहार

इन दिनों, जबकि व्हाइट हाल और शिमला में अधिकारी वर्ग पुलिस का गुणगान करते नहीं थकते थे, मैंने

सोचा कि मैं खुद जाकर देखूंगी कि इस आदर्श व्यवहार को धरसाना के सत्याग्रहियों पर किस रूप में व्यवहार में लाया गया है।

मैं 6 तारीख की दोपहर में बलसाड पहुंची, जबकि उस सुबह के हमले में घायल हुए लोगों को वहां लाया जा रहा था। उनमें से कइयों को स्ट्रेचरों पर लाया जा रहा था और बाकी मोटर से चलकर किसी तरह लड़खड़ाते हुए अस्पताल के वार्डों तक पहुंच रहे थे।

डाक्टरों और सेवकों का कहना था कि आज की मारपीट बहुत निर्मम रही। सत्याग्रहियों को और अधिक करीब से देखने के लिए और डाक्टरों से यह जानने के लिए कि उन लोगों के घाव किस किस्म के हैं, मैं कमरों में चारों ओर गई।

उन बहादुर लोगों को, जो कुछ घंटे पहले, बिना किसी हथियार के, अहिंसा की कसमें खाते हुए गए थे, अब अपने सामने, सिर से पैर तक बुरी तरह मार खाकर पड़े देखकर सही मायनों में मेरे रोंगटे खड़े हो गए।

एक युवक, जिसके कंधों और नितम्बों पर इतनी मार पड़ी थी कि वह कमर तक सीधी नहीं कर सकता था, उसके बाजुओं और पार्श्वों को भी इसी तरह की क्षति पहुंचाई गई थी। वह व्यक्ति जिसकी छाती पर बुरी तरह से मार पड़ी थी, बेहद हांफ रहा था और उसके पास ही एक लम्बा, लंगड़ा मुसलमान बेवसी की हालत में पड़ा था।

मैंने पूछा, इसे कितनी चोटें आई हैं?

उन्होंने बताया कि इसके पेट, कमर और दाईं टांग पर भयंकर रूप से आघात किये गये हैं। इतना ही नहीं, पुलिस ने उसके अंडकोश भी बुरी तरह से दबा दिए, जिसके कारण उसके दोनों अंडकोशों में सूजन आ गई है।

हम सीढ़ियां चढ़कर ऊपर गए, वहां एक तेज सीटी जैसी, सांस लेने की आवाज ने मेरा ध्यान खींचा, इस आवाज के साथ दिल दहला देने वाली कराह भी मिली हुई थी। ये आवाजें एक ऐसे युवक की थीं जो दर्द से तड़प रहा था। वह बार-बार अपना पेट पकड़ रहा था और थोड़ी-थोड़ी देर बाद अचानक ऐसे उठ बैठता था मानो दर्द से पागल होने वाला हो।

उन्होंने बताया, उसके पेट पर घातक प्रहार किया गया और वह खून की उल्टी कर रहा है। उसके भी अंडकोश बुरी तरह से भींचे गए थे जिससे उस के हौसले पस्त हो गए।

उन्होंने उसके सिर और चोट लगे अंगों पर बर्फ लाकर लगाई, जिससे उसे आहिस्ता-आहिस्ता राहत मिली।

इसके बाद हम दूसरे वार्ड में गए जहां हमें और भी अधिक घायल देखने को मिले।

मैंने जिस किसी से भी बात की उन्होंने क्रूर मारपीट, यातना, धकेलने और घसीटने का वैसा ही वर्णन किया और सभी ने पुलिस और उनके भारतीय और अंग्रेज उच्च अधिकारियों द्वारा उन पर की गई गंदी गालियों की बौछार और अवर्णनीय निंदनीय शब्दों के बारे में डर से रोते हुए बताया।

तो ये हैं पुलिस के आदर्श बर्ताव के कुछ नमूने, जिस पर अंग्रेज लार्डों और भद्र लोगों को इतना गर्व है। क्या उन्हें पता नहीं कि क्या हो रहा है? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि कमिश्नर एन०डी०और सूरत के कलेक्टर

जैसे अंग्रेज उच्च अधिकारी लगातार ऐसी कार्यवाहियों से जुड़े रहे हैं।

तो फिर अंग्रेजी प्रतिष्ठा और अंग्रेजी न्याय का क्या हुआ? उन्होंने धरसाना में जो कुछ किया उसके बचाव में कोई भी दलील काम नहीं कर सकती।

सत्याग्रहियों का उद्देश्य नमक कानून (जो विश्व भर में गैर-वाजिब माना गया है) का सार्वजनिक उल्लंघन करना था। सत्याग्रही, बिना किसी प्रतिरोध के, गिरफ्तारी और जेल जाने जैसी कानूनी सजा स्वीकार करने को तैयार थे, लेकिन अधिकारी वर्ग ने दूसरे ही तरीके अपनाना बेहतर समझा। फिर 22 मई को, संभवतः अपने कारनामों को कानूनी रंग देने की कोशिश में अधिकारी वर्ग ने दफा 144 लागू कर दी, जिसके तहत चार से अधिक लोगों का एक जगह इकट्ठा होना गैरकानूनी करार दिया गया।

अधिकारी वर्ग यह दलील दे सकता है कि इस आपातकालीन कानून के लागू होने से, लोगों की भीड़ को तितर-बितर करने की कोशिश में लाठी चार्ज करना उचित है, यदि वे आदेश देने पर भी ऐसा करने से मना करें, भले ही वे पूरी तरह अहिंसक हों और किसी भी व्यक्ति को कोई नुकसान पहुंचाने वाले नहीं हों।

इस तरह की क्रूर दलील उनके दृष्टिकोण से समझी जा सकती है। मानवता के दृष्टिकोण से नहीं।

सत्याग्रहियों के साथ उन्होंने वास्तव में जैसा बर्ताव किया उसे किसी भी तरह माफ नहीं किया जा सकता।

अहिंसक भीड़ को तितर-बितर करने के लिए ऐसे तरीके अपनाने को कौन सही कहने का दुस्साहस करेगा —

1. सिर, छाती, पेट और जोड़ों पर लाठियां मारना;
2. गुप्तांगों, पेट और छाती आदि पर लाठियों के प्रहार करना;
3. पिटाई से पहले लोगों को नंगा कर देना;
4. लंगोट फाड़ कर गुदा में लाठियां घुसाना;
5. किसी आदमी के अंडकोश दबाना और इतना भींचना कि वह बेहोश हो जाए;
6. घायल लोगों को टांगें या हाथ पकड़ कर घसीटते हुए प्रायः उन्हें मारते पीटते रहना;
7. घायल लोगों को कंटीली झाड़ियों में या नमक के पानी में फेंकना;
8. जमीन पर बैठे लोगों को घोड़ों के पैरों तले रौंदना;
9. लोगों के शरीर में, कभी-कभी उनके बेहोश होने के बाद भी पिन और कांटे घुसाना; और
10. बेहोश हो जाने के बाद भी लोगों को मारना-पीटना।

इसके अलावा, सत्याग्रहियों की पावन भावनाओं को यथासंभव ठेस पहुंचाने के लिए भद्दी गालियों के अतिरिक्त कई ऐसी नीच हरकतें करना, जिनका बयान नहीं किया जा सकता।

यह पूरी घटना, राष्ट्रों के इतिहास में सबसे ज्यादा दानवी, निर्मम और औचित्य से परे है।

भारत ने अब ब्रिटिश राज का सही रूप पहचान लिया है और इस पहचान के साथ ही ब्रिटिश राज का सर्वनाश जुड़ा हुआ है।

(यंग इंडिया 12.6.1930 - से अनूदित)

कताई सेना

आज सविनय अवज्ञा के सैनिकों में हजारों वालंटियर (स्वयं सेवक) दाखिल हो रहे हैं। सबकी आंखें इनके कामों की ओर लगी हुई हैं। लेकिन इसी सेना के साथ-साथ एक दूसरी अदृश्य सेना भी तैयार हो रही है 'कताई सेना' जिसके वालंटियर हजारों नहीं बल्कि लाखों हैं।

जिन लोगों ने शुरू-शुरू में खादी संगठन पूरे देश में चलाया था वे सभी 'सविनय अवज्ञा अभियान' पर थे, और इस कारण जेल भेज दिए गए हैं। इसलिए हर रोज बढ़ती हुई नए रंगरूटों की सेना अब प्रायः नेतृत्व विहीन हो गई है। यह ठीक नहीं है। जिस तरह 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' की सेना अपने सिपाहियों में से ही नए नेता और संगठनकर्ता तैयार कर रही है, उसी तरह खादी प्रेमियों को भी खुद अपनों में से ही हर स्थान के लिए सूत कातने वालों के नेता और संगठनकर्ता तैयार करने चाहिएं।

हम सूत कातने के बारे में पूरे देश में भारी प्रचार कर रहे हैं। अच्छा, खराब और काम चलाऊ किस्म का सूत भारी मात्रा में तैयार हो रहा है। लेकिन अधिकांश नए-नए कातने वालों को सही तकनीकी सलाह नहीं मिल पा रही है, और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें यह भी पता नहीं कि जब सूत की कताई पूरी हो जाए तो उसका क्या करना चाहिए।

गांधीजी ने जब हम सबसे सूत कातने को कहा था तब उनका अभिप्राय यह नहीं था। उनका मतलब यह नहीं था कि हम तकली घुमाकर या चरखे पर सूत कात कर अपना काम समाप्त समझें। उनका आशय यह था कि सावधानी से अपने सूत की लच्छियां बनाएं, उन्हें सुरक्षित रखें और जब वे काफी मात्रा में इकट्ठी हो जाएं तो उनका कपड़ा बुनवा लें। इसलिए इस दिशा में खादी-प्रेमियों और आजादी की लड़ाई के चाहने वालों के लिए बहुत कुछ करने के लिए है। वे हर शहर और कस्बे में आपस में मिलें और अपनों में से एक-दो आदमी व्यापार की क्षमता वाले और एक-दो आदमी तकनीकी जानकारी वाले चुनें। हो सकता है कि उनकी तकनीकी जानकारी विशेषज्ञ के स्तर की न हो, फिर भी इससे कताई का काम शुरू करने वालों की सामान्य बाधाएं अवश्य दूर होंगी।

इन चुने हुए साथियों को तब 'अखिल भारत चरखा संघ' की सबसे नजदीक की शाखा से संपर्क करना चाहिए और उनसे सहायता और तकनीकी सलाह लेकर नीचे लिखे ढंग से काम करना चाहिए।

(1) स्थानीय बुनकरों से संपर्क करके उनसे उचित दरों पर हाथ-कते सूत से बुनाई व्यवस्था करना।

(2) ऐसे डिपो खोलना जहां आस-पास के लोग अपना काता हुआ सूत, कपड़े बुनवाने या बेचने के लिए ला सकें।

(3) अच्छी किस्म के धुनाई के धनुष, कताई-चरखे आदि बनाना और बेचना।

(4) इस प्रकार की छोटी-छोटी पुस्तिकाएं जारी करना जिनमें नीचे लिखी बातों की जानकारी हो —

(i) कपड़े की लम्बाई-चौड़ाई के हिसाब से सूत का वज़न।
(ii) सूत खरीदने की दरें।
(iii) सूत बुनने की दरें।

(iv) अच्छी पूनियों और अच्छे सूत के गुणों के बारे में स्पष्ट जानकारी।

(v) धुनाई कैसे करें, इस बारे में हिदायतें देना, धनुष के सही रख-रखाव और फिट करने के बारे में जानकारी, चरखा और तकली दोनों पर कताई करने के संबंध में हिदायतें। सभी मामलों में उपकरणों की सावधानी से देख-रेख करने पर जोर देना चाहिए।

(vi) बांस की तकलियां बनाने के बारे में हिदायतें। जहां तक हो सके लोहे की तकलियां काम में न लाई जाएं, बल्कि लोगों को अपनी बांस की तकली खुद बनाना सिखाया जाए, क्योंकि एक तो इन पर कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ता और दूसरे इन पर कताई भी ज्यादा अच्छी होती है।

(5) आस-पास खुद ही अपने लिए धुनाई करने और साथ ही पेशेवर धुनाई की स्थिति का पता लगाने और इनकी धुनाई-क्षमता का विकास करने की दिशा में कार्य करना।

धुनाई की समस्या पर यथा संभव सबसे अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह खादी उत्पादन की समूची प्रक्रिया का मूल आधार है। धुनाई की कक्षाएं चलाई जाएं, जिनमें धनुष को सही ढंग से फिट करना विशेष रूप से सिखाया जाए। ये कक्षाएं दो किस्म की हो सकती हैं : अपने ही लिए धुनाई करने वालों के लिए और पेशेवर धुनियां बनने के लिए।

हम लोग यहां अहमदाबाद में पेशेवर धुनिया के प्रशिक्षण के बारे में एक रोचक प्रयोग कर रहे हैं। आशा है कि अगले हफ्ते में मैं यह बता सकूंगी कि इसमें क्या प्रगति हुई है और यह प्रशिक्षण कैसे चलाया जा रहा है।

मुझे आशा है कि मैं खादी के संगठनकर्ताओं की सहायता करने के संबंध में कुछ और विवरण भी दे सकूंगी।

(यंग इंडिया 19.6.1930 - से अनूदित)

खादी चिन्तन

(i) बलिदान

रात काफी बीत चुकी थी। दिन भर के लंबे और अति व्यस्त कार्यक्रम के बाद वह स्टेशन पर गाड़ी पकड़ने आए। जोशीली भीड़ ने उनका स्टेशन पहुंचना लगभग असंभव सा बना दिया था लेकिन अब वह रेल के डिब्बे के अंदर सभी तरफ से चेहरों की दीवार में कैद थे।

इतनी रात गए वह थके मांदे कर क्या रहे थे? तीसरी श्रेणी के डिब्बे में फर्श पर टांग पर टांग रखकर बैठे हुए वह दिन भर के लिए 214 गज सूत की कताई कर रहे थे क्योंकि वह दोपहर बाद के अपने सामान्य समय में, अन्य कार्यों में व्यस्त होने के कारण, कताई नहीं कर सके थे। लेकिन दरवाजों और खिड़कियों पर वह पगलाई सी कैसी भीड़ थी? वे सभी विदेशी कपड़ों में नहीं तो मिल के बुने कपड़ों में थे। ओह! ऐसा अंधा प्यार — इसे देखकर तो दिल दहल जाता है। जिसकी जीत के लिए वे लगातार चिल्लाते रहते हैं, उसकी सलाह और उसका उदाहरण वे कब अपनाएंगे?

(ii) हमारे बीच जहर

शिमला की बहनों की भीड़ प्रतिदिन बंगले पर दर्शन के लिए आती रही। गांधीजी प्रायः इतने व्यस्त होते थे कि उनसे मिलना मुश्किल था, अतः उनसे बात करने के लिए मुझे ही जाना पड़ता था।

आप इतनी दूर से, इतनी चढ़ाई चढ़कर गांधीजी के दर्शन के लिए आई हैं। जब आप में इतना उत्साह है तो उसे खादी को अपनाकर क्यों नहीं जाहिर करतीं। जिसके दर्शन मात्र से आपको लगता है कि आपको उसका आशीर्वाद मिल गया, उसकी सबसे पहली सलाह है — खादी पहनो।

उनमें से कइयों ने अपनी साड़ी दिखाते हुए कहा — "देखिए, हमने खादी ही पहनी है।"

फिर, जैसे कि भारत भर में अनेक बहनों को मैं बार-बार समझाती आई हूं, मैंने उन्हें भी समझाया कि आजकल बाजार में एक ऐसा कपड़ा बिक रहा है जो जान बूझकर, कताई-बुनाई से रोजी-रोटी कमाने वाले करोड़ों बुनकर लोगों की रोजी से उन्हें वंचित करता है। हमें इसे एक 'घातक जहर' मानना चाहिए, जो हमारे जीवन में जानबूझ कर घोला जा रहा है।

इस सबके लिए हम लगातार विदेशियों को ही दोषी मानते आ रहे हैं, और इस शोषण के लिए अफसोस जाहिर कर रहे हैं, परन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि अब हमारे ही बीच में कपड़ा व्यापारी तथा कपड़ा मिल के मालिक ही अत्यन्त घातक जहर के बीज बो रहे हैं।

(iii) एक उचित फटकार

कमरे में कताई करते हुए मैंने एक दिन कहा— "बापू, ये कैसी बेकार पूनी हैं, हर तीसरी या चौथी बार खींचते हुए धागा टूट जाता है।"

"यह कैसे हो सकता है? क्या तुम अपनी बनाई पूनी इस्तेमाल नहीं कर रही हो?"

मैं चुप रही, क्योंकि मुझे एकदम लगा कि मैं कितनी बड़ी गलती और चूक कर बैठी हूं।

उनका गुस्सा बराबर बढ़ता रहा और बोले, "क्या तुम यह कहना चाहती हो कि इन दिनों तुमने धुनाई नहीं की?"

उनकी फटकार के न्याय के सामने मैं कांपने लगी और गर्मी, समय की कमी, धुनाई के लिए उपयुक्त कमरे का अभाव और ऐसी ही अन्य लचर दलीलें देने लगी। स्वाभाविक था कि उन्होंने एक न सुनी।

"तुम, जो कि धुनने के प्रयोग में माहिर हो और इस बारे में इतनी उत्साही हो कि हर व्यक्ति अपने लिए स्वयं धुनाई करे — मेरा ख्याल था कि इस मामले में तुम मेरे आदर्शों को समझ चुकी हो। मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि तुम आम पूनी का प्रयोग करोगी। मुझे तुम पर कितना विश्वास था" — मुझ पर कठोर प्रहार करते हुए उन्होंने कहा। और फिर मैं रोती ही रही। लेकिन उसी दिन दोपहर बाद मैंने धुन्ना निकाला, लगभग 20 मिनट तक धुनाई की और अपने लिए पूनियों का एक बंडल बनाया। अगली सुबह जब मैं चरखे पर बैठी तो अपनी

214 गज की कताई आधे घंटे से भी कम समय में आराम से कर डाली। जबकि उस रद्दी धागे की कताई में पूरी मेहनत के बाद भी एक घंटे से भी अधिक समय लगता था।

(यंग इंडिया 4.6.1931 - से अनूदित)

कांचीपुरम्

"बापू, यह दक्षिण की काशी है," – मैंने कहा, "अच्छा हो कि मैं इन सुन्दर और विशाल मन्दिरों को एक नजर देख आऊं।"

"हां", बापू का उत्तर था "लेकिन वहीं तक मन्दिरों को देखना ठीक होगा, जहां तक कि वे हरिजनों के लिए खुले हुए हैं, उससे आगे नहीं।"

"अवश्य, मैं उस सीमा के भीतर ही अपने को रखूंगी, जो हरिजनों के लिए निर्धारित है।"

बापू मुस्कराये -- "तब तुम्हें कुछ अधिक देखने को नहीं मिलेगा; लेकिन, खैर जाओ, तुम्हें एक अच्छा अनुभव तो प्राप्त हो जायेगा।"

मंदिरों को देखने के लिए मैं दो सवर्ण सज्जनों और एक यूरोपियन (ईसाइ) को साथ लेकर गई। एक विशाल मन्दिर के फाटक पर पहुंचने पर हम मोटर से उतर गए।

फाटक के पास खड़े व्यक्ति से मैंने पूछा – "हरिजन कहां तक जा सकते हैं?"

"बस, यहां से एक डग भी आगे नहीं," उनका उत्तर था। मेरे साथ के दूसरे लोग और वह ईसाई सज्जन भी, फाटक के भीतर चले गये। मैं अकेली बाहर ही खड़ी रही। मैं देख रही थी कि वे लोग बड़े-बड़े सिंह द्वारों से होकर चले जा रहे हैं, और पहला चौक पार करके अब विशाल खम्भों की ओट में ओझल हो गये हैं। (मन्दिर कितना सुन्दर लगता था! अहा! ऊपर नीला आकाश और सूर्य की सुनहरी किरणों में दमकती हुई वह सुन्दर शिल्प-कला। सहस्रों वर्षों की साधना एवं भक्ति से निर्मित इन कलापूर्ण मन्दिरों की शान्ति और सुन्दरता का आकंठ पान करने के लिए मेरा मन भीतर जाने के लिए अकुला रहा था। मगर हरिजन के भाग्य में यह सुख कहां? वह तो अकेला ही बाहर खड़ा रहेगा और वहीं पर उसकी अभिलाषाएं मुरझाती रहेंगी। संसार में इससे अधिक दुख का अनुभव उसे और कहां हो सकेगा कि वह मनुष्य-जाति से बिलकुल ही बाहर कर दिया गया है?)

मैं बाहर ही खड़ी थी कि तभी एक सूअर वहां आ पहुंचा। मैंने उसका अभिवादन करते हुए कहा – "आह! सूअर भाई, तुम और मैं दोनों ही अछूत बिरादरी के हैं!" लेकिन मेरे इस कथन के उत्तर में घुरघुरा कर उसने अपनी पूंछ झटक दी, और मुझे वहीं छोड़कर तेजी से मन्दिर के फाटक के भीतर चला गया।

उसे भीतर जाते देखकर मैं अकेली खड़ी-खड़ी सोच रही थी कि क्या मनुष्य, मनुष्य के प्रति इस सीमा तक भी अमानुषीय व्यवहार कर सकता है?

(हरिजन सेवक, 9.3.1934)

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसंधान
तिथी...
पु०सं० 3192
भारती पुस्तकालय

यात्रामार्ग के स्फुट चित्र

संध्या

हम लोगों ने नित्य-नियमानुसार दिन के पड़ाव को साढ़े पांच बजे छोड़कर यात्रा प्रारम्भ की। इस समय साढ़े सात बज रहे थे, संध्या का आगमन हो रहा था। गन्तव्य स्थान निकट आने पर बहुत से लोग लालटेनें लेकर आ गये थे और हमारे साथ-साथ चल रहे थे।

सारे मार्ग में यात्रियों का समूह बढ़ता जा रहा था और इस समय उनकी संख्या कई सौ तक पहुंच गई थी।

सामने, वृक्षों से छनकर आने वाले प्रकाश से हम समझ गए थे कि सभास्थल निकट ही है। सड़क पर खड़ी भीड़ ने जिधर से हमको जाना था उस ओर से जाने का हमारे लिए मार्ग बना दिया था।

उस रात, सभा स्थल के लिए, एक तमाल कुंज को चुना गया था। श्वेतवस्त्राच्छादित कम ऊंचाई का मंच बनाया गया था और यत्र-तत्र वृक्षों से लालटेनें लटकी हुई थीं। चारों ओर खजूर के वृक्षों के लम्बे और पतले तने खड़े थे और तारिकाओं से प्रकाशित आकाश में अपने परदार सिर हिला रहे थे। नीचे, बालुकामयी भूमि पर निकट और दूर-दूर से आये हुए सैंकड़ों ग्रामवासी बैठे हुए थे।

कुछ ही मिनटों में चारों ओर पूर्ण शान्ति छा गई। केवल वायु की मधुर और मंद सनसनाहट तथा तमाल पत्तों के हिलने की आवाज आ रही थी। ऐसे मनोहारी वातावरण में सांध्य प्रार्थना प्रारम्भ हुई। प्रार्थना की समाप्ति पर, उस शान्ति और पवित्रता के वातावरण में गांधीजी ने अपना सन्देश दिया —

> जागो, उठो और उस अनैतिक आचरण की अनुभूति करो जो तुम्हें विरासत में मिला है तथा जिसे तुमने मन में संजो रखा है। हिन्दू धर्म का शोधन करो, अन्यथा उसका और हमारा — दोनों का नाश हो जायेगा।

जनता के नाम उनके सन्देश का यही भाव था।

आनन्द

हम लोग सांध्य यात्रा में हैं। सम्पूर्ण मार्ग में उत्सुक ग्रामवासी पंक्ति बांधकर खड़े हैं और गांधीजी के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। एक जगह असाधारण भीड़ है और लोग सारी सड़क पर फैले हुए हैं। एक धवलकेशी बुढ़िया, जिसकी दृष्टि वृद्धावस्था के कारण धुंधली हो गई है, एकाएक लोगों के बीच यह कहते हुए इधर-उधर दौड़ती है —

"वह कहां है? वह कहां है? मैं उसे अवश्य देखूंगी।" इस भाव-विह्वलता में वह उनके दर्शन से वंचित रह जाती यदि गांधीजी उसकी कठिनाई समझकर रुक नहीं जाते। गांधीजी उसे पुकारते हैं। वह

उनकी आवाज की दिशा की ओर उत्कण्ठा से भरी हुई आती है और अपनी धुंधली आंखों को उन पर गढ़ाकर देखती है। गांधीजी हंसते हुए कहते हैं –"क्यों?" फिर उसकी ठुड्ढी पर हाथ रखकर पूछते हैं –"क्या अब तू मुझे अच्छी तरह देख सकती है?"

बुढ़िया के आनन्द की सीमा नहीं रही। आनन्दातिरेक में वह गांधीजी के गले में दोनों हाथ डाल देती है, और उनकी छाती पर सिर रखकर आत्मविस्मृत हो जाती है। गांधीजी धीरे-धीरे उसके स्नेह पाश से अपने को छुड़ाते हैं और वह वृद्धा पुनः भीड़ में मिल जाती है, परन्तु (आनन्द का) एक अलौकिक प्रकाश उसके साथ रह जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी जीर्ण मुखाकृति दमक रही है।

विडम्बना

एक दिन जब प्रातः काल की सभा में गांधीजी ने हमारे आवास में हरिजनों को भोजन के लिए निमन्त्रित किया तो पहले उन्होंने सोचा, यह तो बड़ी अच्छी बात होगी और आने का वचन दे दिया। परन्तु बाद में उनका साहस नहीं हुआ। उन्होंने सोचा – "आखिर हम सब की तो अपनी-अपनी जात है और गांधीजी का दल तो जात-पांत पर विश्वास ही नहीं करता।" इस प्रकार के तर्क-कुतर्क उनके मस्तिस्क में आते रहे। अतः भोजन पर आने से पूर्व उन्होंने अपने बड़े-बूढ़ों से सलाह लेने का निश्चय किया। अंत में उनकी आज्ञा लेकर वे आये, बैठे, और प्रेम पूर्वक भोजन किया।

कदाचित् उन्होंने अपने जीवन में पहली बार ऐसा स्वच्छ और अच्छा भोजन किया होगा।

अस्पृश्यता का यह विष कितनी दूर तक फैल गया है कि समाज से परित्यक्त ये भाई भी उन व्यक्तियों के हाथ का भोजन करने में डरते हैं जिनके बारे में जात-पांत न मानने की सूचना उनको मिली होती है।

सहज एकत्व

गर्मी के कारण दोपहर का तापमान लगभग 110 डि० तक पहुंच गया था, जिसके कारण तम्बू छोटी फुदकती हुई मक्खियों से भर गया था। हमें बताया गया कि ये मक्खियां वैसे तो आम्रवृक्षों पर ही रहती हैं परन्तु जब गर्मी ज्यादा पड़ती है तो ये छाया की तलाश में नीचे आ जाती हैं। आज गर्मी बहुत ज्यादा होने से ये अब इस जगह पर फैल रही हैं।

हम लोग पंखे और झाड़ू की सहायता से उन्हें, कार्य में व्यस्त गांधीजी से दूर हटाने की कोशिश कर रहे थे, परन्तु कोई सफलता नहीं मिल रही थी।

ऐसे में मैं उनकी इतनी बड़ी संख्या देखकर खीझने लगी और बापू से बोली – "बापू, मुझे बताया गया है कि ये वृक्षों की चोटियों से छाया के लिए नीचे आ गई हैं।"

बापू ने शान्तिपूर्वक उनकी ओर देखते हुए कहा – "उनको दोष देना मेरा काम नहीं है। यदि ईश्वर ने मुझे भी इन्हीं में से एक बनाया होता तो मैं भी ठीक ऐसा ही करता।"

(हरिजन सेवक, 1.6.1934)

झाड़ूवाला पुण्ययात्री

आमतौर पर हर रोज सुबह के भ्रमण के बाद हमारे दल के स्त्री-पुरुषों की एक टोली झाड़ू और फावड़ा लेकर कैंप (पड़ाव) के नजदीक स्थित गांव में हरिजनों के घरों में जाती है। वे हरिजनों को बताते हैं कि सफाई क्यों जरूरी है। उन्हें अपना आंगन और सड़कें साफ रखनी चाहिएं, कूड़े-करकट को कहीं गाढ़ देना चाहिए, नहीं तो वह हवा में इधर-उधर उड़कर बिखर जाएगा और फिर सफाई करनी पड़ेगी। शौच के लिए जंगल जाते समय जमीन में छोटा सा गड्ढा खोदना चाहिए और बाद में उसे मिट्टी से भर देना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने से आसपास की जगह गंदी हो जाती है और खुले मलमूत्र पर मक्खियां बैठती हैं जो बीमारी फैलाती हैं। इस तरह की बातें करते करते ही टोली बस्ती की सफाई खुद करने में जुट जाती है। फिर हरिजन भी इस विचार की सराहना करते हुए स्वयं भी शीघ्र ही उस काम में लग जाते हैं। पानी की सुलभता और सामान्य हालत की भी जांच-पड़ताल की जाती है। कैंप (पड़ाव) में लौटने पर सारी बातों की सूचना गांधीजी को दी जाती है।

हमारी सफाई टोली में अक्सर स्थानीय कार्यकर्ता भी शामिल हो जाते हैं। प्रायः वे यह वायदा भी करते हैं कि इस अच्छे काम को वे आगे भी जारी रखेंगे और महीने में कम से कम एक-दो बार इन बस्तियों में फिर से जाया करेंगे।

केंडपाड़ा में एक बस्ती के बीच में हड्डियों का एक बड़ा ढेर दिखाई दिया। जब टोली के लोग उन्हें गाढ़ने लगे तो हरिजनों ने विरोध किया। वे कहने लगे कि इसके उन्हें अच्छे पैसे मिल जाएंगे अतः उसे सफाई से एक कोने में रख दिया गया। फिर हरिजनों से पूछा गया कि क्या वे बासी सड़ा मांस खाते हैं। उन्होंने कहा "नहीं तो"। किंतु उसी समय जब घर के पिछवाड़े गए तो वहां एक मरी हुई गाय पड़ी मिली। उसके पास ही वह आदमी भी खड़ा था जो खाल, सींग आदि इकट्ठे किया करता था। उसने एकदम बता दिया कि हरिजन मरे जानवर का मांस खाते हैं। इस पर वे बेचारे बहुत शर्मिन्दा हुए और उन्होंने वायदा किया कि भविष्य में वे कभी बासी सड़ा मांस नहीं खाएंगे। यह तो बाद में पता चलेगा कि वे अपने वायदे के पक्के रहे या नहीं।

जयपुर में नदी के तट की हालत इतनी गंदी थी कि उसे देखकर मन खराब हो जाता था। हमारी टोली ने यह तय किया कि वहां हरिजनों के घरों की सफाई के बजाय इस तट की सफाई की जाए। आम जनता ने भी इस काम में बड़ी दिलचस्पी ली और कई लोगों ने स्वयं सहायता भी की। फलतः बड़ा होने के बावजूद सारा काम डेढ़ घंटे में ही हंसी खेल में पूरा हो गया।

भद्रक सब-डिवीजन शहर में हरिजनों के मकानों की हालत गावों की हालत से भी खराब थी। हमारी पुण्ययात्रा का यह अंतिम पड़ाव था और यहां हम तीन दिन रहे। आश्रम में पहुंचने पर हमारी सफाई टोली का एक सदस्य गांधीजी के पास गया और उनसे पूछा कि सफाई की पुण्ययात्रा के काम की समाप्ति के बाद अब क्या वह कुछ दिनों के लिए कलकत्ता जा सकता है? गांधीजी बोले "ये आप क्या कहते हैं? आज सुबह जब हम गलियों से गुजर रहे थे तो क्या आपने वहां की गंदगी नहीं देखी? यहां इतना काम है कि जब तक हम यहां हैं तब तक के लिए वह हमारे लिए काफी है। जब तक हम शुक्रवार को वर्धा की रेलगाड़ी में नहीं बैठ जाते तब तक हमारी पुण्ययात्रा

समाप्त नहीं होगी। यदि हम भद्रक में मनोरंजन के लिए आते तब तो तुम्हारा किसी काम से कलकत्ता जाना भी ठीक था। लेकिन यहां हम सेवा करने के लिए आए हैं।"

बात सदस्य की समझ में आ गई। वह वहीं रूका रहा और उन गलियों में टोली तीन दिन तक सफाई करती रही, फलस्वरूप स्वेच्छिक सफाई कार्यकताओं के योगदान से वे गलियां खूब साफ हो गईं। इस प्रकार उन गलियों में रहने वालों को वास्तविक सफाई का प्रदर्शन देखने को मिला।

(हरिजन 15.6.1934 - से अनूदित)

सेगांव में कार्यारम्भ : कुछ तथ्य और आंकड़े

अब चूंकि सेगांव में कुछ काम और प्रयोग करने तथा समय-समय पर अपने अनुभवों को लिखते रहने की मैं आशा करती हूं, यह अच्छा ही होगा कि शुरू में ही अपने इस गांव का मैं संक्षिप्त विवरण दे दूं।

इस गांव की जमीन कई किस्म की है —हलकी और पथरीली मुरम से लेकर भारी काली मिट्टी तक यहां मिलती है। फसल खासकर जुवार, कपास, दाल, गेहूं, चना और अलसी की होती है। अमरूद, संतरे, केले और गन्ने के एक-दो छोटे-छोटे बाग हैं। जगह-जगह और खासकर छोटे-छोटे नालों के किनारे सिंधी ताड़ लगे हुए हैं, जिनसे अक्सर लोग ताड़ी निकालते हैं। गांव के चारों ओर खेत ही खेत हैं। वर्धा यहां से पांच मील पर है, चार मील के भीतर कोई भी सड़क नहीं है। सिर्फ बैलगाड़ी की गड़वायतें (लीक) और पगडन्डियां ही हैं।

जनसंख्या यहां की 639 है। हरिजनों की काफी बड़ी संख्या है। 271 महार हैं और 10 मांग। कुनबी 109, गोंड 92 और बाकी के लोग विभिन्न जातियों के हैं।

कुल 16 कुंए हैं, जिनमें 11 तो ऊंची जातियों के हैं और 5 महारों के। मांग लोगों के घड़ों में महार भाई पानी डाल देते हैं, उनके कुओं से वे पानी नहीं खींच सकते।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का यहां एक प्राइमरी स्कूल भी है, जिसमें 23 लड़के और 10 लड़कियां पढ़ती हैं।

3 मंदिर हैं। एक में तो सभी सवर्ण जा सकते हैं, पर दूसरे में केवल ऊंची जातियां ही जा सकती है। और तीसरे में महार तो जा सकते हैं, पर मांगों को उसमें जाने की मनाही है।

गांव के उद्योग धन्धें इस प्रकार हैं --

1. खपरे बनाना; 2. चटाई बनाना (ताड़ के पत्तों की); 3. कपड़े बुनना (मिल के सूत के); और 4. ताड़ी निकालना।

यहां 3 छोटी-छोटी दुकानें हैं। एक झोंपड़े में पान और बीड़ियां बिकती हैं, और जुए का जमघट रहता है।

मांगों की स्त्रियां गांव में दाई का काम करती हैं। काम के वक्त तो उन्हें बड़ी-बड़ी ऊंची जातियों के रसोड़े (रसोई) तक में जाने की इजाजत मिल जाती है —उस समय सारी छूतछात काफूर हो जाती है।

कुछ ब्राह्मण परिवारों को छोड़कर सभी जातियां बकरे, मुर्गी और मछली का मांस खाती हैं। हरिजन खूब दारू व ताड़ी पीते हैं। ऊंची जातियों के लोग ज्यादा नहीं पीते -- कभी-कभी थोड़ी सी शराब पी लेते हैं।

सेगांव की कुल जमीन लगभग 1550 एकड़ है, और सरकारी लगान रु०1215/- है।

जमीन इस तरह बंटी हुई है --

जमनालाल जी बजाज	70 एकड़
बाबा साहब देशमुख	करीब 150 एकड़
60 छोटे-छोटे जमींदार, 23 गोंड, 22 कुनबी और मराठा और 15 महार	1330 एकड़

गांव की मालगुजारी इन दो हिस्सों में विभक्त है --

1. जमनालाल जी की मालगुजारी	75 फीसदी
2. बाबा साहब देशमुख की मालगुजारी	25 फीसदी

सफाई के प्रयोग

गांव में इस अत्यंत आवश्यक प्रश्न को हल करने का मैं प्रयोग कर रही हूं। तैयारी अब भी बिल्कुल पूरी तो नहीं हुई है, पर यह अच्छा होगा कि सफाई की जो योजना मैंने बनाई है उसके विषय में अब थोड़ा-सा हाल नीचे दे दूं। इसके बाद समय-समय पर मैं अपने काम की प्रगति की रिपोर्ट देती रहूंगी।

यहां आने के बाद दो या तीन हफ्ते तक तो मैंने गांव के लोगों की आदतों का अध्ययन करने के सिवा और कुछ भी नहीं किया। इसके बाद, जब मुझे उनके तौर-तरीके कुछ-कुछ मालूम हो गये, तब मैंने गांव के बाहर उन्हीं हिस्सों में, जहां कि लोग पहले टट्टी फिरने जाते थे, शौच के लिए बैठने की 7 जगहें चुनीं। (सिंदी गांव के मेरे प्रयोगों ने मुझे यह सबक दे दिया था कि जिस तरफ लोग जाते हैं उस रास्ते को बदलने का प्रयत्न करना खतरे से खाली नहीं है।) इस तरह गांव के बाहर इन हिस्सों में शौच के लिए बैठने की जगहों का मैं इंतजाम कर रही हूं। हरेक दिशा में एक जगह पुरुषों के लिए और एक जगह स्त्रियों के लिए रहेगी, और एक चौथी जगह स्त्रियों के लिए एक हिस्से में और तैयार की जा रही है, जहां कि रोज सबेरे उनकी संख्या मामूली से ज्यादा हो जाती है। टट्टियां मामूली व सादी ही बनाई जा रही हैं। करीब 25-30 फुट लंबी और 10 से 20 फुट तक चौड़ी जमीन पर का तमाम घास और झाड़-झंखाड़ काट कर साफ कर दिया गया है, और जिधर खुला हुआ है उसके चारों तरफ परदे के लिए चटाइयां लगाई जा रही हैं।

स्त्रियों के लिए एक बड़ा सा मैदान बहुत काफी है, क्योंकि उन सब को एक साथ बैठने की आदत है, लेकिन पुरुषों के लिए इन टट्टी बाड़ों के भीतर छोटे-छोटे विभाग बनाये जा रहे हैं। इन 5 बड़े-बड़े बाड़ों का तमाम मैला 4 $^{1}/2$ फुट गहरे और 10 फुट लंबे-चौड़े एक बड़े गड्ढे में डाला जायगा। गांव की एक बाजू में तो यह बड़ा गड्ढा और दूसरी बाजू में उससे एक छोटा गड्ढा (4 फुट गहरा और 6 फुट लंबा-चौड़ा) बाकी के दो टट्टी-बाड़ों का मैला डालने के लिए, इस तरह दो गड्ढे खुदवाये गये हैं। एक भंगी और उसकी स्त्री को रु०17/- मासिक पर तैनात कर दिया है, जो इन बाड़ों को साफ किया करेंगे और गांव के रास्तों व चौपालों पर झाडू भी रोज लगाएंगे। गड्ढों में पहले मैला डाला जाएगा और उस पर रास्तों का कूड़ा-कचरा और मिट्टी डालते जायेंगे। गड्ढे भर जाने

के बाद कुछ महीनों में उन्हें जब खोदेंगे तो उनसे अच्छा बढ़िया खाद निकलेगा, बू उसमें जरा भी नहीं होगी। भंगी को यह वचन दे दिया गया है कि खाद की प्रत्येक गाड़ी पर उसे एक आना बतौर बोनस के दिया जायगा।

इस खाद की कीमत से टट्टी-बाड़ों और भंगी की तनखा का खर्च निकल आना चाहिए। चौमासे में खाद तैयार करने का तो कोई दूसरा ही तरीका हमें अख्तियार करना होगा, पर उसके संबंध में जब वह समय आयेगा तब देखा जायगा।

सफाई का एक ऐसा स्वावलम्बी तरीका ढूंढ निकालना ही इस प्रयोग का उद्देश्य है, जिस पर कि लाखों गांवों में अमल किया जा सके। अपने ही हाथों से सफाई का यह काम करना हमारे लिए है तो अच्छा, पर थोड़े नहीं, हिन्दुस्तान में 700,000 गांव हैं, जहां हम कभी पहुंच ही नहीं सकते।

असल में सेगांव में खुद जमनालाल जी बजाज हमारे इस प्रयोग का सारा खर्चा उठा रहे हैं, और इस काम में मुझे उनकी मालगुजारी के मैनेजर तथा उनकी जमीन में काम करने वाले लोगों का पूरा-पूरा सहयोग मिल रहा है। दूसरे आसपास के गांव इन प्रयत्नों को शुरू से ही ध्यान से देखते आ रहे हैं, और अगर हम इसे बना सके तो इसमें संदेह नहीं कि यह चीज जरूर पड़ोस में फैल जाएगी। वर्धा और इधर इर्द-गिर्द में जो बहुत से भंगी बेकार बैठे हैं वे इस आशा से हमारे इन प्रयत्नों को खूब ध्यान के साथ देख रहे हैं कि शायद भविष्य में उन्हें गांवों की सफाई का काम मिल जाये।

अब तक दो टट्टी-बाड़े तैयार हो चुके हैं। स्त्रियों के लिए दो बाड़े पहले ही तैयार कर दिये गये हैं। बाड़ों का काम तो करीब करीब खत्म ही समझिए, पर इसके साथ-साथ हमारी कठिनाइयों की शुरूआत हो गई है। तरह-तरह की अफवाहें उड़ने लगी हैं। यह सुनने में आया है कि जो लोग इन टट्टी-बाड़ों में जायेंगे, उनसे चार-चार आने माहवार वसूल किये जायेंगे। यह भी कानाफूसी हो रही है कि मुझे जरूर सरकार से तनखा मिलती है। और इस सब काम का नतीजा यही होगा कि लोगों पर किसी तरह का कोई टैक्स लगा दिया जायगा। मगर जो हिम्मत वाली स्त्रियां हैं वे तो पहले से ही साहस दिखा रही हैं। मुझे बिला नागा हरेक टट्टी-बाड़े में जाना पड़ता है, और उन्हें यह यकीन दिलाना पड़ता है कि हम लोग जो यह सब मेहनत कर रहे हैं इसके बदले में हम आपसे रूपया-पैसा नहीं, केवल यह खाद चाहते हैं।

मुलाकातियों से दो शब्द

वर्धा से यह गांव 5 मील की दूरी पर है, और खेतों में होकर जाना पड़ता है, तो भी मुलाकाती सज्जन अक्सर यहां आ पहुंचते हैं। कृपा कर वे इतना याद रखें कि यहां चीजें बहुत थोड़ी मिलती हैं और समय भी बहुमूल्य है। इसीलिए जब भी वे यहां दिनभर के लिए आना चाहें, तो मेहरबानी करके अपने साथ अपना खाना भी लायें।

(हरिजन 1-2-1936 - से अनूदित)

आन्ध्र देश की एक झलक

चावल, चावल -- जहां देखो वहां चावल। खेतों में चावल, हर-बाजार में चावल, थाली में चावल -- चारों ओर चावल की ही माया! बेचारे रोटी खाने वाले की तो मुसीबत ही है! फिर भी आन्ध्र देश कैसा सुरम्य देश है, और

यहां के लोग कितने प्रेमी और उत्साही हैं।

यों तो आन्ध्र में मैं कितनी ही बार गई हूं, पर अब की बार, यद्यपि मैं एक ही हफ्ता वहां रही, मैंने उसे पहले से कहीं अधिक अच्छी तरह देखा। कारण इसका यही है कि मोटरों की सवारी छोड़कर अब की बार मैं अधिकतर पैदल ही वहां घूमी, घोड़े या बैलगाड़ी की तो कहीं-कहीं ही मदद ली।

कृष्णा डेल्टा के गांव पहले के मुकाबले में यद्यपि आज कंगाल हो गए हैं, तो भी भारतीय ग्रामों के वे आज भी अच्छे नमूने हैं। वहां सुन्दर कलात्मक घर हैं, पत्थर के सुन्दर मन्दिर हैं, पाठशालाएं हैं और पुस्तकालय हैं। मगर अफसोस! हरिजनों की बस्तियां जैसी होनी चाहिए थीं वैसी नहीं हैं। लेकिन फिर भी और जगहों से तो वे अच्छी ही हैं। कई गावों में, जहां मैं गई, हरिजनों के लिए मन्दिर खुल गये हैं, और मैं एक भंगिन, जो सिंदी गांव में मांग लोगों के भी कुएं से पानी नहीं भर सकती, इन मन्दिरों में जा सकी, पूजार्चना देख सकी और भगवान का प्रसाद ले सकी।

इन गांवों से प्रोत्साहन और यहां के उदात्त कार्यकर्ताओं से एक प्रकार की प्रेरणा मिलती है।

एक हफ्ते का समय होता ही कितना है? उसमें भी मैंने इतनी जगहें देखीं और इतने लोगों से मिली कि सब कुछ याद रखना सम्भव नहीं, और यदि याद रख भी लूं तो इस छोटे से लेख में उन सब बातों को लिखना सम्भव नहीं है। वहां सार्वजनिक सभाएं और प्रदर्शन के उद्घाटन तो हुए ही, पर सबसे अधिक प्रभाव तो मेरे मन पर श्री सीताराम शास्त्री के विनयाश्रम के सेवकों का, श्री सुब्रमण्यम् के आश्रम और गांवों का तथा गुन्डाला के खद्दर-संस्थान की सुव्यवस्था का पड़ा। अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों में मैंने वहां धान की हथकुटाई, ताड़ का गुड़ बनाना, टोकरियां, पंखे, खिलौने, मिट्टी के बरतन आदि बनाना और बढ़िया कताई और बुनाई की कला देखी।

आन्ध्र के सुन्दर गांवों से होकर जब मैं जाती, तो वहां की सफाई वगैरा मैं जरूर देखती थी। गांवों के अन्दर तो सफाई बुरी नहीं थी, पर सरहद तो हर जगह गन्दी ही नजर आई। मुझे जहां भी मौका मिला, सफाई के इस प्रश्न पर विस्तारपूर्वक अच्छी तरह चर्चा करने से मैं कभी चूकी नहीं। यद्यपि इस दिशा में अभी कुछ हुआ नहीं है तो भी मैंने देखा कि इस प्रश्न में लोगों की दिलचस्पी है, और वे इसका महत्व भी समझते हैं।

जिस दिन ये गांव खूब साफ-सुथरे रहने लगेंगे, और हरिजन बस्तियां अन्य बस्तियों जैसी हो जायेंगी, उस दिन ये निश्चय ही सच्चे सौन्दर्य के नमूने बन जायेंगे।

(हरिजन सेवक, 11.11.1936)

सेगांव : रोज के अनुभव

शाम के समय मैंने लालटेन जलाई ही थी कि एक युवक मेरे दरवाजे के पास आकर बैठ गया। कुछ मिनट के बाद वह बोला "बाई, दोपहर से मेरे सिर में भयंकर दर्द है। क्या, आपके पास कोई मल्हम है जिसे मैं लगा सकूं? मैंने कहा "नहीं, मैं अपने पास मल्हम नहीं रखती। पर तुम्हारा सिर दर्द किसी भीतरी गड़बड़ी के कारण है। उसका पता लगाकर उसका इलाज करना ठीक रहेगा।" हां, उसे दोपहर के बाद मलेरिया का तेज बुखार हुआ था और उसी का जहर उसके शरीर में काम कर रहा था। उसे उसी समय आठ ग्राम कुनैन खिलाई गई और अगले दिन के लिए

दस गोलियां दी गईं। उसे गोलियां देते हुए मैंने कहा -- "लेकिन गोली खाने के बाद तुम्हें दूध जरूर पीना होगा।" वह मान गया और रास्ते में ग्वालों से दो पैसे का दूध खरीदने चला गया। शनिवार की रात थी और रविवार को वह वर्धा बाजार जाना चाहता था।

कुछ ही देर में वह लौटा और बोला "बाई, ग्वालों ने मुझे दूध बेचने से इन्कार कर दिया। वे कहते हैं कि हम महारों को शनिवार और रविवार को दूध नहीं बेचते।" मैं बोली "यह तो बड़ी बेतुकी बात है। तुम उन्हें समझाओ कि तुम्हें दूध दवाई के लिए चाहिए।" उसने निराशा में सिर हिलाया "कोई फायदा नहीं है। वे मेरी बात सुनेंगे तक नहीं।" "तो फिर हम दोनों एक साथ चलते हैं। मैं उन्हें समझाऊंगी। लेकिन तब भी अगर उन्होंने दूध तुम्हें नहीं बेचा तो वे मुझे तो दूध दे ही देंगे।" मैं ग्वालों के बीमार होने पर पहले भी उनकी सेवा सुश्रूषा के लिए उनके बीच में गई थी, इसलिए उन्हें पता था कि कुनैन खाने के बाद दूध पीना पड़ता है। जब मैंने उन्हें सारी बातें याद दिलाईं तो अपनी शर्म छिपाने के लिए उन्होंने बीमार महार को दूध बेच दिया।

जब हम वापस आ रहे थे तो वह युवक छुआछूत के अंधे युग का रोना रोने लगा। मैंने कहा "हां, वाकई यह बात बहुत खराब तो है, लेकिन इस बात को मत भूलो कि तुम लोग भी मांगों के साथ बहुत बुरा सलूक करते हो —उससे भी बुरा सलूक, जैसा ऊंची जाति वाले तुम्हारे साथ करते हैं।" मेरी बात सुनकर वह शर्मिन्दा हो गया। मैंने कहा "तुम तो मांगों को अपने आंगन में घुसने तक नहीं देते।" अचानक उसे एक बचाव सूझा "नहीं नहीं, हम आने तो देते हैं। जब हमारे घर में प्रसव होता है तो हम उनकी औरतों को सीधे घर में भीतर भी घुसने देते हैं।" मैंने कहा "ये क्या तुम मुझे कोई बड़ी बात बता रहे हो? कुनबी भी तो ऐसा ही करते हैं।"

इसमें भी सबसे हैरानी की बात यह है कि मांगों का पेशा साफ-सुथरा है। उनका काम गांवों के समारोहों में गाना-बजाना मात्र है और वे अपने घरों में ही झाड़ू वगैरह भी बनातें हैं। मैंने उसे बताया— "हम तो तुम्हारी भरसक सहायता करना चाहते हैं। लेकिन याद रखो ईश्वर का यह नियम है कि जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे। जब तक तुम लोग मांगों को और उनसे छोटी जात वालों को दुखी करते रहोगे तब तक तुम खुद भी अपनी दशा नहीं सुधार सकते।"

दो दिन बाद जब मैं कुएं से पानी भर रही थी तो एक मांग मेरे पास आया और कहने लगा "मांजी, हमारी मदद कीजिए, हम पर कृपा कीजिए, नहीं तो हम मर जाएंगे।" मैंने पूछा "बात क्या है?" वह बोला "पिछली वर्षा के दौरान हमारा कुंआ टूट गया था और उसमें मिट्टी भर गई है। अब हमारे पास इतने साधन नहीं हैं कि हम नया कुंआ खोद सकें। महार हमें अपने कुंए से पानी नहीं भरने देते। हमें कुंए से दूर तब तक घंटों खड़े रहना पड़ता है, जब तक उनमें से कोई खुद पानी न दे। लेकिन उनमें से किसके पास इतना धीरज है कि वह हमारे तीनों घरों को पूरा पानी दे दे। हमारे बड़े-बड़े कुटुंब हैं और हमें काफी मात्रा में पानी चाहिए। इसलिए हम लोगों को लाचार होकर गांव के पिछवाड़े वाली गंदी नाली का पानी इस्तेमाल करना पड़ रहा है और वह भी सूखता जा रहा है। मांजी, हम पर दया कीजिए।"

अगले दिन मैं उनके टूटे हुए कुंए और उस जगह को भी देखने गई जहां से वह नाले का पानी लेते थे। कुंआ क्या था, बस एक गहरा गड्ढा सा था जिसमें गांव की बनी टाइलें लगी थीं, पर अब जमीन में बना हुआ मामूली सा गड्ढा ही दिखाई दे रहा था। जिस जगह से वे पानी ले रहे थे वहां पर उन्होंने पेड़ का एक खोखला तना नदी के किनारे खोंसा हुआ था। मैंने अपनी बगल में खड़े मांग से कहा —"मान लो मैं सेठ जी को आपके काम के लिए

मना लूं और वे नया कुंआ बनवाने के लिए तुम्हारी मदद करना मंजूर कर लें, तो क्या तुम अपने कुंए से भंगियों और चमारों को पानी लेने दोगे?" "नहीं, मांजी नहीं, यह तो हो ही नहीं सकता।" तो फिर तुम भी सुनलो कि मैं इस बारे में कुछ नहीं कर सकती। मैंने उन्हें कुछ और समझाने की कोशिश की। आखिर में उसने कहा "ठीक है, आप जैसा ठीक समझें वैसा करें। हम आपका कहा मानेंगे।"

उचित ही है, अगर हम में कुछ भी चेतनता शेष है तो भंगी से लेकर ऊपर की सभी जातियों पर समान रूप से ध्यान देना होगा।

• • •

पिछले पखवाड़े से मैं हर शाम प्रार्थना सभा का आयोजन करती हूं। पहले कुछ दिन चार-पांच बच्चे आए। धीरे-धीरे उनकी संख्या बढ़ने लगी। अब वे दस से बीस तक रहते हैं, उनके साथ कभी-कभी कुछ प्रौढ़ भी आ जाते हैं। पहले दिन से ही इस कार्यक्रम में सबसे उत्साह एक मुस्लिम बालक दिखा रहा था। इस सम्बंध में एक बात जो मुझे सोचने पर मजबूर करती थी वह यह थी कि ऊंची जाति के बच्चे उस मुस्लिम बच्चे को तो बड़े आराम से अगली पंक्ति में बैठने देते थे लेकिन महारों को सबसे पीछे ही रहने देते थे। मांग तो अब तक वहां आने का साहस ही नहीं जुटा पाए थे।

हो सकता है औपचारिक रूप से सब चीजें सभी लोगों के लिए सुलभता से उपलब्ध हों, लेकिन जब तक हम सब लोगों के दिलों को नहीं खोल लेते तब तक रोजाना की जिंदगी के आपसी संबंधों में एक-दूसरे के द्वारा सताए जाने का भय बना ही रहेगा, और यह भय प्रगति के रास्ते में भी बाधक बना रहेगा।

• • •

सफाई की समस्या अभी भी मेरा सबसे अधिक समय ले लेती है। कुल मिलाकर काफी स्त्रियां टट्टियों का इस्तेमाल करने लगी हैं। लेकिन अभी भी कुछ औरतें टट्टी के भीतर बैठने के बजाए चटाई के बाहर बैठती हैं या सड़क पर ही बैठ जाती हैं। जब मैं देखती हूं कि कोई औरत टट्टी से कुछ गज दूर सड़क पर ही बैठने वाली है, तो मैं कहती हूं—नहीं, वहां बाहर मत बैठो। वह जबाव देती है "मेरी फिक्र मत कीजिए, मेरे पेट में दर्द है। जहां मुझे अच्छा लग रहा है वहीं मैं बैठी हूं।" और वहीं बैठ जाती है। मैं देखती हूं कि एक अन्य स्त्री टट्टी से कुछ दूर खुली जगह पर बैठ रही है। और जब मैंने उसे भी समझाने की कोशिश की तो वह तीखी आवाज में बोली "आप अपने घर जाइये। हम गांव वालों को टट्टियों के भीतर बैठने की आदत नहीं है।"

अब सात में से चार टट्टियां तैयार हो गई हैं। शेष तीन इसी हफ्ते तैयार हो जायेंगी। तब मेरा काम यह होगा कि लोगों को टट्टियों का इस्तेमाल करने के लिए मनाऊं।

(हरिजन 8.2.1936 - से अनूदित)

मौत की आखीरी सीढ़ी पर

अकाल हमारे आगे मुंह बनाये खड़ा है। देहात में रहने वाले करोड़ों लोगों के लिए यह भुखमरी की ओर एक और कदम बढ़ना जैसा है, और यह आखिरी कदम तो उन्हें मौत के मुंह में ढकेल ही देगा।

कुछ दिन पहले मैं पास के एक छोटे-से हरिजन गांव (बिछपुरी) में गई थी। उसका विवरण कुछ इस प्रकार है —

एक नदी के बहाव के बारे में कुछ बातें मालूम करने के लिए मुझे यहां घोड़े पर सवार होकर जाना पड़ा। सबेरे का वक्त था और पाला पड़ रहा था। मैंने सर्दी से बचने के लिए मोटा कोट पहन लिया था और सिर पर एक गरम ऊनी गमछा लपेट लिया था। खेतों में होकर मील-डेढ़ मील की दूरी पार करने पर सामने मिट्टी और फूस की झोंपड़ियां खड़ी मिलीं। मवेशी भी उनके आगे ही खड़े थे। गाय और बैल आश्रम के एक वर्ष के बछड़े से शायद ही कुछ बड़े होंगे। उनके बदन की हड्डियां बाहर निकली पड़ रही थीं और वे मुझे बेजान और थकी हुई आंखों से देख रहे थे। पहला ख्याल दिल में यही आया —"कैसी बेरहमी है? ये लोग इन जानवरों को खाने के लिए पर्याप्त चारा क्यों नहीं देते?" मगर जब इन्सानों की तरफ देखा तो वे भी जानवरों से अधिक स्वस्थ नजर नहीं आये। उनकी भी वैसी ही इच्छा शक्ति से रहित सूनी आंखें और बाहर निकली हुई हड्डियां। एक तरह से तो वे जानवरों से भी गये-गुजरे नजर आये; प्रकृति ने जानवरों को तन ढंकने के लिए बाल तो दिये थे, जब कि इन्सानों के कपड़े चिथड़े-चिथड़े हो रहे थे। औरतें सबेरे का खाना पका रही थीं। मैंने पूछा —"जरा बताओ तो बहन, क्या पका रही हो?" एक बहन पतली-सी मक्का की रोटी और सरसों की सब्जी लेकर आई। यह सब्जी वह खेत से बटोर लाई थी। मैंने पूछा —"और दाल कहां है?" उसने अपने फटे लहंगे की ओर इशारा करते हुए कहा "क्या आप समझती हैं कि अगर मैं दाल खरीद सकती होती, तो मैंने अपनी लाज ढकने के लिए ठीक-सा लहंगा न बना लिया होता?" सचमुच ही इस बहन ने लहंगे को मोटे धागे से जैसे-तैसे जोड़-तोड़ रखा था। मैंने जवाब दिया —"क्या तुम्हारा कहना यह है कि तुम्हें दाल नहीं मिलती?" पास खड़े आदमी ने हां-में-हां मिलाते हुए कहा "हां, यही बात है, अगर कभी कोई खास मेहमान आ जाते हैं या कोई त्यौहार आ पड़ता है, तो हम बकरा या बछड़ा या और कुछ भी बेचकर थोड़ी दाल ले आते हैं।तो फिर तुम लोग तेल तो खाते होगे? "नहीं, वह भी नहीं!" मैंने मसालों के बारे में पूछा —"और नमक?" "हां, हम लोग खेत की मेंड पर से और सार्वजनिक जमीन पर से घास काटते हैं और पास के देहाती बाजार से उसके बदले थोड़ा नमक ले आते हैं। अगर घास थोड़ी ज्यादा मिल गई, तो कुछ मिर्च भी पा लेते हैं।" उसने जवाब दिया।

अगर ऐसे लोगों की खूराक में कमी की गई, तो उसका मतलब मौत ही होगा। घर में कुछ गल्ला जमा नहीं है और शरीर की ताकत तो पहले ही जा चुकी है। उनमें से अधिकतर खेतीहर मजदूर हैं। इनके पास अपनी कोई जमीन नहीं। ये सबके सब बेपढ़े-लिखे हैं। इस तरह के लोग करोड़ों की संख्या में देश में फैले हुए हैं।

यह छोटी-सी तस्वीर खींचते हुए मैंने कोई नई बात नहीं कही है। साधारणतः हर कोई इन हालतों से परिचित है। मग़र जो लोग आराम से जिन्दगी बसर कर रहे हैं, उनके दिलों में हमेशा यह तस्वीर बसी नहीं रहती। अगर ऐसा होता, तो वे आज जिस तरह खाते-पहनते और रहते हैं, उस तरह नहीं रह पाते।

जब अकाल की तकलीफ महसूस होने लगेगी तो शहरों में रहने वाले अपनी आवाज उठा सकेंगे, मगर खेतों में काम करने वाले मजदूर चुपचाप, हमारी निगाहों से दूर, इस असह्य पीड़ा को सहन करते रहेंगे।

जो अकाल को दूर करने के उपाय करने जा रहे हैं, उन्हें समय रहते इन करोड़ों बेजबानों को याद रखना चाहिये।

अन्ततः जब जनता के प्रति जिम्मेदार सरकार आयेगी, तो उसका पहला काम होगा कि वह समाज के इस

अंग का उद्धार करे और इसे स्थायी रूप पर अपने पावों पर खड़ा रहने वाला बनाये।

(हरिजन सेवक, 10.3.1946)

कचरे में से सोना

गांव वालों की समस्या को सगझने के लिए जब से मैंने किसानों की-सी जिन्दगी बितानी शुरू की है, तब से मैं एक ही दृढ़ निश्चय पर पहुंची हूं कि गांव के हित में जिन कार्यों को हमें करना है, उनमें खाद तैयार करने का कार्य सबसे महत्वपूर्ण है। आम किसान खाद तैयार करने की कोई कोशिश नहीं करता। आमतौर पर खेतों में गोबर और छोटे-मोटे कूड़े-करकट को, ढेर के रूप में बिना मिलाए ही डाल दिया जाता है। ये ढेर या तो गड्ढों में होते हैं या समतल जमीन पर। बरसात के दिनों में वे खुले पड़े रहते हैं, इसलिए वे कुछ हद तक ही सड़ते हैं और बाद में उन्हें खेतों में कहीं कम, कहीं ज्यादा, फैला दिया जाता है। इस तरह जो खाद किसानों के पास इकट्ठा होती है उसका वे कम-से-कम फायदा उठाते हैं। हिन्दुस्तान के गांवों में खाद की कमी का सबसे बड़ा कारण यह बताया जाता है कि गांव वाले गोबर का बहुत बड़ा भाग ईंधन के काम में ले लेते हैं। लेकिन इस ईंधन को किसी प्रकार कम किये बिना भी आज खाद के लिए जितना गोबर इकट्ठा किया जाता है उसे दुगना तो किया ही जा सकता है। इसमें से बहुत-सा तो बंधे हुए ढोरों के पांव तले रौंदे जाने से बरबाद हो जाता है, और इससे भी ज्यादा चरागाहों में पड़ा रह जाता है। अगर इस तरह बरबाद होने वाले सारे गोबर को बचाया जाए और घर के बाड़ों और गांव की गलियों में हमेशा पड़े रहने वाले कचरे को नियमित रूप से इकट्ठा करके दोनों को ठीक प्रकार से मिला दिया जाए, तो आज जितनी खाद तैयार की जाती है, इस विधि से उससे दुगनी खाद तैयार हो सकती है। इस तरह की खाद से फायदा भी कई गुना ज्यादा होगा।

कृत्रिम या बनावटी खादों को तैयार करने के लिए बड़े-बड़े कारखाने खोलने के बजाय बाड़ों में खाद तैयार करने का कार्य अधिक आवश्यक है। बनावटी खाद तैयार करने के लिए बहुत बड़ी पूंजी, बड़ी-बड़ी मशीनों और कई अनुभवी व्यक्तियों की जरूरत होती है, और इस तरह तैयार की हुई बनावटी खाद बहुत बड़े अन्तराल के बाद मुश्किल से सात लाख गांवों में से कुछ ही गांवों तक पहुंच सकेगी। इस खाद को बरतने (उपयोग में लाने) में भी बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। लेकिन जो खाद बाड़ों में तैयार की जाती है उसके लिए न तो भारी पूंजी की जरूरत है, न बड़े-बड़े कल-कारखानों या अनुभवी व्यक्तियों की। उसकी सारी सामग्री, इकट्ठा करने वाले का रास्ता देखती हुई गांवों में ही बिखरी पड़ी रहती है। किसान अपने मामूली औजारों से ही यह सारा काम पूरा कर सकता है। यह सीधे-सादे तरीकों से बनाई जाने वाली बाड़ों की खाद सारी दुनिया में सब खादों से अच्छी और सबसे कम नुकसान देह मानी जाती है।

किसानआश्रम में मैंने सादे-से-सादे तरीकों से खाद तैयार करने के प्रयोग शुरू किये हैं। यह काम अभी प्रारम्भिक अवस्था में है, इसलिए इसके बारे में आंकड़ों का विवरण या समय का विवरण तो मैं नहीं दे सकती, लेकिन जो तरीका आज मैं काम में ले रही हूं उसका ब्योरा इस तरह है– 2 फुट गहरा, 22 फुट लम्बा और 10 फुट चौड़ा एक गड्ढा खोदा जाता है (हर रोज जितना गोबर और कचरा काम में लिया जाए, उस हिसाब से गड्ढे की लम्बाई-चौड़ाई में अन्तर रखा जा सकता है)। प्रतिदिन घास-पत्तियां और दूसरी तरह का मामूली कचरा इकट्ठा

किया जाता है और गड्ढे के किनारे पर उसका ढेर लगा दिया जाता है। इस कचरे के पास ही अलग से गोबर और घोड़े की लीद का ढेर लगा दिया जाता है। दिन के आखीर में कचरे की पतली तह गड्ढे के आधे से ज्यादा हिस्से में फैला दी जाती है और उसके ऊपर गोबर की पतली तह हाथ से फैला दी जाती है। इस तरह रोज-रोज जितना गोबर और कचरा इकट्ठा किया जाता है उसी हिसाब से उसकी एक तह पर दूसरी तह बिछा दी जाती है। गोबर और लीद को धूप और हवा के बुरे असर से बचाने के लिए सबसे ऊपर की तह हमेशा कचरे की रखी जाती है। हर तीसरे दिन इन तहों पर इतना पानी छिड़का जाता है कि वे गीली हो जाएं। जब आधा गड्ढा भर जाता है, तो खाद को मिट्टी की पतली तह से ढक दिया जाता है और 6 से 8 हफ्तों तक पड़ा रहने दिया जाता है। इसके बाद उसे गड्ढे के दूसरे आधे हिस्से में खींच लिया जाता है। खींचते वक्त यह ख्याल रखा जाता है कि जमी हुई तहों के पतले और खड़े टुकड़े किये जाएं। इस तरह जब खाद गड्ढे के दूसरे हिस्से में फैला दी जाती है तो उसे फिर पानी से तर कर दिया जाता है और मिट्टी से ढक दिया जाता है। फिर दूसरे 6 से 8 हफ्ते बीत जाने के बाद उस खाद की जांच की जाती है। यदि वह काफी मात्रा में अलग-अलग हो जाती है, तो उसे गड्ढे से बाहर निकाल कर जमीन पर इकट्ठा कर दिया जाता है, और मिट्टी से ढक दिया जाता है। अब यह जरूरत के मुताबिक कभी भी काम में लाया जा सकता है। अगर खाद के दानों के अलग-अलग हो जाने में किसी तरह की कसर रह जाती है, तो ऊपर बताये गये तरीके से एक बार फिर उसे गड्ढे के दूसरे आधे हिस्से में खींच लिया जाता है। बरसात में इस गड्ढे पर छप्पर डाल देना जरूरी है।

किसान की आज की अशिक्षित मानसिक स्थिति में उससे इतना करा लेना भी बड़ा कठिन काम होगा। इससे ज्यादा बारीक तरीका तो शायद नाकामयाब ही साबित हो। मगर मेरा यह तरीका पूरी तरह कारगर साबित होगा।

इस तरह के काम के पूरे-पूरे आंकड़े पाने के लिए खाद तैयार करने के अलग-अलग तरीकों का प्रयोग किया जाना चाहिये और दो या तीन साल की फसलों के नतीजे की जांच की जानी चाहिये। लेकिन मैंने इस विषय के ठीक आंकड़े दिखाने का इन्तजार किये बिना ही यह बात इसलिए सामने रख दी है कि हम सब, जो इस तरह के काम में दिलचस्पी लेते हैं, अपने विचारों और प्राप्त किये गये परिणामों की रिपोर्टों के आदान-प्रदान से एक दूसरे की कोशिशों में सहयोग दे सकें। नई प्रान्तीय सरकारें ज्यों ही काम करने लगें, त्योंही उनके कृषि-विभागों को यह काम बिना किसी देरी के हाथ में लेना चाहिये, और हमारा फर्ज होगा कि हम अपने इन सरल और व्यावहारिक तरीकों से इस काम में प्रान्तीय सरकारों की मदद करें।

किताबों में चीन के खाद तैयार करने के सरल देशी तरीकों का वर्णन मिलता है, वहां के लोग बड़े पुराने जमाने से इस खाद का उपयोग करते आये हैं। यह भी सुना जाता है कि चीनी किसान हिन्दुस्तानी किसान से चौगुनी फसल लेता है। इसके साथ ही चीन के गांव भी खूब साफ सुथरे रहते हैं, क्योंकि वहां का सारा कूड़ा-कचरा खाद के गड्ढों में इकट्ठा करके डाल दिया जाता है। हिन्दुस्तान के हमारे गांवों में साल के शुरू से आखिर तक कूड़ा-कचरा छितरा पड़ा रहता है। अगर हम उसे ठीक ढंग से काम में लें, तो यह सारा कचरा सोना बनाया जा सकता है।

(हरिजन सेवक, 14.4.1946)

हमारा पशु धन

भूमि और गांवों का विकास किसी भी योजना के द्वारा तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक कि पूरे जोर-शोर से मवेशियों की समस्या को हल न किया जाए। युद्ध काल में विदेशी फौजों तथा युद्ध बंदियों के भोजन के लिए अनेकों गायों तथा बैलों को बहुत ही बेरहमी से काटा गया। इस प्रकार देश में मवेशियों की संख्या जो कि पहले से ही शोचनीय स्थिति में थी और भी अधिक संकटमय बन गई। गाय-बैल एक दिन में तो पैदा नहीं किये जा सकते। उनको किसी कार्य के योग्य बनने में चार-पांच साल का समय तो लग ही जाता है। अतः इस समस्या पर विचार करना हमारा प्रथम कर्तव्य हो जाता है, परन्तु दुर्भाग्य से देर या ढिलाई हमारे देश की नियति बन गई है।

व्यवस्था को यदि गाय-बैलों के विकास में सफलता प्राप्त करनी है तो उन्हें इस कार्य को एक नई लगन के साथ करना होगा और यदि इस कार्य में सफलता नहीं मिलती है तो गांवों के सभी विकास कार्य असफल हो जाएंगे।

एक योजना के अंतर्गत मवेशियों की उत्तम नस्लों की प्राप्ति के लिए एक करार के अनुसार केंद्र तथा प्रांतीय सरकारें प्रांतों में गौशालाएं स्थापित करने के लिए किए जाने वाले व्यय को आधा-आधा बाटेंगी। यदि योजना पर सुचारू रूप से कार्य किया गया तो वह सही दिशा में प्रगति का सूचक होगा।

(हरिजन सेवक, 15.9.1946)

खोया स्वर्ग

बाल्मीकि-मन्दिर (दिल्ली) में मेरे कमरे के पिछले हिस्से में एक छोटी-सी खिड़की थी, जो मैदान की ओर खुलती थी। वहां लाल चट्टान और रूखी घास, दोनों, एक टीला-सा बनाये हुए थे, जिसके उस पार दूर तक फैले हुए आसमान के अतिरिक्त और कुछ नजर नहीं आता था। इससे और बापू की बकरियों की खामोशी भरी उपस्थिति से मुझे निरन्तर आराम मिला करता था। उन बकरियों को मेरी खिड़की के नीचे आकर खड़े होने की आदत-सी पड़ गई थी।

जब मैं छोटी बच्ची थी, तो अपने बाबा के देहात वाले मकान में रहती थी। उन दिनों मेरी आया मुझे तीन अलग-अलग रास्तों पर घुमाने ले जाती थी। एक रास्ता शहर को जाता था, दूसरा गांव को, और तीसरा खेत और देहात की पगडण्डी से होता हुआ पहाड़ियों को जाता था। वहां चिड़ियाएं गाती थीं और जंगली फूल खिले रहते थे। जब कभी मेरी आया मुझसे पूछती कि मैं किस ओर जाना पसन्द करूंगी, तो मैं हर बार एक ही जवाब देती – "पगडण्डी पर से पहाड़ी पर।" मेरे लिए वह खुशी और खूबसूरती की दुनिया थी। इसके पचास साल बाद यहां दिल्ली की भंगी बस्ती में वह पगडण्डी और पहाड़ी तो नहीं थी, लेकिन उसकी शक्ल उस देहात से मिलती-जुलती जरूर थी। यही वजह थी कि मैं उस बड़े शहर के गर्दो-गुबार से दूर उस छोटी खिड़की से बाहर झांका करती थी।

मेरे वहां ठहरने के आखिरी दिन मुझे कुछ जरूरी सामान खरीदने के लिए चांदनी चौक जाना पड़ा। वहां मुझे लगा, जैसे चारों ओर से मेरी तमाम इन्द्रियों पर चोटें पड़ रही हों। सवारियों का शोर-गुल और तीखी आवाजें कानों के पर्दे फाड़े डालती थीं, गन्दगी और बदसूरती आंखों को चुभती थी, और बदबू से दम घुटा जाता था। सबसे बुरी चीज, लोगों के वे चेहरे थे, जिन पर उनके दिल और दिमाग का बोथरापन और कठोरता उभरी हुई थी।

इसे तहजीब कहते हैं! इस पर अंगुली उठाना जमाने को पीछे ले जाना कहा जाता है। चांदनी चौक कोई गन्दी गली नहीं है। वह एक बड़ा बाजार है, और खरीद-फरोख्त की खास जगह है।

उस दिन शाम को मैंने देहरादून की गाड़ी पकड़ी। सबेरे जब मैंने डिब्बे की खिड़की से बाहर झांका, तो मुझे लगा जैसे स्वर्ग मेरे सामने फैला पड़ा हो। ताजी और साफ हवा, शरद ऋतु की सुन्दरता और सामने एक झरना, जो आगे साफ पानी को लिये नाचंता और चमकता हुआ चट्टानों पर से दौड़ा जा रहा था। झरने के दोनों किनारे फूलों से लदी झाड़ियों और ऊंची परदार घास से रौशन थे। जंगल एक चौड़ी घाटी में खत्म होता था। पूरब के पहाड़ों पर सूरज निकल आया था और सुनहरी रोशनी की चमचमाहट में गंगाजी दिखाई पड़ती थी, जो हरद्वार की ओर अपना पवित्र रास्ता तय कर रही थी। मेरा दिल पखेरूओं के साथ ही भगवान का धन्यवाद करते हुए नाचने-गाने लगा।

फिर मैंने शहरों में रहने वाले उन शहरियों के बारे में सोचा, जो अपने डरावने विचारों से घिरे रहते हैं। क्या वे ऐसी मंजिल पर पहुंच गये हैं, जहां उन्हें इन खूबसूरत नजारों के बजाय शहरी गन्दगी ही ज्यादा पसन्द आती है? क्या उनकी आंखों में वह शक्ति नहीं रही, जिससे वे प्रकृति में भगवान की छाया देख सकें? क्या उनके कान इतने खराब हो गये हैं कि खामोशी की आवाज सुनना तो दूर रहा, वे चिड़ियों के गाने तक नहीं सुन पाते? और उनके काम? क्या वह पहाड़ों की ताजी हवा लेने के बजाय शहरी बदबू में ही प्रसन्न रहते हैं? मैंने अपने साथ सफर करने वाले मुसाफिरों पर नजर डाली। वे दो पढ़े-लिखे नौजवान थे। एक किताब में डूबा हुआ था, और दूसरा एक कोने में सटा हुआ सिगार पी रहा था। मैंने सोचा, जब ये लोग मसूरी पहुचेंगे, तो सिनेमा की तलाश में निकलेंगे और वहां पर्दे पर चमकते हुए परदेसी दृश्य देखेंगे, और गन्दे गाने सुनेंगे। उनकी दृष्टि केदारनाथ की शानदार बर्फीली चोटियों की तरफ कभी नहीं उठेगी, और न ही वे चीड़ के खुशबूदार जंगलों में भटकने वाली हवा की आवाज ही सुन सकेंगे।

नये जमाने के आदमी की इस हालत पर मुझे अफसोस होता है। वह एक भयानक बीमारी का शिकार है, लेकिन उस बीमारी में वह खुशियां मनाता है, और उसे उन्नत, संस्कृति और सभ्यता का नाम देता है!

(हरिजन सेवक, 22.9.1946)

सांस्कृतिक विजय

बीस साल से अधिक बीत चुके हैं परन्तु मुझे हिन्दुस्तान के फैशनेबुल समाज में या सरकारी दायरे में जाने के बहुत कम अवसर मिले हैं। हिन्दुस्तान में मेरा सारा जीवन सच्चे हिन्दुस्तानियों के साथ गुजरा है। परन्तु पिछले वर्ष किसानों को कुछ फायदा पहुंचा सकने की उम्मीद से मैंने उत्तर प्रदेश सरकार की 'ज्यादा अन्न पैदा करो' की

परियोजना के अन्तर्गत विशेष सलाहकार का आनरेरी पद (Honorary Special Adviser to U.P. Govt.) ग्रहण किया था। इसकी वजह से मैं एक नये दायरे में पहुंच गई। वहां चारों तरफ अजीब इंसान थे। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे से बढ़कर अंग्रेज दिखने की कोशिश कर रहा था। मैंने निराश नजर से वहां दफ्तर में काम करने वालों की तरफ देखा। हर तरफ मिल का कपड़ा था। बुरी तरह से कटी विलायती पतलून के भीतर कमीज घुसाई हुई। अत्यधिक गर्मी के होते हुए भी विलायती ढंग के कोट, और पैरों में बाटा के चुस्त जूते पहने हुए थे। परन्तु यहीं पर अन्त नहीं था। जब मैं उनके नाम पूछने लगी तो सब 'मिस्टर' थे। मि० वर्मा, मि० गुप्ता, मि०शर्मा वगैरा-वगैरा। और जब वे किसी और का जिकर करते थे, तब भी मि० फलां की ही बात करते थे। इनके पश्चात 'हुजूर' 'हुजूर' करते हुए चापलूस चपरासी और प्यादे आये, और मेरी उलझन की हद हो गई।

परेशानी दोनों तरफ थी। जब मैंने 'मिस' या 'मैडम' कहलाने से इन्कार किया, तो वे विदेशियों की तरह हिन्दुस्तानी सम्बोधन (मुखातिब करने का तरीका) ढूढ़ने लगे, और जब मैं पत्र लिखवाने लगी, और मिस्टर काटकर, श्री या साहब लिखवाना शुरू किया तो कई पन्ने फिर से टाइप करने की जरूरत पैदा हुई। उनके भीतर विदेशी आदत इतनी गहरी जम चुकी थी कि उसे एकदम निकाल सकना सम्भव नहीं था।

कुछ दिनों बाद मैं पश्चिमी उ० प्र० के लम्बे दौरे पर निकली। अब नई मुसीबतें सामने आईं। सब जगह इन्सपैक्शन बंगले और सर्किट हाउस, हिन्दुस्तान में बने होने पर भी अंग्रेजी ढंग से सजे थे। पुराने बदबूदार सोफे और कुर्सियां, छोटी मेज, बड़े-बड़े फैशनदार पलंग, जिनके ऊपर की तरफ सीखों वाला या दूसरे ढंग का किनारा था, ताकि रात की गर्मी में बाहें सिर की तरफ लम्बी भी नहीं की जा सकें, और मई और जून की रातें काफी गर्म थीं। फर्श पर बदबूदार दरियां बिछी थीं, जिनमें बरसों की धूल और गन्दगी भरी पड़ी थी। खिड़कियों के तार की जाली खुली हवा को आने से रोकती थी, और सबसे बुरी चीज थीं वे लड़खड़ाते कमोड (जो लोग विलायती ढंग से बैठना पसन्द नहीं करते, वे समझ सकेंगे कि कमोडों की याद से ही रात की नींद बिगड़ जाती है) जो प्रत्येक गुसलखाने में रखे थे। यह गुसलखाना रहने के कमरे के पास ही होता है, और रसोई घर के बारे में तो जितना कम कहा जाए, उतना ही अच्छा है।

क्या अब वह समय नहीं आ गया है, जब बोलचाल में, पहनावे में और रहन-सहन के ढंग में घुले हुए ये न चाहे जाने वाले रिवाज अंग्रेजी सरकार के साथ ही खत्म कर दिये जाएं? आखिर है तो यह सब अंग्रेजी सरकार की ही विरासत।

(हरिजन सेवक, 29.9.1946 / इस पत्रिका में यह लेख 'सभ्यता का नाश' शीर्षक से छपा है)

दीपक तले अन्धेरा

किसान आश्रम से हम रात में दूर मसूरी की पहाड़ियों पर बिजली की बत्तियों की जगमगाती रोशनी देखा करते हैं। वहां बिजली की बत्तियों से जगमगाने वाले खूबसूरत मकान हैं, और मोटर व रिक्शा के लिए बनी उम्दा सड़कें हैं, जिन पर थोड़े-थोड़े फासले से बिजली की मार्गदर्शक बत्तियों के खम्भे हैं। मसूरी में पूरब और पश्चिम के अनुकूल फैशन की अधिकांश वस्तुओं से लदी और चकाचौंध पैदा करने वाली दुकानों की कतारें हैं; तथा बिजली

की बत्तियों से रौशन और झाड़-पोंछ कर शीशे की तरह साफ सुथरे बने सिनेमाघर और नाचघर हैं। लेकिन जो व्यक्ति इस सारी चमक-दमक को द्विगुणित करने में संलग्न हैं, वे स्वयं पेशाब घरों तथा अन्य ऐसे स्थानों की बगल में बनी हुई अन्धेरी और सीलनवाली कोठरियों में रहते है। वहां न बिजली की बत्तियां हैं, न गुसलखाने हैं -- दरिद्रता और दुख को छोड़ वहां और कुछ नहीं है।

धनाढ्य व्यक्ति, जो किसी प्रकार का श्रमसाध्य अथवा गन्दा काम नहीं करते, उनके घरों में नहाने के लिए गुसलखाने, टब, नल, तौलिये और साबुन वगैरा का ढेर लगा रहता है, लेकिन उनके कमोड और पेशाब के बरतन साफ करने और उनके घरों की नालियों व गटरों को धोकर साफ रखने वाले और उनका मैला कमाने और कूड़ा-कचरा ढोने वाले भंगियों के नहाने-धोने व पीने के पानी के लिए, उस नल को छोड़कर और कोई साधन नहीं, जिस पर वे मैले के डोल आदि साफ करते हैं।

मसूरी के उन दौलतमंदो, जिन्होंने आराम का जीवन व्यतीत करने के लिए भंगियों की जात पैदा की है, उनसे मेरा कहना है कि आओ और देखो जो लोग तुम्हारी खूबसूरत इमारतों को साफ-सुथरी और सुहावनी बनाये रखते हैं, वे मानव किस प्रकार के घरों में रह रहे हैं।

रोजगार-धन्धे की चहल-पहल वाले बाजार को छोड़कर आप पहाड़ के ढाल वाले इस तंग रास्ते पर मेरे साथ चलिये -- लोग कहते हैं, इस रास्ते पर बत्तियां न होने से रात के वक्त इधर से गुजरना खतरनाक है। यह रही इन्सानों के रहने के लिये बनी हुई कोठरियों की कतार (मसूरी में ऐसी करीब बीस बस्तियां हैं)। देखिये, यहां अपनी नाक अच्छी तरह दबाकर रखिये , क्योंकि यहां नजदीक ही सार्वजनिक शौचालय हैं। लेकिन पहले इन कोठरियों में से एकाध को तनिक झांक कर देखिये तो! क्या आप अच्छी तरह देख नहीं पाते? बेशक, नहीं देख पाते होंगे, क्योंकि इनमें खिड़की ही कहां है? और इन घरों के भीतर आने की तो हिम्मत ही नहीं होती होगी। क्यों? लेकिन अन्दर तो चलना ही होगा। दरवाजे की आड़ में एक गरीब औरत चूल्हे पर रोटी सेकने की कोशिश में लगी है, कहीं इसकी एकाध रोटी पर आपका पैर न पड़ जाए, या चूल्हे की ठीक बगल में रखे गये बिस्तर से आप कहीं टक्कर न खा जाएं। ताज्जुब की बात है कि यह बिस्तर जलता क्यों नहीं? मालूम होता है, अब आपकी आंखें यहां की धुंधली रोशनी में देखने की अभ्यस्त हो गई होंगी। अब आगे देखिये। उस तरफ कुछ बिस्तरे, पुरानी पेटियां, टोकरियां और फटे-पुराने कपड़ों आदि का एक ढेर-सा लगा है, और वहां आस-पास कुछ लोग भी बैठे हैं; अब जरा इस कोठरी की लम्बाई-चौड़ाई माप कर देखिये -- 15 फुट लम्बी और 10 फुट चौड़ी! और जानते हैं, इसमें कुल कितने आदमी रहते हैं? औरत, मर्द और बच्चे मिलाकर 15 । चूल्हे का धुआं आपका दम घोट रहा है; तो खैर, चलिये, बाहर की ताजी हवा में निकल चलें।

बाहर भी ताजी हवा कहां है? कोठरी की दीवार के बाहर उस तरफ वह क्या है? आम लोगों के लिये बने पेशाब-घरों की कतार, और उसी से लगा सार्वजनिक शौचालय। अब हिम्मत न हारिये, जब इतनी दूर आ ही गये हैं, तो आखिर तक इसे देख ही डालिये। यह देखिये, सार्वजनिक शौचालय के पास ही यह नल लगा है, जहां गन्दे डोल धोये जाते हैं। क्या आप पानी पीजिएगा? मगर यहां तो ये लोग आपको इसी नल का पानी दे सकेंगे। औरत, मर्द, बच्चे सभी इस नल पर नहाते-धोते हैं, और पीने का पानी भी यहीं से भर लेते हैं। क्या आप मन-ही-मन घिनाने लगे हैं? मेरा ख्याल है कि आप यहां से भाग जाना चाहते हैं। अच्छी बात है, जाइये, मगर जिस नल पर गन्दे डोल धोये जाते हैं, उसकी उस बगल वाली कोठरी में एक बार जरूर झांक लीजिये। देखिये, जरा सम्भलकर अन्दर जाइये,

क्योंकि कोठरी का फर्श बाहर की जमीन से नीचा है, और पास ही लगे उस नल के गन्दे पानी की वजह से उसमें हद दरजे की सीलन हो गयी है। इस घर में एक खिड़की है तो, मगर खबरदार! उसके बहुत नजदीक न जाइये, क्योंकि उसकी दीवार में बड़ी-सी दरार पड़ गयी है। किसी दिन वह पहाड़ी के उस तरफ ढह पड़ेगी।

बस, इतना ही काफी होगा। अब आप अपने सुहावने बगीचों वाले साफ बंगले में आ जाइये। लेकिन क्या यह कभी मुमकिन होगा कि आज आपने जो दृश्य अपनी आंखों से देखा है उसकी याद तब तक आपको चैन न लेने देगी, जब तक मसूरी की जगमगाती पहाड़ियों पर से आप इन काले धब्बों को मिटा नहीं डालते?

(हरिजन सेवक, 23.2.1947 / इस पत्रिका में यह लेख 'जो पीला है सो सब सोना नहीं' शीर्षक से छपा है)

अधिक अनाज कैसे पैदा किया जाए?

(भाग : 1)

कभी-कभी काम सिर्फ इसलिये हाथ में नहीं लिये जाते हैं कि वे बहुत मामूली जान पड़ते हैं। 'ज्यादा अनाज पैदा करो' एक ऐसा ही काम है। बहुत बड़ी मुश्किल ज्यादा अनाज पैदा करने की नहीं है, बल्कि लोगों के दिल और दिमाग को उसकी तरफ खींचने की है।

क्या गांधीजी ने बार-बार हमसे यह नहीं कहा है कि अपने देश में अपनी ही कोशिशों से हिन्दुस्तान की अनाज की कमी को पूरा करना हमारे लिए मुमकिन है, और इस मामले में मदद के लिये दूसरे देशों की तरफ ताकना गलती है? हमें इस तरह बिना कुछ किये गाफिल बने बैठे रहने में और अखबारों में परदेशों से हिन्दुस्तान आने वाले अनाज के जहाजों की खबरें पढ़कर सन्तोष कर लेने में शर्म मालूम होनी चाहिये। ये परदेशी अनाज के जहाज मुफ्त में यहां आकर अनाज जमा नहीं कर जाते। इसके लिये पहले से ही खर्च के बोझ से लदे हुए हिन्दुस्तान के सरकारी बजट में सब तरफ से काट-काट कर के देश को करोड़ों रूपये बाहर भेजने पड़ते हैं और हम चुपचाप बैठे देखते रहते हैं। हमारी हाल ही में हासिल की हुई आजादी को मजबूत करने का क्या यही तरीका है?

हम सबको पतन की इस राह से बचने की हिम्मत के साथ कोशिश करनी चाहिए। इस काम में साधारण व्यक्ति से लेकर मजबूत सरकारी तंत्र तक सभी मदद कर सकते हैं—

1. जिन लोगों के पास एक इंच जमीन भी नहीं है, वे पुराने टूटे हुए बर्तन, तसले और पेटियां इकट्ठी करके, उनमें थोड़ी मिट्टी रखकर साग-भाजी पैदा कर सकते हैं।
2. जिन लोगों के पास बंगले और मकान हैं, वे हिन्दुस्तान भर के शहरों और कस्बों के बाजारों को उचित कीमत पर साग-भाजियां, प्याज, आलू, लौकी, कद्दू और ऐसी ही दूसरी चीजें उपलब्ध करा सकते हैं।
3. नगर पालिका सार्वजनिक बगीचों में इन्हें उगाकर देश में साग-भाजी की मात्रा बढ़ा सकती है। जहां

काफी जमीन हो, वहां वे अनाज भी पैदा कर सकते हैं।

4. जिस जमीन में पहले से ही खेती हो रही है, उसको अधिक उपजाऊ बनाने में सरकार गांव वालों को आज की अपेक्षा यदि चाहे तो बहुत अधिक मदद दे सकती है।

ये कोई नये सुझाव नहीं हैं। मगर कुछ इने-गिने लोगों को छोड़कर सभी इनकी तरफ से आंख-कान बंद करके बैठे हैं, जब कि देश में अनाज की तंगी की हालत दिनों-दिन बिगड़ती जा रही है। हम लोगों में एक बुरी आदत यह है कि हम बड़ी-बड़ी योजनायें बनाते तो हैं, मगर उन्हें ठीक ढंग से कार्यान्वित नहीं करते हैं। बड़ी-बड़ी बातें करते हैं मगर काम नहीं करते। जो कुछ मैंने ऊपर सुझाया है, उसके लिए बड़े भारी मूलधन या साज-सामान की जरूरत नहीं है बल्कि इन्सान का रूचि के साथ काम करना जरूरी है। कोई भी योजना, तब तक पूरी तरह सफल नहीं होगी जब तक कि उसके पीछे आत्मिक शक्ति न हो, चाहे उसमें कितना ही अधिक धन क्यों न लगाया गया हो। दूसरी ओर इस शक्ति के साथ रहने पर अगर धन की मदद न भी मिले, तब भी उस योजना में बहुत बड़ी सफलता मिलेगी। इन्सान की क्रियात्मक रुचि को जगाने पर यह काम नीचे दिए गए सुझावों के अनुसार करने से बहुत आसान हो जाएगा।

इन सुझावों पर ध्यान देने से वे लोग जिनके पास नाममात्र भी जमीन नहीं है, थोड़े ही दिनों में हरी साग-भाजी उगा सकेंगे और उसे खा सकेंगे, और कुछ ही समय में उनके बरामदे और मकान की छतें झालर की तरह लटकती हुई व सुंदर दीखने वाली साग-भाजी से लदी बेलों और पौधों से भर जायेंगी—

1. बंगलों के मालिक इस मामले में अपने मालियों और स्थानीय कृषि विभाग के अधिकारियों से चर्चा कर बंगले की खाली भूमि का सदुपयोग कर सकते हैं। वे अपने मालियों को आवश्यक बीज और खाद दिला सकते हैं और खुद भी खाली समय में अपने बगीचों में काम कर सकते हैं (बगीचे की ताजी हवा में शारीरिक श्रम करने से तन्दुरूस्ती भी बढ़ेगी)। बीज और खाद खरीदने में जो पैसा खर्च होगा, उससे कई गुना अधिक कीमत की उपज बगीचे से प्राप्त हो जायेगी।

2. नगरपालिकाएं अपने मालियों को फूल उगाने और दूब के मैदान तैयार करने के स्थान पर अनाज पैदा करने के काम में लगायें तो अच्छा होगा। वे नागरिकों में से स्वेच्छा से काम करने वाले लोगों के ऐसे दल बना सकते हैं, जो नगरपालिका के बगीचों की जमीन में काम करके शुद्ध वायु और व्यायाम का लाभ उठाने के लिए तत्पर हों। अपने नगर की जमीन में खेती करने में खुद मदद देकर नागरिक गौरव का अनुभव करेंगे। यहां भी पैदावार व्यय से अधिक ही होगी। मजदूरी ही पैदावार की कीमत बढ़ाती है, परन्तु इस परिस्थिति में तो मजदूरों को मजदूरी देने का सवाल ही नहीं उठता। माली वहां पहले से ही कार्यरत हैं, जो ऐसे काम में अपना समय बिताते हैं जिससे कोई लाभ नहीं होता। इस प्रकार नागरिकों की मदद से अनाज की पैदावार में वृद्धि होगी।

3. आजकल सरकार ग्रामीण विकास पर काफी धन व्यय कर रही है। परंतु इसी विकास कार्यक्रम से जुड़े हुए सरकारी विभागों के कर्मचारी यदि ऐसे कार्यों के कार्यान्वयन में रूचि लेने लगें तो धन की अधिक मदद के बिना भी विकास कार्यों में उन्नति की जा सकती है। परन्तु देखने में आ रहा है कि इन कार्यों से जुड़े हुए सरकारी अधिकारियों (जिनमें छोटे-बड़े सभी कर्मचारी सम्मिलित हैं) का कार्य करने का ढंग तथा नियोजन का तरीका बहुत गलत है। शासन तंत्र ने कुछ इस प्रकार का मोड़ ले लिया है कि

यदि कोई ईमानदारी से कार्य करने वाला व्यक्ति काम करना भी चाहे तो उसके अन्य साथी उसके मार्ग में बाधाएं खड़ी कर देते हैं, फलस्वरूप या तो वह भी उन्हीं में से एक बन जाता है या फिर उस विभाग से बाहर आ जाता है। ऐसी स्थिति में ईमानदारी से काम करने वाला व्यक्ति तो ऐसे विभागों में काम कर ही नहीं सकता। एक ओर ऊंचे पदों पर कार्यरत अधिकारियों को अच्छा वेतन दिया जाता है तो दूसरी ओर छोटे पदों पर कार्यरत अधिकारियों व कर्मचारियों को बहुत कम वेतन दिया जाता है जिससे विषमता उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि जीवन को सुचारू रूप से जीने और उसके लिए आवश्यक कपड़ा, राशन, मकान आदि की तो सभी को आवश्यकता होती है।

इस प्रकार दफ्तरी घिस-घिस से बढ़ने वाली सुस्ती, उदासी, अयोग्यता, बेइमानी, और आम लोगों के साथ जीते-जागते सम्बन्ध का अभाव, ये सब बुराइयां सरकारी तंत्र अपने कर्मचारियों में स्वाभाविक रूप से पैदा कर देता है। अतः यदि सरकार 'अधिक अन्न पैदा करो' की योजना को सफल बनाना चाहती है तो पहले सारे सरकारी तंत्र को साफ-सुथरा बनाकर बिलकुल नये सिरे से उसकी रचना करनी होगी। प्रश्न यह नहीं है कि इसके लिए सरकार अधिक व्यय करे, बल्कि यह है कि आज सरकार की विकास योजनाओं पर जो धन व्यय हो रहा है, उसे आज की ढिलाई, बरबादी और गलत नियोजन की परिधि से बाहर निकाल कर सही ढंग से खर्च किया जाये।

आज केन्द्र और प्रांतों में विकास की जो योजनायें बनाई जा रहीं हैं, कार्यान्वयन की दृष्टि से वे त्रुटिपूर्ण हैं। सबसे पहले हमारी सरकारों को जिस योजना के बारे में सोचना और जिस पर ध्यान देना है, वह है एक ऐसे शासन-तंत्र को जन्म देना, जो इन विकास योजनाओं पर कामयाबी के साथ कार्य कर सके। वर्तमान में सभी क्षेत्रों में हर जगह यह बात स्वीकार की जाती है कि सरकारी तंत्र ऊपर से नीचे तक भ्रष्ट है। परन्तु विद्यमान ढांचे में फेर-बदल का सवाल बड़ा मुश्किल है, इसलिये हर आदमी इस सच्चाई से भागने की कोशिश करता है कि सरकारी तंत्र में इन्कलाबी फेर-बदल करने की जरूरत है। खुले तौर पर इस सच्चाई का सामना किये बिना बड़ी-बड़ी योजनाओं की बातें करना तो जनता को सरासर धोखा देना है।

इसीलिये मैं कहती हूं कि सरकारी कर्मचारियों के माध्यम से देश में अनाज पैदा करने के साधनों को बढ़ाने के लिए हमें शासन-तंत्र में आमूलचूल फेर-बदल करना होगा। अगर हमने यह काम कर लिया, तो दूसरी सारी बातें कम खर्च और ज्यादा पैदावार के साथ, विकसित होंगी और फूलेंगी-फलेंगी।

(हरिजन 2.11.1947 - से अनूदित)

अधिक अनाज कैसे पैदा किया जाये?

(भाग : 2)

पिछले सप्ताह की मेरी लिखी बातों में जिन्होंने दिलचस्पी ली है, उनके लिये मैं इस सप्ताह में कुछ

प्रयोगात्मक बातें व सुझाव प्रस्तुत करना चाहती हूं। मौसम सिर पर आ गया है और थोड़ा भी समय बरबाद नहीं किया जाना चाहिये। इसलिये आप में से जो लोग सचमुच में इस दिशा में काम करना चाहते हैं, उन्हें जमीन खोदना शुरू कर देना चाहिये। पहले मैं वैयक्तिक रूप से कार्य करने वाले लोगों से कुछ कहना चाहती हूं। जमीन को खोदने के बाद (जिस जमीन में कुछ पैदा किया जा चुका है उसे एक बार और नई जमीन को दो बार - एक बार इस तरफ से, दूसरी बार उस तरफ से खोदा जाए) मिट्टी के ढेलों को तोड़ कर मुलायम न बनाया जाए। उसे ढेलों के रूप में ही छोड़ दिया जाए, ताकि जमीन की तह में सूरज और हवा प्रवेश कर सकें। लगभग एक सप्ताह तक उसे उसी हालत में रहने दिया जाए। यदि हमारे पास समय कम न रह जाता, तो मिट्टी को 3-4 सप्ताह तक खुला रहने देते और उससे फायदा ही होता। इस बीच अगर अच्छी तरह सड़ी हुई खाद मिल जाए, तो उसे इकट्ठा करके उम्दा भूसा बना लेना चाहिए। सप्ताह की समाप्ति पर खाद को खुदी हुई जमीन पर एक-सा फैला दें। फिर मिट्टी के ढेलों को फोड़कर खाद को अच्छी तरह उसके साथ मिला लें। इसके बाद उसे खूब पानी देकर तर कर दें और जब नमी तो बनी रहे, लेकिन चिपचिपाहट बिलकुल न हो, तब आप उस जमीन में बीज बोने के लिये क्यारियां बना सकते हैं।

हर क्यारी का आकार करीब 5'x 6' फुट रखें। परिस्थिति के अनुकूल क्यारियों की लम्बाई-चौड़ाई में फेर-बदल किया जा सकता है। हर क्यारी के चारों तरफ करीब 5 इंच चौड़ा और 4 इंच ऊंचा पालबन्द होना चाहिये। जगह के हिसाब से आप एक क्यारी के बाद दूसरी क्यारी बनायें, और अगर आपके पास पंप या नल अथवा पानी सींचने का दूसरा कोई साधन हो, तो आप क्यारियों की सतह से कुछ ऊंचाई पर क्यारियों के साथ-साथ बहने वाली पानी की छोटी सी नाली बना लें, ताकि जब आप किसी क्यारी के पालबन्द को खोलें और पानी की नाली को आगे से बन्द करें तो पानी स्वाभाविक रूप से सब्जी की क्यारी में ही जाए।

इस सप्ताह हम शीतकाल की चार उत्तम सब्जियों —गाजर, शलजम, मूली और पालक की बुवाई पर चर्चा करेंगे।

1. गाजर : पहले ऊपर बताये गये तरीके से क्यारी तैयार कीजिये , फिर मिट्टी को एकसार कर जमीन की सतह को मुलायम बनाइये। इसके बाद गाजर के बीज क्यारी में चारों तरफ फैला दीजिये। जहां तक हो सके बीजों के एक से बिखरने की सावधानी रखी जाए। बीज बहुत घने या पास-पास न बोये जायें, लेकिन साथ ही क्यारी में खाली जगह भी न रहे। बोने के बाद बीजों पर हाथ से या टहनियों के कड़े ब्रुश से बहुत हलकी मिट्टी फैला दें। तब पानी छिड़कने के फुआरे से क्यारी में बहुत हलका पानी देना आवश्यक है। जब तक बीजों के अंकुर जमीन में पक्की जड़ न जमा लें तब तक सिंचाई की नालियों को इस्तेमाल न किया जाए वरना क्यारी के निचले सिरे पर घने पौधे उगेंगे और जहां से पानी प्रवेश करता है वहां, ऊपर के सिरे पर कोई पौधा नहीं उगेगा। शुरू में थोड़े-थोड़े समय से जमीन में हलका पानी दिया जाये, ताकि उसमें नमी बनी रहे। जब पौधे बड़े हो जायें, तो लम्बे अंतराल के बाद उन्हें खूब पानी दिया जा सकता है। यदि पौधे क्यारी के किसी भाग में बहुत घने मालूम हों तो उनमें से कुछ की छंटाई कर देनी चाहिए, वरना उनकी जड़ों को पूरी तरह से फैलने और आजादी से बढ़ने की जगह नहीं मिलेगी।
2. शलजम : गाजर की तरह इसकी क्यारियां भी तैयार की जा सकती हैं। लेकिन बीजों को चारों तरफ

फैलाकर बोने के बजाय उन्हें एक-दूसरे से पांच-पांच इंच की दूरी पर, जमीन से करीब एक इंच नीचे, धीरे से रखकर ऊपर से मिट्टी से ढक दिया जाए (मिट्टी से नीचे दबाया न जाय)। उन्हें पानी उसी तरह देना चाहिए जैसे गाजर को दिया गया है। लेकिन पौधे घने न उगने के कारण उनमें से कुछ को छांटने की जरूरत नहीं है।

3. मूली : इसे भी शलजम की तरह ही बोया जाना चाहिए। लेकिन मिट्टी के उठे हुए डौले (मेंड) पर बोना सबसे अच्छा होता है। इसीलिए जिन क्यारियों में अन्य सब्जियां बोई जायें, उनके उठे हुये पालबन्द को इस काम में लाया जा सकता है। इन पालबन्दों को भी पानी देने के बरतन से ही सावधानी से सींचा जाना चाहिए और जब पानी भरकर सिंचाई की जाये, तो इतना पानी भरें कि मेंडों के किनारे पानी को खूब सोख लें।

4. पालक : इसके बीजों को गाजर की तरह चारों तरफ फैलाकर बोना चाहिए। बीजों को, जहां तक सम्भव हो सके गाजर की बनिस्पत ज्यादा पास-पास बोया जाये। वे कितने भी घने क्यों न उगें, उनमें से कुछ भी उखाड़ने की जरूरत नहीं है। पालक को हमेशा अच्छा पानी दिया जाना चाहिए। एक ही फसल से तीन या चार बार पालक काटा जा सकता है।

इस सब से आपको घबराना नहीं चाहिये। यह कोई बहुत कठिन काम नहीं है। उल्टे, इसमें सबसे ज्यादा आकर्षण है। इन सब्जियों को पैदा करने का काम आफिस में बैठने या कारखाने में काम करने से ज्यादा आकर्षक और स्वास्थ्य वर्धक है। जब हम प्रकृति से अपना सम्बंध जोड़ते हैं तब जीवन अधिक सुखी और आकर्षक बन जाता है? यदि हम प्यार और ममता के साथ प्रकृति के सान्निध्य में जायेंगे तो हम उसे अपने स्वागत और सेवा के लिये हमेशा तैयार पायेंगे। यहां तक कि किसी पुरानी थाली में यदि आधा इंच मिट्टी फैलाकर भी हम बीज बोयें, तो कुछ ही दिनों में वह हमें सलाद खाने को दे देगी।

मैं इसे अधिक विस्तार से समझाती हूं –

कोई भी चौड़ा या उथला बर्तन थाली या ट्रे लीजिये और उसमें अच्छी भुरभुरी की हुई मिट्टी की आधा इंच की तह फैला दीजिए। इसके बाद उसे पानी से भर दीजिए और धीरे-धीरे बर्तन को हिलाइये, ताकि पानी मिली हुई मिट्टी पेंदे में अच्छी तरह बैठ जाये। तुरंत उसमें सरसों या राई बो दीजिये। बीज इतने घने बोइये कि वे एक-दूसरे से सटे हों, लेकिन एक-दूसरे के ऊपर न हों। बर्तन को ऐसी जगह रखिये जो न अधिक गरम हो न अधिक ठण्डी। इससे मिट्टी जल्दी सूखेगी नहीं। लेकिन साथ ही वहां इतनी गरमी भी हो कि बीजों के अंकुर फूट सकें। मिट्टी को कभी सूखने न दें। जब उसका गीलापन मिटने लगे, तभी उस पर धीरे-धीरे पानी छिड़कें ताकि मिट्टी के अन्दर बीज इधर-उधर हटें नहीं। बरतन को पानी से पूरा न भरें, सिर्फ हाथ से हलका पानी समय-समय पर छिड़क दें, जिससे मिट्टी में हमेशा थोड़ी नमी बनी रहे। सरसों या राई के बीज दो या तीन दिन में फूट जाते हैं और 10 दिन के भीतर तो वे एक से डेढ़ इंच तक बढ़ जाते हैं तथा काटने लायक हो जाते है। पौधों का विकास मौसम के हिसाब से कम ज्यादा होता है। वैसे तो बरतन को मकान के भीतर छायादार जगह पर रखना चाहिये, लेकिन दिन में एक बार उसे आधे या पौन घंटे के लिये धूप में भी रखना चाहिए। धूप में से भीतर लाते समय हमेशा मिट्टी को छूकर इतमीनान से देख लें कि मिट्टी सूखी तो नहीं है।

'काहू' नाम का एक पौधा होता है, जिसे इसी तरह बोया और बढ़ाया जा सकता है। राई या सरसों के

बीज तो हर जगह मिल सकते हैं, जबकि 'काहू' के बीज बगीचों में बोये जाने वाले बीजों के बड़े व्यापारियों के पास ही मिल सकते हैं। आप में से जो उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, उन्हें जरूर लाना चाहिये। राई और काहू को दो अलग-अलग बरतनों में बोइये और काटते समय दोनों का थोड़ा-थोड़ा हिस्सा मिला कर सलाद बनाइये।

आप कह सक़ते हैं कि, "थोड़े से सलाद के लिये इतनी बड़ी तकलीफ उठाने से क्या फ़ायदा? सलाद से क्या पोषण मिलता है?" याद रखिए कि काफी खाना खा लेना ही सब कुछ नहीं है। उसे सन्तुलित भी बनाना है। रोटी और दाल के साथ थोड़ा सलाद जोड़ देने से खाने का संतुलन बनाने में बड़ी मदद मिलती है। वह हाजमा बढ़ाता है। चार रोटियां खाने वाला आदमी अगर तीन रोटियों के साथ थोड़ा कच्चा सलाद या पकाई हुई हरी भाजी खायेगा, तो उसे अधिक पोषण मिलेगा और उसकी तन्दुरस्ती ज्यादा अच्छी रहेगी। इसलिए थालियों और दूसरे बरतनों या बक्सों में भी सलाद या सब्जियां पैदा करना एक अच्छा काम है क्योंकि गेहूं या दालों से हमें जो पोषण मिलता है, सलाद से उसमें शक्ति का संचार होता है।

नगरपालिकाओं से मैं यह कहूंगी -- कि आपने अभी तक मीटिंग बुलाकर यह चर्चा की या नहीं कि कौन सी जमीन में खेती की जाए? आपको यह फैसला करने में देर नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मौसम को देखते हुए जमीन की खुदाई एकदम शुरू हो जानी चाहिये। आपको चाहिए कि अपने नागरिकों की बैठक भी बुलाएं और उनसे राष्ट्रहित के प्रत्येक काम में मदद देने की अपील करें।

सरकारों से मैं कहूंगी -- कि हालांकि सारे शासन-तंत्र को पूरी तरह बदल कर नई रचना बहुत जरूरी है, फिर भी मौजूदा कर्मचारियों से अधिक अच्छा काम लेने की प्रतिदिन कोशिश करें। बीज के सरकारी गोदामों को ताला लगाकर बन्द रखें। इंस्पेक्टरों को चाहिए कि वे नियमित रूप से और अचानक गोदामों का दौरा करके बीजों की जांच करते रहें, और हर तरह से यह देखने की कोशिश करें कि गोदामों से दिया जाने वाला बीज किसानों की जरूरत का हो, अच्छी किस्म का हो और बांटने के पहले पूरी तरह जांच लिया गया हो। मुझे इन गोदामों का बड़ा कटु अनुभव हुआ है। इसके अतिरिक्त, सारे देश में खाद बनाने का भी प्रचार करना चाहिये। गांवों के चारों तरफ गोबर और कूड़े-करकट के ढेर इधर-अधर बिखरे पड़े रहते हैं और गांव के रास्तों पर भी कूड़ा-करकट फैला रहता है। अगर सरकारों के कृषि विभाग संगठित आन्दोलन करके गांव वालों को इस सारे कूड़े-करकट को कीमती खाद के रूप में बदलने का प्रशिक्षण दें, तो इससे मात्र फसलों में ही काफी बढ़ोतरी नहीं होगी, बल्कि गांव भी साफ सुथरे बनेंगे और बीमारियां कम होंगी। मैंने उत्तर प्रदेश के किसानों से खाद बनाने के बारे में एक छोटे परचे के रूप में जो अपील की थी, वह इस प्रकार है --

किसान भाइयो,

हम धरती माता के साथ अच्छा बरताव नहीं करते हैं। वह हम सबको अन्न देने की अच्छी से अच्छी कोशिश करती है। लेकिन हम बदले में उसे उसकी खुराक नहीं देते। जिस तरह अपना फर्ज अदा करने वाले बच्चों को अपनी प्यारी और आदरणीय मां की सेवा करनी चाहिये, वैसी ही हम भी धरती माता की सेवा करें। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो वह हमें (अपने बच्चों को) खाना कैसे दे सकती है और कैसे पाल सकती है? हम हर साल खेतों को जोतते हैं, उनमें बीज बोते हैं और फसलें पैदा करते हैं, लेकिन

जमीन को खाद हम कभी-कभी ही देते हैं, वह भी आम तौर पर आधा सड़ा कूड़ा-करकट ही होता है। जैसे हमें ठीक तरह पके हुए खाने की जरूरत होती है, उसी प्रकार जमीन को अच्छी तरह तैयार की हुई खाद की जरूरत होती है।

बदकिस्मती से मवेशियों का आधा गोबर तो हमारे गांवों में ईधन के रूप में जला दिया जाता है। खेतों में दी जा सकने वाली खाद की इस तरह जो कमी होती है, उसे रोकने के लिये हमें ज्यादा पेड़ उगाने पड़ेंगे। हम में से हर एक को अपनी जमीन में उगने वाले बबूल और दूसरे पौधों को बचाना चाहिए। बबूल फसल को नुकसान नहीं पहुंचाता। सच पूछा जाय तो बबूल के नीचे अक्सर फसल अधिक होती है। अगर बारिश के बाद ध्यान से खेतों में देखें, तो हम अपने आप उगने वाले पौधों को आसानी से चुन सकते हैं, उनके आस पास की जमीन साफ कर सकते हैं और उनके चारों ओर कांटे लगाकर नुकसान से बचा सकते हैं। एक बार काफी पेड़ हो गये कि हम खाद के लिये बहुत सा गोबर बचा सकेंगे।

अब मैं यह बताऊंगी कि घर की जरूरतों से बचे हुए गोबर का अच्छे से अच्छा इस्तेमाल कैसे किया जा सकता है। हमें चरागाहों पर पड़ा हुआ और घरों में मवेशियों के पैरों तले पड़ा हुआ सारा गोबर इकट्ठा कर लेना चाहिए। वह बड़ी कीमती चीज है। उसका थोड़ा हिस्सा भी बरबाद न किया जाय। हमें गांव के रास्तों पर बिखरा हुआ और घरों के अहातों में फैला हुआ सारा पुराना घास, भूसा और दूसरा कचरा भी इकट्ठा करना चाहिये। हमें यह इरादा कर लेना चाहिये कि हम अब गोबर की टोकरियां भरकर कचरे के ढेरों पर नहीं फेकेंगे, बल्कि 10 फुट चौड़ा, 20 फुट लम्बा और 3 फुट गहरा एक गड्ढा खोदेंगे। हर रोज गड्ढे के किनारे पर दो ढेर इकट्ठे करेंगे, एक गोबर का और दूसरा कचरे का। जब सब इकट्ठा हो जाएगा, तब हम रोज उसे गड्ढे में फैलायेंगे। इस कार्य के लिए गड्ढे के एक सिरे पर 4 फुट जमीन खाली रखनी चाहिए। पहले कचरे की एक पतली तह (करीब 3 इंच) उस गड्ढे में फैलायें फिर उस पर दूसरी पतली तह (करीब 1 इंच) गोबर की और फिर गोबर को धूप और हवा से बचाने के लिये उस पर कचरे की तह फैला दें। हर तीसरे दिन इन तहों को पानी से भिगोयें। जब इस तरह आधा गड्ढा सिरे तक भर जाये, तो उसे ऊपर से 3 या 4 इंच मिट्टी से ढक दें और 7 या 8 सप्ताह तक वैसा ही पड़ा रहने दें। अब पहले गड्ढे के पास दूसरा गड्ढा खोद लें। इसका आधा हिस्सा फिर पहले जैसे गड्ढे की तरह भरना शुरू करें। अगर यह आधा हिस्सा 7 सप्ताह से कम समय में भर जाये, तो एक तीसरा गड्ढा भी खोद लेना चाहिए और उसे भी इसी तरह भरना शुरू कर दें। जब पहले गड्ढे की मिट्टी से ढकी खाद को पड़े-पड़े 7 या 8 सप्ताह हो जायें, तो फावड़े से चार फुट के खुले हिस्से में उतर कर खाद को उलीचकर इस खाली हिस्से में भर दें। इस तरह अन्त में वह हिस्सा खुल जायेगा, जहां पहले खाद जमा थी। यह काम करते हुए हम गोबर कचरे वगैरा की तहों को पूरी तरह मिलाने और ठोस ढेलों को फोड़ने का ध्यान भी रखें। इसके बाद उस पर खूब पानी डालकर उसे फिर मिट्टी से ढक दें और दूसरे 7 या 8 सप्ताहों तक वैसा ही पड़ा रहने दें। इतने समय के बाद जब हम उसे खोदेंगे तो हमें अच्छी तरह मिली हुई और पूरी तरह सड़ी हुई खाद प्राप्त होगी। इसे 'कम्पोस्ट खाद' कहते हैं। इसके बनाने के कई तरीके हैं। उनमें से अधिक बहुत पेचीदे हैं। जो तरीका मैंने ऊपर बताया है, वह किसान आश्रम में काम में लाया जाता है। यह काम बहुत आसान है और हम में से हर एक इसे कर सकता है। मैंने इसे 'किसान-कम्पोस्ट' नाम दिया है।

ऊपर के कथन से आप जान सकते हैं कि 'किसान-कम्पोस्ट' को एक ही बार पलटने की जरूरत होती है और उसे पूरी तरह पकने में या सड़ने में 3 या 4 महीने लगते हैं। जरूरत पड़ने पर गड्ढों की लम्बाई और चौड़ाई बढ़ाई भी जा सकती है। अगर नयी तहें फैलाते समय बीच-बीच में थोड़ा पुराना कम्पोस्ट भी फैला दिया जाये, तो खाद जल्दी सड़ती है। अच्छी तरह फैलाई हुई राख भी इसमें मददगार साबित होती है। बाजरे के डंठल, गन्ने की छाल वगैरा जैसी कड़ी चीजें सीधे कम्पोस्ट में नहीं मिलानी चाहियें, या तो उन्हें सड़ने तक पानी में भिगोया जाय, या फिर जला कर उनकी राख बना ली जाय। अगर खेती में जरूरत पड़ने के पहले गड्ढों में कम्पोस्ट तैयार हो जाये, तो उसे गड्ढे से हटाकर जमीन पर इकट्ठा कर लिया जाय और 3 या 4 इंच मोटी मिट्टी से ढक दिया जाय। जरूरी हो, तो उसे धूप और हवा के असर से बचाने के लिए हलके प्लास्टर से भी ढका जा सकता है।

यदि हम जितना भी गोबर और कचरा मिले उसे इकट्ठा करने की तकलीफ उठायें और मेरे कहे अनुसार खाद तैयार करें, तो हम अपनी इस ममतामयी जमीन (धरती माता) को अच्छी खुराक दे सकेंगे और बदले में वह खूब फसल देकर हमारा और हमारे भूखों मरने वाले मवेशियों का पालन-पोषण करेगी।

यह 'किसान-कम्पोस्ट' वैयक्तिक बगीचों में छोटे पैमाने पर तैयार किया जा सकता है। स्थान के अनुसार गड्ढों का नाप इस तरह होना चाहिए—

1. 14 फुट लम्बा, 7 फुट चौड़ा और 3 फुट गहरा।
2. 10 फुट लम्बा, 5 फुट चौड़ा और 3 फुट गहरा।
3. 8 फुट लम्बा, 4 फुट चौड़ा और 2 $^1/_2$ फुट गहरा।

अगर बगीचे के अहाते में गोबर न मिले, तो थोड़ा गोबर बाहर से किसी गौशाला या चरागाह से मिल सकता है। कम्पोस्ट बनाने के काम को भरसक जारी रखने के लिये इस गोबर को एक बाल्टी में पानी के साथ घोलकर कचरे पर छिड़का जाए।

हर प्रांत के कृषि विभाग को चाहिए कि वे हर मौसम की सब्जियों के बीजों की सूची और उनके बोने और बढ़ाने की दिशा बताने वाले छोटे परचे छपवाकर सब्जी पैदा करने की इच्छा रखने वाले लोगों में बटवाएं, साथ ही विभागों के कर्मचारी शहरों और कस्बों की जनता को इसके बारे में सलाह देकर रास्ता बतायें, और यह समझकर कि आगे लोग अपने बगीचों में से जरूरत के बीज खुद बचायेंगे, उन्हें पहले पहल निशुल्क बीज भी बांटें। कहीं-कहीं इस तरह की कोशिश की तो गई है, लेकिन आज के संकट में जिस तरह की मिली-जुली और संगठित कोशिश की जरूरत है, वैसी नहीं की गई।

(हरिजन 23.11.1947 - से अनूदित)

अनुशासन का वरदान

जब मैं छोटी थी, मैं अपने नानाजी के घर पर रहा करती थी। देहात में नानाजी का बहुत बड़ा मकान था जिसमें खूब लम्बे चौड़े बगीचे, घोड़ों के लिए बड़ा अस्तबल, कुछ घास के मैदान व एक गोशाला थी। मैं उस बगीचे के प्रत्येक कोने, विभिन्न जाति के फूल, सब्जियों और फलों आदि से परिचित थी। मैं अस्तबल के सुंदर घोड़ों तथा बाड़े की सुंदर सुगंधि वाली गायों से भी परिचित थी। इन सबके साथ मैं बहुत खुश रहती थी, आज भी मुझे वह सब ऐसे याद आ रहा है मानो मैं अभी भी 6 ही साल की हूं। परन्तू इस सबका उपभोग मैं इसलिए नहीं कर पाई कि मैं कहीं भी घूमने फिरने या जो भी इच्छा हो वह करने के लिए स्वतंत्र थी, बल्कि इसलिए कि मुझे अपने चतुर्दिक की वस्तुओं का आदर करने की शिक्षा दी गई थी। समादर की इसी शिक्षा ने मुझे बचपन से ही अपने चारों ओर के परिवेश का अध्ययन करना सिखाया।

मुझे मात्र बगीचे के दरवाजे के निकट के छोटे से गुलाब के पौधों के झुंड से ही फूल तोड़ने की इजाजत थी। अन्य किसी पौधे से नहीं। बगीचे में सभी प्रकार के फूलों के ढेर सारे पौधे थे जिन्हें मैं देख सकती थी, सूंघ सकती थी, पर उन्हें न तो तोड़ सकती थी और ना ही उन्हें कोई नुकसान पहुंचा सकती थी। इस प्रतिबन्ध से मैं कभी खीजी नहीं। मैंने इसे पूर्णरूपेण तर्क संगत माना और विश्वास कीजिए इससे मेरी खुशियां और भी बढ़ीं। आज भी मैं उस प्रसन्नता को महसूस कर सकती हूं जो मुझे बगीचे के दरवाजे के पास के गुलाब के झुंड से अत्यधिक सुगन्धियुक्त गुलाब को तोड़ने से मिलती थी तथा उस श्रद्धा को जिसके माध्यम से मैं नाना के गुलाब के बगीचे के खिले हुए फूलों को देखा करती थी। नानी के बगीचे के गुलाबों की सुगंधियों का भी मैंने अध्ययन किया जो विभिन्न रंग के गुलाबों से निसृत होती थी। यदि मुझे उन कलियों को तोड़ने या उनके साथ मनचाहा व्यवहार करने दिया जाता तो मैं कभी-भी उनका उपभोग उस प्रकार से करना नहीं सीख पाती जैसा मैंने सीखा। फलों के साथ भी यही व्यवहार रहा। मैं अपने लिए उन्हें आज्ञा प्राप्त करने के पश्चात ही तोड़ सकती थी। यह तो स्वाभाविक ही है कि वे बहुत मीठे होते थे, परन्तु इस अनुशासन से अधिक न खाकर पेट को खराब करने से भी मेरा बचाव हो जाता था।

पशुओं को देखने तथा बाड़े में बुद्धिमत्ता व प्यार से उन्हें संभालने की शिक्षा भी मुझे दी गई थी। मैंने गायों का दूध दुहना तथा घोड़ों को तैयार करना भी सीखा। मैंने चूज़ों को दाना देना, अंडों से चूज़े निकालने वाली मुर्गी को अंडों के ऊपर बैठाना तथा जब अंडों से चूज़े बाहर आ जाएं तो उनकी देखभाल किस प्रकार से करनी है, भी सीखा। मुझे यह भी याद है कि एक बार मैंने मुर्गी को अंडा देते हुए भी देखना चाहा। एक दिन मैं चूहे की तरह चुपचाप (ताकि मुर्गी के कार्य में कोई बाधा न पहुंचे) मुर्गीखाने में काफी देर तक एक मुर्गी पर दृष्टि गढ़ाए रही जो चुपचाप बैठी हुई अंडे के बाहर आने की प्रतीक्षा कर रही थी। अंत में वह बहुत ही सावधानी से अपनी दोनों टांगों पर खड़ी हुई, टांगों के बीच में से उसके मुलायम परों में एक फुलाव आया और धीरे-धीरे एक भूरे रंग का अंडा दड़बे के फर्श पर बिछी हुई सूखी घास पर उतरा। उसने एक नजर उसे देखा और फिर मुर्गीखाने से कुटकुट करती हुई बाहर दौड़ी, और मैं भी उसके पीछे बाहर आते हुए कम खुश नहीं थी। मेरा पालन-पोषण ऐसे वातावरण में हुआ था जहां पर किसी भी जानवर, पक्षी या अन्य किसी प्राणी को दुख देना घृणित कार्य समझा जाता था। इससे मेरे भीतर स्वाभाविक रूप में ही जानवरों के प्रति प्रेम का भाव पैदा हो गया, जिससे प्रेरित होकर मैं उन्हें अपना साथी

समझने लगी तथा उनकी खुशी और दुख में बहुत ही आत्मीयता व सहानुभूति पूर्वक उनका साथ देने लगी।

अब घर के भीतर चलकर देखिए मैं किस प्रकार के अनुशासनात्मक आनंद का उपभोग कर रही थी। घर में न तो रात देर तक बैठने दिया जाता था और ना ही हर प्रकार का खाना खाया जाता था। अपने से बड़ों के आगे अनावश्यक रूप से आना तथा जब वे बातें कर रहे हों, तो किसी प्रकार की आवाज करना भी वर्जित था। चार से सात वर्ष की अवस्था तक मैं प्रति दिन शाम सात बजे अपने बिस्तर पर चली जाती थी तथा ऋतुओं के अनुसार सुबह 6 व 7.30 बजे के बीच उठना होता था। प्रतिदिन दोपहर बाद मुझे एक घंटे के लिए बिस्तर पर आराम करना होता था। भोजन बिल्कुल सादा, स्वास्थ्यवर्द्धक, नपातुला व ठीक समय पर दिया जाता था। जो खाना बड़ों के लिए बनता था वही मुझे भी दिया जाए ऐसा नहीं होता था। सम्भवतः मैंने कभी न तो उसकी इच्छा की और न लालायित रही। बच्चे किसी वस्तु के लिए जिद नहीं करते थे, क्योंकि उसके मिलने की कोई सम्भावना नहीं होती थी। मैं सदैव अपने पौष्टिक खाने को खाकर मस्त रहती थी और कभी भी विशिष्ट खाने के लिए लालायित नहीं रहती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं खूब हट्टी-कट्टी और तंदुरुस्त रही।

मैं इधर-उधर दौड़ने और खेलने की बहुत शौकीन थी पर साथ ही यह प्रतिबन्ध भी था कि मैं मनमर्जी से न तो इधर-उधर दौड़ सकती थी और ना ही जब और जहां चाहा शोर मचाने की आज्ञा थी। ऐसी स्थिति में मैंने अपने खेलों को और भी अधिक रुचिपूर्ण बनाया। मैंने कभी भी न तो अपने बड़ों की बातचीत में व्यवधान पैदा किया और ना ही कभी उनके सामने दरवाजे से बाहर गई। वहां का जीवन व्यवस्थित तथा अच्छी आदतों से युक्त होने के कारण बचपने के सारे कार्यकलाप व खेल आदि अधिक आनंदमय बने।

बचपन के इसी अनुशासनात्मक जीवन ने मेरा 'साबरमती आश्रम' के अनुशासनात्मक जीवन को आसान बना दिया। मुझे इसमें बहुत ही आनन्द आया, जब कि उन लोगों के लिए जो बचपन से ही अनुशासनात्मक जीवन जीने के आदी नहीं हैं, बड़ी उमर में अनुशासनात्मक जीवन जीना काफी कष्टप्रद हो जाता है। जब तक हम बच्चों को नियंत्रण और प्यार से अनुशासन में नहीं रखेंगे, तब तक यह आशा करना कि राष्ट्र अनुशासन का पालन करेगा, सम्भव नहीं है।

माता-पिताओं को चाहिए कि इस प्रकार का प्रशिक्षण वे अपने बच्चों को अवश्य दें, और यदि माता-पिता इस प्रकार के वातावरण में नहीं पले हों, तो उन्हें इस पर विचार करना चाहिए। आज की अनेकों दूसरी त्रासदियों के समान यह भी उसी दोषपूर्ण क्षेत्र का एक भाग है। इससे बाहर निकलने का एक ही मार्ग है कि अपने बच्चों को अनुशासित जीवन में ढालने के वरदान स्वरूप वयस्क अपने को अनुशासित करने का प्रयास करें।

(हरिजन 30.11.1947 - से अनूदित)

गांधी-रोमां रोलां मुलाकात

(गांधीजी रोमां रोलां से मिलने के लिये उनके घर गये थे। उसके बाद रोमां रोलां ने अपने एक अमेरिकन दोस्त को एक पत्र लिखा था, जिसे न्यूयार्क के 'नेशन' नामक अखबार से उद्धृत किया गया है - मीरा बहन)

वे भारतवासी जब यहां आये, उस वक्त तुम यहां होते, तो कितना अच्छा रहता। 5 से 11 दिसम्बर तक,

अर्थात पांच दिन तक वे 'विला वियानेता' में रहे। चश्माधारी और दंतविहीन उस छोटे कद के व्यक्ति ने अपने शरीर पर चादर लपेट रखी थी, परन्तु उसके दुबले-पतले पांव नंगे ही थे। कहीं-कहीं पर रूक्ष बालों वाला उनका घुटा हुआ सिर खुला था और वर्षा से गीला हो गया था। वे हंसते हुए मेरे पास आये और अपना हाथ मेरे गले में डालकर उन्होंने अपना गाल मेरे कन्धे से लगाया जिसके कारण उनका रूपहले बालों वाला सिर मेरे गाल को छू गया। उनके उस प्यार भरे स्पर्श में मुझे सन्त डोमेनी तथा सन्त फ्रांसिस के चुम्बन जैसा ही आनन्द प्राप्त हुआ।

तब डैमिटर के समान ऊंचे कद की रूपहली आकृति मीरा (मिस स्लेड) और अन्त में तीन भारतीय आये। इनमें से गोल और हंसमुख चेहरे वाला देवदास, गांधी का सबसे छोटा लड़का था। वह नम्र स्वभाव वाला है तथा अपने नाम की भव्यता का ख्याल तक उसके मन में नहीं है। अन्य दो युवक — महादेव देसाई और प्यारेलाल — दिल और दिमागी शक्ति के असाधारण पुंज गांधी के सचिव/शिष्य थे।

क्योंकि कुछ ही समय पहले अत्यधिक ठण्ड के कारण मेरी छाती को ठण्ड पकड़ गई थी, इसलिये विला ओल्गा की दूसरी मंजिल पर, जहां मैं सोता हूं -- तुम्हें यह याद होगा -- गांधी रोज सबेरे लम्बी चर्चा के लिये मेरे पास आते थे। मीरा की मदद से मेरी बहन दुभाषिये का काम करती और मिस कोण्डेचेफ नाम की एक रशियन बहन, जो मेरी मित्र और सचिव है, हमारी चर्चा के नोट्स लेती थी। मान्ट्रो के हमारे पड़ोसी 'श्लेमर' ने हमारी मुलाकात के फोटो लेकर इसे एक सुखद यादगार में परिवर्तित कर दिया।

शाम को सात बजे पहली मंजिल के कमरे में प्रार्थना होती थी। दीपकों की रोशनी धीमी कर दी जाती थी। भारतीय (गांधीजी आदि) एक कालीन पर बैठते थे और उनके अनुयायियों की छोटी-सी टोली उनके आसपास बैठती थी। प्रार्थना में तीन सुन्दर भजन गाए जाते थे। पहला गीता के श्लोकों से निर्मित; दूसरा एक प्राचीन भजन जिसे गांधी ने संस्कृत से अनूदित किया था; और तीसरा, रामधुन जिसे मीरा अपनी आकर्षित और गम्भीर बाणी में गाती थी।

गांधी अपनी दूसरी प्रार्थना सबेरे तीन बजे किया करते थे। खुद रात को एक बजे तक जगते रहने के बावजूद भी वह प्रार्थना के लिये लन्दन में अपनी मण्डली के थके-थकाये लोगों को जगाते थे। बहुत दुबला दिखने वाला यह छोटे कद का इंसान जानता ही नहीं कि थकान किसे कहते हैं। उसके शब्दकोष में थकान शब्द है ही नहीं। वह भीड़ के द्वारा लगातार पूछे गये सवालों के जवाब, अपने माथे पर शिकन पड़ने दिये बगैर, घण्टों तक देते रहते हैं, जैसा कि लोसाने और जिनेवा में उन्होंने किया था। टेबल पर स्थिर आसन से बैठकर उन्होंने अपने सम्मुख और परोक्ष में खड़े विरोधियों को — जिनकी कि जिनेवा में कमी नहीं थी -- बहुत ही स्पष्ट और शान्त स्वर में उत्तर देते हुए ऐसी साफ-साफ तथ्य परक बातें सुनाईं कि उनके मुंह बन्द हो गये और उनसे कोई जवाब देते नहीं बना।

(हरिजन सेवक, 1.1.1948)

बापू

गांधी जी के जीवन की घटनाओं में सबसे महान और स्मरणीय घटना उनके दैनिक कार्यकलापों की वह बात है जो समयानुसार प्रतिदिन होती रहती है। इससे मेरा मतलब यह बताना नहीं है कि वे सुबह 4 या 3.30 बजे

उठ जाते हैं, दिन में दो बार प्रार्थना करते हैं, मसाले रहित खाना खाते हैं, आदि। लेकिन जिस तरीके से बापू यह सब करते हैं वह उल्लेखनीय है।

जब भी मैं बापू के साथ होती हूं मुझे सबसे अच्छा यह लगता है कि हर रोज कुछ देर तक उनके पास ही चुपचाप बैठी रहूं। मुझे ऐसी कोई वस्तु नहीं दिखाई दी है जो बापू के हाथ के स्पर्श से अधिक मृदुल-मधुर हो और जिस तरह वे लेखन कार्य करते हैं उसे देखते हुए मैं कभी थकती नहीं। उनके हाथ से कोई चीज न तो तुड़ती-मुड़ती है न टूटती-फूटती है और न बेकार होती है। मैं देखती हूं कि बापू विचारों में मग्न हैं। वे पत्र लिखने के लिए हल्के से कागज का टुकड़ा उठाते हैं। टुकड़ा छोटा है, लेकिन जो कुछ वह संक्षेप में लिखना चाहते हैं उसके हिसाब से वह बड़ा है। अब कागज का एक हिस्सा 3 इंच चौड़ा और 5 इंच लम्बा रह गया है। इस पर वह सब कुछ लिख डालते हैं। खादी का एक छोटा सा थैला है जिसमें लिफाफे-टिकट वगैरह हैं। हल्के से वे उसे खोलते हैं, एक लिफाफा निकालते हैं, उस पर पता लिखते हैं और पत्र उसमें डाल देते हैं। फिर वे उसे एक छोटी टोकरी में रख देते हैं जिसमें भेजे जाने वाले सभी पत्र रखे जाते हैं।

लगता है कि अगला संदेश और भी छोटा है। इसलिए वे एक पोस्टकार्ड उठाते हैं, वे फाउंटेन पेन से नहीं लिख रहे हैं क्योंकि पिछले पेन के साथ कोई दुर्घटना घट गई थी। तब से वे एक मामूली निब वाले होल्डर से ही लिखते आ रहे हैं। उनकी स्याही की दवात भी उनकी अपनी खास पेटेंट चीज है — लकड़ी का छोटा सा कलमदान है जिसमें पेन-पेन्सिलें रखी हैं और मल्हम की एक छोटी सी शीशी उस पर दवात के रूप में रखी हुई है। बापू जब भी अपनी 'दवात' का प्रयोग करते हैं तो वे मल्हम की शीशी का पुराना छोटा टीन का ढक्कन बार-बार बड़े नपे तुले हाथों से खोलते और बंद करते हैं। अब पोस्ट कार्ड भी पूरा लिख लिया गया है और टोकरी में रख दिया गया है। फिर वे खादी के लेखन सामग्री वाले थैले को खोलते हैं। लगता है कि अब वे कोई लेख लिखने वाले हैं क्योंकि वे थैले से अलग-अलग किस्म के अनेक कागज निकालते हैं जिनके एक ओर तो पहले से ही कुछ लिखा हुआ है लेकिन दूसरी ओर का हिस्सा खाली है। ये बापू के 'पुश्ती' कागज हैं जिन्हें वह अपने डाक में आए हुए पत्रों और अन्य संदेशों में से ध्यान से देखकर इकट्ठा करते रहते हैं यह देखते हुए कि इनमें से कितनों के पिछले भाग कोरे हैं। बापू लिखने लगते हैं। उनके मुख पर जो ध्यानयुक्त गंभीरता या सख्ती दिखाई दे रही है उससे स्पष्ट हो रहा है कि लेख किसी गंभीर विषय पर या शायद आजकल की किसी ज्वलंत समस्या के बारे में है। लेख समाप्त होते-होते उन्हें नींद सी आने लगती है। वे कलम कलमदान में रख देते हैं। 'पुश्ती' कागजों को सावधानी से एक किनारे रख दिया जाता है और बापू घूमकर अपनी गद्दी पर लेट जाते हैं। वे अपनी ऐनक निकालते हैं और उसे अपने तकिए की बगल में रख देते हैं — और एक दो मिनट में ही उन्हें गहरी नींद आ जाती है जैसे कि कोई छोटा बच्चा आराम से सो जाता है।

मैं रुमाल उठाकर बापू के सिर के पास बैठ जाती हूं और मक्खियों को भगाती रहती हूं।

इस प्रकार के अवसर मेरे लिए अत्यंत अमूल्य हैं, चिर मधुर हैं और उनसे मुझे वह शिक्षा मिलती है जिनका शब्दों में उल्लेख करना असंभव है।

ऐसे ही एक अवसर पर जब मैं बापू के पास बैठी थी, उन्हें अपनी पेन्सिल नहीं मिल रही थी। पेन्सिल क्या थी एक छोटा सा टुकड़ा था, जिसे वह बड़े प्रेम से चला रहे थे। लोग दबे शब्दों में कह रहे थे कि बापू अपनी पेन्सिल को तलाश रहे हैं। उनके कर्मचारी खोज करने लगे। लेकिन उसका कहीं कोई पता नहीं चला। तब किसी

ने उन्हें एक नई पेन्सिल पेश की। बापू बोले, "नहीं, मुझे अपना वही छोटा टुकड़ा चाहिए।" फिर कोई जाकर वैसा ही दूसरा टुकड़ा ले आया। वे बोले, "क्या तुम यह सोचते हो कि किसी दूसरे के टुकड़े से मुझे संतुष्ट हो जाना चाहिए? अगर तुम्हारा बच्चा खो जाए और कोई आदमी तुम्हें और किसी का बच्चा लाकर दे और कहे कि अपने बच्चे के बदले इस बच्चे को ले लो, तो क्या तुम उसे स्वीकार कर लोगे?" उसके बाद लोग सब कुछ छोड़कर पेंसिल की तलाश में लग गए और अंत में वही टुकड़ा ढूंढ निकाला गया और उसे विजयी भाव सहित बापू को सौंपा गया। उन्होंने प्रसन्नता की मुस्कान के साथ उसे ले लिया।

पूरी दूनिया में सच्चा गांधी आश्रम एक ही है — और वह है कुछ वर्ग फुट की वह जगह जहां गांधी की गद्दी और उनके लिखने की मेज है।

(चंद्रशेखर शुक्ल की पुस्तक "इन्सिडेन्ट्स आफ गांधीजी'ज लाइफ" से अनूदित, 14.1.1948)

विकास या विनाश

आजकल भारत में विकास की योजनायें बड़ी तेजी से चल रही हैं। लेकिन क्या वे सभी बुद्धिमत्तापूर्ण हैं और दूर दृष्टि से बनाई गई हैं? क्या वे जनता के लिए हितकर हैं? हमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए और अपने जांच परिणामों का व्यापक प्रचार करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में मैं तीन उदाहरण प्रस्तुत करना चाहती हूं —

1. घास के चरागाहों को जोतना
2. नहरों द्वारा सिंचाई का विस्तार करना
3. कृत्रिम खाद बनाना

पहले पहला उदाहरण लें। संभव है कि जिस घास के मैदान का अब विकास किया जा रहा है वह अब तक मवेशियों के लिए चरागाह के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा हो - जैसे तराई या खादर के इलाके। भारत के मवेशियों के लिए चरागाह तथा उनके लिए प्रजनन-स्थली का पहले से ही चिंताजनक अभाव है। इसलिए इस भूमि का सही विकास तभी संभव होगा जब इसमें पशुओं के चारे के लिए और अधिक अच्छी किस्म की घासें उगाना शुरू किया जाए और जो लोग इस भूमि पर बसे हों या बसाए जाएं उनमें मवेशियों के प्रजनन और परिवर्धन की योग्यता हो। मैं समझती हूं कि ऐसा नहीं हो रहा है और यदि भारत की चरागाह की भूमि विकास के नाम पर इसी तरह घटती चली गई तो इससे अन्ततः गाय और उसकी संतति का विनाश हो जाएगा। यदि हम अपनी मौजूदा खेती की जमीन की मिट्टी को अच्छे कम्पोस्ट खाद की बेहतर खुराक दें तो हम अनाज के उत्पादन को कई गुना बढ़ा सकते हैं। यही सुरक्षित और बुद्धिमत्ता पूर्ण तरीका है। दुर्भाग्यवश इसके परिणाम उतने शीघ्र और स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ते जैसे कि घास के मैदान की जुताई से दिखाई देते हैं। लेकिन दूर दृष्टि की नीति यही है जिससे अनाज के साथ ही गाय की भी रक्षा होगी, क्योंकि गाय के बिना मनुष्य का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा।

अब हम दूसरे उदाहरण को लें। अधिकांश लोग इसके खतरे से परिचित नहीं हैं। सिंचाई की विशाल नई

योजनाएं चलने वाली हैं — लेकिन क्या हमने इस बात का पर्याप्त अध्ययन कर लिया है कि नहरों द्वारा सिंचाई के क्या भयानक परिणाम हो सकते हैं? हजारों एकड़ जमीन जो कभी बहुत उपजाऊ थी, खेती के लिए बेकार हो गई है और अभी भी होती जा रही है। ऊसर, रेह, जलारूढ़ता (water logging) आदि ने देश की उत्तम किस्म की जमीनों को बेकार कर दिया है। विशेषज्ञों के अनुसार यह विनाश नहरी सिंचाई की वजह से हुआ है। अतः इस मामले में भी यदि दूरगामी परिणाम ध्यान में न रखे गए और तद्नुसार योजना न बनाई गई तो भावी विकास के बदले विनाश का ही मुख देखना पड़ेगा।

तीसरे विषय के संबंध में सभी वैज्ञानिक अब यह मानने लगे हैं कि जिन फसलों को कृत्रिम उर्वरकों की खुराक दी जाती है वे कम्पोस्ट खाद वाली फसलों की तुलना में घटिया किस्म की होती हैं। यह भी बताया जाता है कि जो सब्जियां और चारे कृत्रिम उर्वरकों के उपयोग से उगाए जाते हैं वे मनुष्य और पशुओं के लिए हानिकर हो सकते हैं। साथ ही, अगर मिट्टी में कृत्रिम उर्वरक मिलाए जाएं तो कुछ वर्षों तक तो उससे काफी अधिक पैदावार मिलती है, लेकिन बाद में उसकी ताकत खत्म हो जाती है। दूसरी ओर जिस मिट्टी में कम्पोस्ट खाद मिलाई जाती है उसकी ताकत लगातार बढ़ती ही जाती है। तो फिर कृत्रिम उर्वरक बनाने के लिए बड़ी-बड़ी फैक्टरियां लगाने की क्या जरूरत है? इस तथाकथित विकास का अंत भी विनाश में ही होता है।

मैं समझती हूं कि ऐसी योजनाएं बनाने में जनता का हित सर्वोपरि नहीं रखा जाता है। इसलिए यह समझकर कि क्योंकि अब हमने आजादी हासिल कर ली है, अब कोई और हमारा शोषण नहीं करेगा, अपनी जागरूकता को छोड़ देना ठीक नहीं है। बल्कि अब हमें और अधिक जागरूक रहना होगा, क्योंकि देश के भीतरी तत्वों द्वारा शोषण तो अब तक के विदेशी शोषण से भी अधिक खतरनाक हो जाता है, वह ऊपरी तौर पर देशभक्ति के आडम्बर के नीचे किया जाता है।

(हरिजन 23.1.1949 - से अनूदित)

सांप-छछूंदर की गति

कुछ समय पहले मैं देहरादून की सैनिक डेरी को देखने गई थी। वहां मैं 'मीरा' नाम की उस बछड़ी को देखना चाहती थी जिसे राजाजी ने पिछले शरदकाल में देखा था। मीरा एक बाड़े में थी जिसमें अनेक अन्य बछड़े-बछड़ियां थीं। उनमें अनेक बछड़े भी थे, यह बात मुझे कुछ नई सी लगी। मैंने कहा— "तो अब आप लोग अपने बछड़े बूचड़खाने में नहीं भेज रहे हैं।" मुझे बताया गया कि "वह अब बंद कर दिया गया है।" इस पर मैंने पूछा— "लेकिन जब ये बछड़े बड़े हो जाएंगे तो इनका क्या होगा? क्या कोई इन्हें खरीद लेगा?" उत्तर था "कोई नहीं।" साथ ही कोई भी आदमी इन्हें उपहार में लेने तक के लिए तैयार नहीं है क्योंकि वे हल चलाने या गाड़ी खींचने के काम के लिए भी बेकार हैं। "फिर इनका क्या होगा?" जबाव था —"मालूम नहीं। हम इन्हें पालते रहेंगे और खिलाते रहेंगे, पर यह स्थिति लंबे समय तक नहीं चल पाएगी।" "लेकिन यह क्या बात है कि आपने अभी तक विदेशी (होल्सटाइन) सांड का इस्तेमाल छोड़ा नहीं है? यह सब कुछ बिल्कुल बेतुका है, इससे तो इन मवेशियों के प्रति बूचड़खाने से भी अधिक क्रूरता होने की संभावना है।"

जो लोग मवेशियों की हत्या के विरूद्ध कानून बनाने पर जोर दे रहे हैं उन्हें सबसे पहले यह सोचना चाहिए कि वे कर क्या रहे हैं। सैनिक डेरियों में बछड़ों का वध न करने के लिए नियम तो पास कर दिए गए हैं लेकिन अनुपयोगी बछड़ों की वृद्धि की रोकथाम नहीं की गई है। इससे सैकड़ों हजारों बछड़े अभी भी पैदा हो रहे हैं जिनके बारे में बिलकुल तय है कि वे भुखमरी और उपेक्षा के कारण काल के गाल में चले जाएंगे अथवा क्या हम इन अभागे अवांछित बछड़ों के लिए यंत्रणा केंद्र बनाएं ताकि डेरी फार्मों में केवल सुंदर-स्वस्थ गाएं की रह पाएं? यह याद रखना चाहिए कि अब तक बछड़ों को बूचड़खाने भेजने का काम केवल सैनिक डेरियां ही नहीं करती हैं।

अगर हमें मवेशियों को मारने पर रोक लगानी है तो दो प्रकार के प्रयोजन वाले मवेशियों को छोड़कर शेष सभी किस्म के मवेशियों के प्रजनन पर भी रोक लगा देनी चाहिए। जब तक हम ऐसी गायें विकसित न कर सकें जिनके बछड़े भी उपयोगी सिद्ध हों, तब तक मवेशियों के वध पर रोक लगाने से हम उन्हें यंत्रणा की ओर ही ढकेलेंगे।

गाय के भावी हितैषियो, चेतो चेतो।

(हरिजन 13.2.1949 - से अनूदित)

वनों का जलाक्रांत होना और भूमि का क्षरण

तीन बड़ी-बड़ी लाल बत्तियां हमें घूर रही हैं। वे हमें बता रही हैं कि आगे चट्टानें हैं। लेकिन क्या हमने उनसे बचाव के लिए राजा के जहाज के सुक्कान (रडर : Rudder) को पर्याप्त मोड़ लिया है?

ये तीन लाल बत्तियां हैं—वनों की कटाई की चट्टान की बत्ती, पानी भरने की चट्टान की बत्ती और भूमि-क्षरण की चट्टान की बत्ती। पहली चट्टान से बच निकलने के लिए कुछ प्रयास किया जा रहा है हालांकि आजकल जमींदारी छोड़ने वाले जमींदार और रियासतों के राजा अंधाधुंध वृक्षों का विनाश करके विकराल लहरें उठाकर सुक्कान को मोड़ने में काफी दिक्कतें पेश कर रहे हैं। जहां तक शेष दोनों चट्टानों का संबंध है, लगता है हमारा जहाज उनसे सीधे टकराने वाला है। ये चट्टानें लोगों को दिखाई नहीं दे रही हैं क्योंकि वे युद्ध की अफवाह से उत्पन्न गर्जन और बिजली के गिरने से तथा क्रांतियों और राजनीतिक उथल-पुथलों से अधिक चिंताग्रस्त हैं। लेकिन ये चीजें तो गुजर ही जायेंगी और आम जनता हल लगाने, बीज बोने और फसल काटने का काम करती रहेगी - भले ही शासन किसी का भी हो और कुछ भी परिवर्तन हो रहा हो। लेकिन यह सब भी उस दिन समाप्त हो जाएगा जब भूमि या मिट्टी ही खत्म हो जाएगी। तब बुवाई-कटाई नहीं होगी — किस्सा खत्म हो जाएगा।

इतिहास के उदाहरण

इतिहासकार युद्ध की गर्जन और बिजली के चमकने पर तो ध्यान देते हैं, लेकिन अगर वे अपनी आंखें इस नाचीज मिट्टी पर गढ़ाते तो उन्हें प्राचीन साम्राज्यों के पतन और पूरी की पूरी सभ्यताओं के विलुप्त हो जाने के आधारभूत कारणों का पता चल जाता। कहते हैं कि उत्तरी अफ्रीका किसी समय रोम का धान्यागार था। आज

वह सहारा का रेगिस्तान है। एक समय बेबीलोन की संस्कृति इतिहास की सबसे गौरवशाली संस्कृति थी। आज वहां पूरा उजाड़ है। लगता है कि इन महान राज्यों का अस्तित्व सेनाओं और राजनीतिज्ञों ने नहीं बल्कि उनके अपने वनों की कटाई, और अपनी बेशकीमती जमीन पर अति कृषि करने और अधिक सिंचाई करने के कारण पूरी तरह समाप्त हो गया।

उन दिनों विनाश के कगार तक पहुंचते-पहुंचते अनेक सदियां व्यतीत हो जाती थीं। लेकिन आजकल की आधुनिक मशीनों और विज्ञान के युग में जो काम पहले एक हजार साल में होता था वह अब केवल सौ साल में हो जाता है। इसलिए अगर हम चेतते नहीं हैं कि क्या हो रहा है और समय पर उससे बचाव का उपाय नहीं करते हैं तो पूरा भारत और पाकिस्तान शीघ्र की सहारा के रेगिस्तान और बेबीलोन सा उजाड़ दिखाई देगा।

मैं पिछले तीन सालों से इन मामलों में अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाने का अनुरोध कर रही थी। हताश होकर मैंने इस बारे में कुछ भी कहना या लिखना बंद कर दिया है। लेकिन अभी हाल में 'रायटर्स के नोएल वकलेली' (Noel Bucklely) ने हिन्दुस्तान टाइम्स में पश्चिमी पाकिस्तान में भू-क्षरण के बारे में जो लेख लिखा है, उससे मैं फिर कुछ कहने पर विवश हो गई हूं। उनके लेख की कुछ खास-खास बातें इस प्रकार हैं—

उस विनाशकारी रेगिस्तान के बारे में जो हर साल आगे बढ़ता जा रहा है, वे कहते हैं-"कराची के समुद्र तट से सैंकड़ों मील तक देश के भीतर एक भी ऐसा पौधा मुश्किल से दिखाई देता है जो एक झाड़ी या कैक्टस से बड़ा हो और सूखी मिट्टी को बांधकर रख सके; विकराल तूफानी हवाओं से उसकी रक्षा कर सके और सिंध तथा राजपूताना से आने वाली रेत से उसका बचाव कर सके।"

खाद्य तथा कृषिमंत्री अब्दुल सत्तार पीरजादा साहेब ने पश्चिमी पाकिस्तान में पेड़ों के अभाव के बारे में जो कहा है उसका उद्धरण देते हुए वे कहते हैं कि विशेषज्ञों के अनुसार देश की 20 प्रतिशत भूमि पर वन होना चाहिए, पर वहां केवल 4 प्रतिशत भूमि पर वन हैं और उस पर भी असली जंगल के स्थान पर मामूली जंगली पेड़ पौधे ही हैं।

एक कष्टदायक चक्र

एक संक्षिप्त वाक्य में वे कहते हैं, "पाकिस्तान को पानी से अधिक आवश्यकता वृक्षों की है।" इस विषय में दुश्चक्र यही है कि बिना वर्षा के पेड़ों को कैसे उगाया जाए और बिना पेड़ के वर्षा कैसे हो? वे उस इलाके के जलाक्रांत हो जाने के बारे में जो देश का सबसे अच्छा अन्न उगाने वाला इलाका था, चिंताजनक आंकड़ें प्रस्तुत करते हैं- "जलाक्रांत हो जाने के कारण 23,50,000 एकड़ पर खेती बाड़ी बंद हो गई है और यह प्रक्रिया सरकारी अनुमान के हिसाब से प्रतिवर्ष प्रति हैक्टेयर 40,000 एकड़ की दर से अभी भी जारी है। पर शायद इसकी दर 2,00,000 एकड़ तक भी हो सकती है। इस भूमि को फिर से खेती योग्य बनाने की गति 33,000 एकड़ प्रतिवर्ष है।" दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भूमि पुनरुद्धार पर जो बेहिसाब रकम खर्च की जा रही है उसके बावजूद कम से कम 7000 एकड़ प्रति वर्ष की दर से इस लड़ाई में हार ही हाथ आ रही है। यह दर 1,67,000 एकड़ भी हो सकती है। यह एक ऐसी निराशाजनक स्थिति है जिसमें बढ़ते हुए विनाश का भी सही हिसाब नहीं लग पा रहा है।

यदि यह लालबत्ती (खतरे का निशान) नहीं है तो फिर यह क्या है? और इसके बावजूद भारत में विशाल नहरी सिंचाई परियोजनाओं पर काम हो रहा है। क्या हमें यकीन है कि उनके वही विनाशकारी परिणाम नहीं होंगे जो आजकल पंजाब (और उत्तर प्रदेश में भी) में दिखाई देते हैं? और अगर हमें यकीन नहीं है तो क्या हमारे लिए यह ठीक नहीं होगा कि हम तत्काल ही इस समस्या के मूल कारणों को जानें, और अगर हम उस मूल कारण को जानने में असमर्थ रहे तो इस बात की संभावना पर विचार करें कि ऐसी परियोजनाओं पर करोड़ों-अरबों रूपये खर्च करने के निर्णय को स्थगित कर देना ही समीचीन होगा, क्योंकि लगभग ऐसी ही परियोजनाओं के कारण विगत काल में भूमि का विनाश हुआ था।

आधुनिक पद्धतियां

भूमि के जलाक्रांत होने और वनों की कटाई से भी बड़ी समस्या ट्रेक्टरों और कृत्रिम खाद के रूप में सामने आई है। ये दोनों ही खतरनाक हैं। जिन देशों के सभी किसान पढ़े-लिखे हैं, और जहां मुद्रित प्रचार-सामग्री से जन-सामान्य को प्रभावित किया जा सकता है, जहां सरकार के पास प्रशिक्षित कर्मचारियों की विशाल सेना और मिट्टी के परीक्षण के लिए अनेक प्रयोगशालाएं हैं, वहां भी इनसे बहुत अधिक क्षति हो रही है। भारत जैसे गरीब देश की तो बात ही क्या है। ये चीजें धरती पर प्लेग की तरह फैलती जा रही हैं। स्थिति और भी खराब इसलिए हो रही है कि अब इस क्षेत्र में भी गैर-सरकारी उद्यम पांव जमाते जा रहे हैं और आधुनिक पद्धतियों से भूमि का शोषण करना एक व्यापारिक कार्य हो गया है। इस काम में अब वे लोग लग गए हैं जिनका खेती बाड़ी का अनुभव शून्य है और जो केवल तुरंत लाभ के लिए भूमि का अधिकतम शोषण करना चाहते हैं। जहां तक बेचारी गाय का प्रश्न है उसके लिए चरागाह की चिंता किसी को नहीं है।

कठिनाई यह है कि जिन लोगों का इन चीजों पर नियंत्रण है वे खेतों और वनों से रोजाना का संपर्क नहीं रखते (बल्कि कहना चाहिए कि वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत संपर्क रख ही नहीं सकते)। मेरा इनसे संपर्क है, क्योंकि ये मेरे जीवन के अंग बन चुके हैं। काश कि मैं अधिकारी लोगों को ये सब चीजें बंद करने के लिए मना पाती और तब वे सोचते कि हम किस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं।

मैं कोई विशेषज्ञ नहीं हूं। मैं एक पुजारिन (devotee) हूं, आदिम धरती माता की पुजारिन। पर हो सकता है कि आगे चलकर पुजारिन का सहज बोध ही माता की सच्ची सेवा का साधन बन जाए।

(द हिन्दुस्तान टाइम्स 5.6.1950 - से अनूदित)

गुट बन्दी से कैसे बचा जाए

बापू ने कहा – "यदि तुम अपने प्रतिपक्षी का मत बदलना चाहते हो तो तुम उसके सामने उसके चरित्र का सबसे सुन्दर और उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत करो। इसी पक्ष के माध्यम से उसको वशीभूत करने की चेष्टा करो, न कि उसके दोषों को उभार कर। (ग्लीनिंग्ज-पृ० 17-14)

यह सुनहरा नियम व्यक्तियों के लिए जितना सत्य है उतना ही राष्ट्रों के लिए भी है। एक राष्ट्र दुनिया के सम्मुख अपने विरोधी राष्ट्र के दोषों की ही कथा कहता रहे, विग्रह बढ़ाने का इससे अधिक कारगर रास्ता और कोई हो ही नहीं सकता। अन्त में यही रास्ता हमें युद्ध की ओर ले जाता है। फिर भी आजकल हम इसी विनाश परक राह पर चल रहे हैं।

यदि यह राह छोड़कर हमने बापू के मार्ग का अनुसरण किया होता, तो आज अन्तर्राष्ट्रीय परिमण्डल बिलकुल भिन्न होता।

किसी व्यक्ति या राष्ट्र के उज्ज्वल पहलू पर जोर देकर काम करने का अर्थ यह नहीं है कि हम आसपास घिर रहे संकट के प्रति अपनी आंखें मूंद लें। इससे यह अर्थ निकलता है कि हम अपनी दृष्टि केवल उसके मलिन पहलू पर गड़ा कर ही नहीं रखें, बल्कि शांत भाव से और ईमानदारी के साथ पूरी परिस्थिति का अवलोकन करें, तथा उसकी आशा और निराशाप्रद दोनों ही तरह की सम्भावनाओं पर दृष्टि रखें।

अन्तर्राष्ट्रीय विग्रह और विरोध की हमारी वर्तमान प्रवृत्ति बिलकुल असहनीय होती जा रही है। इसका एक ही परिणाम होगा — आपसी विनाश। क्योंकि दोनों पक्ष एक-दूसरे से बिलकुल पागलों जैसा द्वेष करते हैं। वास्तव में यह बढ़ता हुआ विद्वेष एक संक्रामक रोग बन गया है, जिसका निराकरण करने में समस्त विश्व असमर्थ हो रहा है; साथ ही यह बार-बार उभर कर विश्व युद्ध जैसी स्थिति उत्पन्न कर देता है।

यातायात के आधुनिक साधनों ने जब से विश्व मानव को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया है तभी से प्रमुख राष्ट्रों का व्यवहार कुटिल राजनीतिक नेताओं जैसा हो गया है। वे अपनी-अपनी गुटबन्दी करने में सक्रिय भूमिका निभाने लगे हैं तथा दुनिया के अन्य देशों को भी अपनी ओर आकृष्ट करने या बलपूर्वक खींच लाने में संलग्न हैं।

कोरिया में उत्पन्न विरोध की अग्नि ने विश्व की इस भयानक स्थिति पर विशेष प्रकाश डाला है। ऐसी स्थिति में हम आशा करते हैं कि भारत अपनी स्थिति और स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने की शक्ति बनाए रखेगा। यह तो स्पष्ट ही है कि वह ऐसा करना चाहता है, लेकिन उसे सफलता तो तभी मिलेगी, जब वह न तो अन्य देशों के साथ किसी राजनीतिक संधि में बंधे और न उन पर अपनी किसी अहम आवश्यकता के लिए निर्भर रहे। बापू के आदर्शों पर चलने की जरूरत जितनी आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। जो राष्ट्र आजाद रहना चाहता है, अपना स्वाभिमान कायम रखना चाहता है, और दूसरे देशों के साथ सम्मानित सम्बन्ध कायम करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम स्वावलम्बी बनना चाहिये, फिर चाहे उसका जीवन-मान बिलकुल मामूली ही क्यों न हो। तो हम उसी जीवन-मान की प्राप्ति की कोशिश क्यों न करें, जो हमें और कुछ नहीं तो स्वतंत्र रूप से अपने बल पर स्थिर रहने योग्य तो बनायेगा ही? यदि हम ऐसा कर सके, तो हम दुनिया के सम्मुख निष्पक्ष तथा सहायता प्रदान करने वाले राष्ट्र के समान सिर उठाकर चल सकेंगे।

(हरिजन सेवक, 5.8.1950 — इस पत्रिका में यह लेख 'दलबंदी से बचने का रास्ता' शीर्षक से छपा है)

स्मृतियां

आज मेरे सामने स्मृतियों से पूर्ण 25 वर्ष फैले पड़े हैं, जिनकी शुरूआत उस क्षण से होती है जब मुझे बम्बई से लाने वाली गाड़ी 7 नवम्बर, 1925 के दिन अहमदाबाद स्टेशन पर खड़ी हुई थी और मैंने डिब्बे की खिड़की से झांककर बाहर देखा था। महादेव वहां मौजूद थे, स्वामी आनन्द भी थे। लेकिन वहां एक तीसरे व्यक्ति भी थे, जिनके शान्त प्रभावशाली व्यक्तित्व ने मेरा ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने मुझे अपने साथ लिया। दूसरों की तरफ मुड़कर उन्होंने कहा - "तुम सामान का इन्तजाम करना", और बगैर ज्यादा कहे-सुने मुझे तुरन्त मोटर में बैठाकर साबरमती आश्रम ले गये। "मैं बल्लभ भाई पटेल हूं"- अपना परिचय देते हुए उन्होंने कहा। मैंने उनकी ओर देखा। उस वक्त मेरा मन इस विचार पर केन्द्रित था कि वे मुझे सीधे अपनी सब से बड़ी इच्छा की सिद्धि के समीप, बापू की पवित्र उपस्थिति में ले जा रहे हैं। और जैसा कि तीव्र अनिश्चितता के ऐसे क्षणों में होता है, सरदार का चेहरा उस प्रातः काल की स्मृति के साथ सदा के लिए मुझ से जुड़ गया। बाद के वर्षों में कई बार हम दोनों ने मिलकर उस प्रथम परिचय के कुछ घण्टों की घटनाओं को याद किया है।

यद्यपि अब सरदार 75 वर्ष की परिपक्व आयु को पहुंच गये, फिर भी उनका चेहरा बहुत ही कम बदला है। हां, वह इस हद तक जरूर बदला है कि वह पहले से ज्यादा प्रभावशाली और दूसरों को अपनी तरफ देखने के लिए मजबूर करने वाला हो गया है। उनका चेहरा उनकी दृढ़ और शक्तिशाली इच्छा की तरह स्थिर और कठोर था, लेकिन विनोद के समय मोहक और सौम्य बन जाता था। उनकी आंखें अलसाई हुई और बाहर से उदासीन-सी दिखाई देती थीं लेकिन अपनी स्वप्निल पलकों के भीतर वे सामने वाले के दिल में पैठ जाने और निरीक्षण करने की अनोखी क्षमता रखती थीं। अजेय शक्ति, सदा प्रस्तुत हास्य और साथ ही हृदय की ऐसी आन्तरिक कोमलता वाला सरदार पटेल जैसा व्यक्ति किसी राष्ट्र में बार-बार पैदा नहीं होता।

जब बापू समय-समय पर यरवदा जेल में कैद किये जाते थे तो यह सुनकर, हम सबको बड़ी शान्ति मिलती थी कि बल्लभ भाई भी उनके साथ रखे गये हैं। परिस्थिति कैसी ही चिन्ता ग्रस्त बनाने वाली और पीड़ा पहुंचाने वाली क्यों न हो, हम जानते थे कि सरदार की हंसा-हंसा कर लोट-पोट कर देने वाली मजाकिया बातें बापू को दिन भर में कई बार खूब हंसायेंगी। इसके अलावा, हमें यह भी विश्वास रहता था कि बापू की छोटी से छोटी जरूरतों का भी वे ध्यान रखते हैं।

22 साल पहले एक दिन 'बारडोली सत्याग्रह' के समय बापू ने कहा था - "ये अंग्रेज उस आदमी को नहीं जानते, जिसके खिलाफ वे लड़ रहे हैं", और फिर कुछ क्षण ठहरकर बापू ने कहा - "बल्लभ भाई में महान शासक के गुण मौजूद हैं।" मुझे बापू की यह भविष्यवाणी सदा याद रही।

(हरिजन सेवक, 30.12.1950)

हिमालय की सीख

मीरा बहन द्वारा लिखे गए इस लेख की अंतिम पंक्तियां मई, 1951 में लिखी गईं थीं। पहले यह लेख सात किश्तों में अंग्रेजी में "हरिजन" में प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात हिन्दी में 'हरिजन सेवक' में सात किश्तों में मार्च 10, 17, 24; जून 30; जुलाई 7, 21 और 28, 1951 को प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी से हिंदी में किये गये अनुवाद को हमने कहीं कहीं कुछ सुधारा है, कहीं कहीं कुछ नामों आदि को भी जो गलत छपे थे, ठीक कर दिया गया है, जैसे सही स्थान 'फकोट' है, वह 'फाकोट' छपा था।

पाठक यह ध्यान में रखें कि यह लेख आज से लगभग 42 वर्ष पूर्व लिखा गया था।

यात्रा—जुलाई-अगस्त 1950 में की गई थी।

यात्रा का उद्देश्य

पशुलोक आश्रम की स्थापना के समय से ही आस-पास के पहाड़ी प्रदेश में सेवा का क्षेत्र बढ़ाने का ही नहीं, बल्कि हिमालय के निचले प्रदेश में आश्रम की एक शाखा खोलने का भी मैं विचार कर रही थी।

जब तक आश्रम का काम सरकारी योजना के अनुरूप चला, तब तक ऐसा करना आसान नहीं था। इसलिए मैंने 'पशुलोक सेवा मंडल' की स्थापना हो जाने तक प्रतीक्षा की। इसके बाद आस पास के परिवेश का अध्ययन करने के लिए तथा बिगड़े हुए स्वास्थ्य को जलवायु परिवर्तन से लाभ पहुंचाने हेतु मैंने दो-तीन महीने हिमालय में बिताने की योजना बनाई। मैं मई के मध्य में निकलने के लिए उत्सुक थी ताकि वर्षारम्भ से पूर्व मुझे आस-पास के पर्वतीय प्रदेश को देखने के लिए पूरा एक महीना मिल जाए, लेकिन 'मण्डल' की स्थापना में कुछ इस प्रकार की कठिनाइयां आईं जिनके कारण इतनी देर हो गई कि मई और जून का महीना भी बीत गया। अब बरसात शुरू हो गई थी, ऐसी स्थिति में मैंने निश्चय किया कि सबसे नजदीक की जगह 'नीलकंठ' में ही कुछ दिन का अधिवास कर संतोष कर लें। यह स्थान पशुलोक के सामने वाली पर्वत श्रेणी पर गंगा के उस पार है।

अनुकूल मौसम न होने के कारण निश्चय किया गया कि इस यात्रा* को एक ही दिन में पूरी करने की कोशिश न करके पहली रात को स्वर्गाश्रम में विश्राम किया जाए ताकि दूसरे दिन सुबह-सुबह ही पांच मील की काफी खड़ी तथा पथरीली चढ़ाई चढ़कर दूसरी ओर एक मील की वैसी ही ढलान पार कर नीलकण्ठ पहुंचा जाए।

---

* मीरा बहन द्वारा की गई हिमालय की इस यात्रा में उनके साथ सर्वश्री स्वामी योगानंद, कृष्ण मूर्ति गुप्ता, भवानी सिंह, ब्रह्मचारी जी (रामेश्वर दत्त) तथा बिशन सम्मिलित थे।

नीलकण्ठ की ओर

4 जुलाई को शाम के पांच बजे माना (घोड़े का नाम) पर बैठकर लक्ष्मणझूला होती हुई अंधेरा होने से पहले मैं स्वर्गाश्रम में पहुंच गई। हमारी मण्डली के अन्य सदस्य सामान के साथ मोटर लारी में बैठकर पहले ही प्रस्थान कर चुके थे।

किसी स्थान विशेष से घोड़े की पीठ पर बैठकर सफर करने में जो आल्हाद और मैत्रीपूर्ण अनुभव होता है वह तेज गति से चलने वाली मोटर कार में कहां! गंतव्य की ओर बढ़ते हुए मैं मार्ग में न केवल पेड़-पौधों व पशु-पक्षियों से बिदा लेती गई, अपितु मार्ग में मिलने वाले व्यक्तियों से भी एक-दो मैत्रीपूर्ण बोल बतियाती चली। यह सब बहुत ही सुखद और सरल था।

सौभाग्य से मौसम सुहावना व साफ था। जब मैं स्वर्गाश्रम पहुंची तो देखा कि हमारी मण्डली के सदस्य खाना बनाने में जुटे हुए हैं, जिसके कारण शाम का खाना हमें शीघ्र ही मिल गया। माना को भी उसका भोजन (चना) मिल गया और उसे बरामदे के एक कोने में बांध दिया गया।

स्वच्छन्द घोड़े

उस रात को आश्रम के बाड़े में दो या तीन दुष्ट प्रकृति के लद्दू घोड़े (भारवाहक घोड़े) स्वच्छन्द रूप से चर रहे थे और उस समय से वे माना के पास पहुंचने के लिए हिनहिना रहे थे। स्वामीजी और दो अन्य लड़कों ने इस आशय से कि माना तक वे लद्दू घोड़े न पहुंच सकें, अवरोधक के रूप में अपने बिछौने बाहर लगा दिए। परन्तु आसमान में बादलों के गहरा जाने के कारण कुछ ही देर में वर्षा होने लगी। कोई और विकल्प न होने के कारण माना सहित सभी को बरामदे में शरण लेनी पड़ी। इस सबके होते हुए भी वे दुष्ट प्रकृति के घोड़े अपनी शरारतें करते रहे और माना भी जो मेरे बिछौने के पास बंधा हुआ था, एकाएक उन घोड़ों के साथ अपनी सम्मति के रूप में बार-बार हिनहिनाता रहा। इस सब से नींद में खलल तो पड़ ही रही थी, ऊपर से मच्छरों और वर्षा ने वातावरण को ऐसा बना दिया कि तमाम रात लगभग जागते हुए ही बीती।

प्रकृति का रौद्र रूप

सबेरा हो गया था, परन्तु पानी अब भी बरस रहा था। हम लोगों ने नाश्ता किया, अपना सामान बांधा और वर्षा के थमने की प्रतीक्षा करने लगे। अन्ततः बारिश थम गई। यद्यपि आसपास काले बादल अब भी मंडरा रहे थे, फिर भी हम नीलकण्ठ की ओर चल दिए। हम अभी मुश्किल से आधा मील ही चल पाए होंगे कि बारिश फिर शुरू हो गई। जैसे जैसे हम ऊपर चढ़ते गए वैसे-वैसे बादल और भी घने होते गए, और चारों ओर उनकी गर्जना सुनाई देने लगी। अंधकार इतना घना हो गया था कि मार्ग के बड़े-बड़े वृक्षों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था।

जब वर्षा हो रही होती है तो व्यक्ति कपड़े गीले होने या किसी और मुसीबत की डर से बाहर नहीं निकलता, अपितु पानी के थमने की प्रतीक्षा करता रहता है। लेकिन आंधी, तूफान और बारिश में बाहर घूमने का अपना ही आनंद है, रोमांच है। गरजते हुए बादलों के बीच से घोड़े की पीठ पर बैठी हुई जब मैं आगे बढ़ रही थी तो मुझे अपनी युवावस्था के उन दिनों की याद हो आयी जब बरसाती कोट पहनकर मैं बरसात और आंधी-तूफान में

इंग्लैण्ड के दक्षिणी-पश्चिमी किनारे के ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में निकल पड़ती थी। अपने चेहरे पर गिरने वाली वर्षा की बूंदों की चोट से और नीचे की चट्टानों पर निरंतर गर्जना के साथ टकराने वाली अंधमहासागर (एटलांटिक ओशन) की लहरों से उड़कर आने वाले नमकीन जलकणों की गंध में मुझे बहुत आनंद आता था। प्रकृति के इस प्रकार के रौद्र रूप में कितना सौंदर्य व रोमांच है, इसे घर में घुसकर बैठे रहने वाला व्यक्ति कभी भी अनुभव नहीं कर सकता।

नीलकण्ठ में

नीलकण्ठ पहुंचने पर वहां के लोगों ने मेहरबानी करके दो खाली पड़े मकानों में से एक उपयोग के लिए हमें दे दिया। वे दोनों मकान नेपाल के राजपरिवार के थे, ये मकान अधिकतर खाली ही रहते थे, जिसके परिणामस्वरूप वे धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से जीर्ण-शीर्ण होते जा रहे थे। मकान के दरवाजे और खिड़कियां इतनी सख्त हो गई थीं कि उन्हें खोलना और बंद करना कठिन होता था। रसोईघर की तो छत ही गायब थी। इस सबके होते हुए भी मकान काफी बड़ा था और बरसात से हमारी रक्षा करने में सक्षम था।

नीलकण्ठ महादेव का मंदिर छोटा है तथा दो पहाड़ी झरनों के संगम पर बना हुआ है। उसके तीन ओर ऊंचे पर्वत शिखर खड़े हैं। जिस मकान में हम ठहरे हुए थे वह मुख्य झरने के दाहिनी ओर लगभग 100 गज की ऊंचाई पर पहाड़ का एक हिस्सा काटकर समतल बनाई गई भूमि पर अवस्थित था। वहां से मंदिर के आस-पास की छोटी-छोटी झोंपड़ियों की छतें दिखाई देती थीं। नीलकण्ठ का मंदिर एक पुराने पीपल के वृक्ष के बाहुपाश में आबद्ध था।

उपयुक्त स्थान की खोज

यहां आकर मैंने तुरन्त पशुलोक आश्रम की एक शाखा खोलने के लिए आस-पास के क्षेत्र में उपयुक्त स्थान की खोज करनी शुरू की दी। परन्तु यह आसान काम नहीं था। यद्यपि ये पर्वत श्रेणियां बहुत ऊंची नहीं हैं, (मात्र 3000 से 5000 फुट तक ऊंची हैं) लेकिन वे सीधी खड़ी हैं, और नीचे गहरी घाटियां हैं। यहां पर कहीं भी जमीन का समतल टुकड़ा या समतल रास्ता देखने को नहीं मिलता है। पहले मैं खूब पैदल चला करती थी, परन्तु अब इस अवस्था (58 वर्ष) में खड़ी चढ़ाई वाले रास्तों पर चढ़ने में कठिनाई होती है। माना (घोड़ा) को मैंने पशुलोक वापस भेज दिया था, क्योंकि यहां उसके रहने व चरने योग्य कोई स्थान नहीं था। इसके अतिरिक्त आजकल उसके आगे के पांव इतने मजबूत नहीं रह गए थे कि वह खड़ी चढ़ाई वाले रास्तों पर आसानी के साथ चल सके। उस स्थान का नक्शा देखकर तथा आस-पास की ऊंची पहाड़ियों पर चढ़कर मैंने चारों ओर के पर्वतीय प्रदेश की भौगोलिक संरचना को आत्मसात कर लिया। यह जानकर कि मुझे आश्रम की शाखा के लिए एक उपयुक्त स्थान की आवश्यकता है, आस-पास के गांवों से ग्रामवासी मुझे मिलने आने लगे। प्रत्येक ग्रामवासी समझता था कि आश्रम के लिए उसका गांव एक आदर्श स्थान है। इस बात से मुझे प्रसन्नता तो होती थी पर लाभ कुछ भी नहीं हुआ।

किसानों की समस्याएं

दिन प्रतिदिन जैसे-जैसे मैं आस-पास के प्रदेश का निरीक्षण करती गई और ग्रामवासियों की बातें सुनती

गई, वैसे वैसे कितनी ही बातों पर मुझे विश्वास होता गया। मेरा ध्यान सबसे अधिक इस सत्य ने खींचा कि सरकार की ओर से गांववासियों को किसी भी प्रकार की कोई मदद नहीं दी जाती है। उनका जन्म तो मानो सरकार की कर अदायगी और मुसीबतें उठाने के लिए ही हुआ है। मैदानी भागों में रहते हुए मुझे जो महसूस होता था वही यहां इन पहाड़ियों में दूने वेग से महसूस हुआ, वह यह कि गांव के लोग सरकार के कारण नहीं, बल्कि उसके कारण होने वाली परेशानियों के बावजूद, अपना जीवन किस तरह बिताते हैं।

हिमालय के समस्त प्रदेश में सीढ़ियों की तरह एक के ऊपर एक फैले हुए खेतों में खेती का सारा कामकाज होता है। चावल के खेत तो अच्छी तरह बने होते हैं, लेकिन दूसरे इतनी बुरी तरह बनाये जाते हैं कि हर साल उनकी मिट्टी बरसात में धुलती जाती है और जगह-जगह खड्ड और खाइयां बढ़ती जाती हैं। इन खेतों को तैयार करना और उनकी मरम्मत करना बड़ा कठिन होता है और किसानों के गरीब और उपेक्षित होने से हालत दिनों दिन बिगड़ती जा रही है। नीलकंठ के आसपास के प्रदेश में उनके गृह उद्योगों की हालत भी अच्छी नहीं है। हाथ-कताई और हाथ-बुनाई की उपेक्षा की जाती है। आधुनिक रहन-सहन वाले मैदानी प्रदेश के लोगों के निकट सम्पर्क में आने के कारण निचले पहाड़ी प्रदेश में रहने वाले लोगों की मेहनत करने की ताकत और काम करने की लगन भी खतम हो रही है। ये किसान नीचे हरिद्वार और देहरादून की चमकती हुई बिजली की बत्तियां देखते हैं और पतंगों की तरह आग में गिरकर अपना नैतिक और शारीरिक ह्रास कर लेते हैं।

यहां के पहाड़ों की गायों की दूध देने की क्षमता इतनी कम हो गई है कि अब वे रोजाना आधा सेर से ज्यादा दूध नहीं देतीं। जो गाय दो सेर दूध देती है, वह बहुत अच्छी मानी जाती है। इसका खास कारण यह मालूम होता है कि इस प्रदेश में अच्छे सांडों की कमी है। जो स्थानीय सांड मैंने यहां देखे थे, वे बहुत छोटे थे — अर्थात वे मैदानी प्रदेशों के 15 माह के बछड़े से बड़े नहीं थे।

बकरी के बच्चे का करुण अन्त

जिस मकान में हम लोग ठहरे थे, उसके सामने की सीधी पहाड़ी पर चौकीदार की एक छोटी सी झोंपड़ी और सीढ़िनुमा खेत थे। मैं उस परिवार के लोगों को आते-जाते देखा करती थी। मेरा ध्यान बकरी के एक छोटे बच्चे की तरफ खास करके आकर्षित हुआ, जो झोंपड़ी के सामने रस्सी से बंधा रहता था। वह घर के बच्चों के साथ खेला करता था और अपने मालिकों से बहुत हिल-मिल गया था। जब सारा परिवार खेतों में काम करने को बाहर चला जाता था, तब वह बच्चा जोर से बें-बें चिल्लाता और उनके लौटने पर बड़े आनन्द में उनका सत्कार करता था। एक दिन मैंने चढ़कर उस झोंपड़ी तक जाने का सोचा और मन में कहा-'मैं बच्चे के लिए थोड़ा चना ले जाऊंगी और उसके साथ थोड़ी देर खेलूंगी।" लेकिन एक-दो दिन बाद उसकी आवाज वहां नहीं सुनाई दी और वह भी दिखाई नहीं दिया। उस शाम को स्वामीजी और भवानीसिंह ने घूमकर लौटने के बाद बताया कि चौकीदार के परिवार से रास्ते में उनकी भेंट हो गयी, जो पास के भुवनेश्वरी देवी के मंदिर से टोकरी में बकरी के बच्चे के अवशेषों को लेकर लौट रहा था। मांस की दावत उड़ाने के पहले उन लोगों ने देवी के सामने अपने छोटे दोस्त की बलि चढ़ाई थी। उन पर क्रोध करना बेकार है। अगर हमारे इतने नजदीक रहने वाले लोग भी अभी तक पशुबलि देने में अन्ध-श्रद्धा रखते हैं, तो यह हमारा दोष है, हमें उन लोगों की भावनायें जागृत कर और विश्वास फैलाकर ऐसे रिवाजों को बन्द कराने का ठोस प्रयत्न करना चाहिए।

पवित्र स्थानों की दुर्दशा

दुर्भाग्य से हम ऐसे समय नीलकंठ आये थे, जब वहां तीर्थ यात्रा का मौसम चल रहा था। रविवार और सोमवार के दिन वह जगह यात्रियों से खचाखच भर जाती थी। कभी-कभी इस छोटी सी घाटी में दो सौ से ऊपर यात्री इकट्ठे हो जाते थे। मंदिर के पास की धर्मशाला में जब यात्रियों की भीड़ बहुत बढ़ जाती, तो बचे हुए लोग हमारे पास के मकान में आ जाते। सबसे बुरी बात तो यह है कि वहां सफाई की कोई व्यवस्था नहीं थी, और जब तक सारी गंदगी धुल जाने के लिये पानी की दो-चार तेज बौछारें नहीं गिर जातीं, तब तक बाहर पांव रखना मुश्किल हो जाता। यह दुर्दशा अकेले नीलकंठ की ही नहीं है, बल्कि उत्तराखंड के सारे मंदिरों और तीर्थयात्रा के मार्गों की भी यही हालत है।

दूसरे प्रदेशों की तरह इन हिस्सों के तथाकथित धर्मरक्षक और सेवक भी भक्तों से प्राप्त होने वाली दान-दक्षिणा से अपार सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं। लेकिन इस सम्पत्ति का क्या होता है? उसका थोड़ा ही भाग यात्रियों की सुख-सुविधा के लिए या पवित्र मंदिरों की शुद्धि और शृंगार के लिये व्यय किया जाता है। धर्मशालाएं बहुत कम हैं, सफाई की कोई व्यवस्था नहीं है और पवित्र मंदिरों के आस-पास की जगह सुन्दर फूलों और फलों से सुशोभित नहीं की जाती -- जैसी कि की जानी चाहिये। इसके बदले वहां चारों तरफ मैला बिखरा होता है, पेशाब की असह्य दुर्गन्ध आती है, साथ ही, न वहां पवित्रता का वातावरण होता है न वैदिक मंत्रों का उद्घोष, न आत्मा को ऊंचा उठाने वाले अनुष्ठान होते हैं, और ना ही धर्मशास्त्रों का पठन-पाठन। वहां होता है केवल मनमाना शोरगुल, और कुछ नहीं। जो लोग पवित्र स्थान की इस दुर्दशा के लिए जिम्मेदार हैं, वे कभी यह कहते नहीं थकते कि "हिन्दू धर्म खतरे में है"। हिन्दू धर्म को सबसे बड़ा खतरा इन्हीं धर्म के ठेकेदारों से है।

मच्छर, खटमल और रोग

जैसे-जैसे दिन बीतते गये, नीलकंठ का जलवायु ज्यादा परेशान करने वाला होता गया। बादल बिल्कुल हमारे सिर को छूने लगे, जोरों की वर्षा होने लगी और ऊपर से मच्छर और खटमल भी सताने लगे। किसी की भी तबियत अच्छी नहीं रहती थी। कृष्ण मूर्ति जितनी बार हमारे कैम्प में आये, उतनी बार पशुलोक लौटते ही तेज बुखार के शिकार बने। आखिरकार उन्होंने कह दिया कि "मुझे नीलकंठ आने में भी डर लगता है"। मेरा स्वास्थ्य तो शुरू से ही काफी खराब था, यहां आकर ज्यादा बिगड़ गया। आजकल कामकाज का ज्यादा बोझ पड़ता है, या आबहवा मेरे अनुकूल नहीं है, या दोनों बातें एक साथ इकट्ठी हो रही हैं — नीलकंठ में ऐसा ही हुआ। मेरा सिर जोरों से दर्द करने लगता है और ऐसा लगता है मानो मैं बीमार पड़ गयी हूं। नतीजा यह होता है कि मैं बहुत कमजोर हो जाती हूं। नीलकंठ में एक के बाद एक, मुझ पर ऐसे तीन हमले हुये, और आखिरी तो बड़े जोरों का हुआ। अब यह साफ मालूम हो गया था कि नीलकंठ, आश्रम की शाखा के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है, और हम सबको महसूस हुआ कि यह स्थान जितनी जल्दी छोड़ दिया जाय, उतना ही अच्छा। लेकिन जायें कहां और ऐसे मौसम में वहां पहुंचें कैसे?

हमने टिहरी गढ़वाल जाना तय किया

तीन वर्ष पहले मैं उत्तरकाशी और प्रतापनगर की यात्रा पर गयी थी, तभी से टिहरी गढ़वाल के बारे में

विचार कर रही थी। इस बार हम नीलकंठ में इसलिये गये थे कि बरसात शुरू होने से पहले बहुत दूर जा नहीं सकते थे। यह भी ख्याल था कि यह स्थान पशुलोक के बहुत ही पास है, इसलिये वहां आना-जाना आसान होगा। लेकिन सच बात तो यह थी कि इस 6 मील की दूरी का बहुत बड़ा भाग तो सीधी चढ़ाई वाला है और मार्ग घने, गरम और बुरी तरह काटने वाले मच्छरों से भरे जंगल में से होकर जाता है, इस कारण यह स्थान आने-जाने की दृष्टि से बड़ा कठिन मालूम हुआ। अन्त में हमने चम्बाखाल को आजमा देखने की कोशिश की, जो नरेन्द्र नगर और टिहरी के बीच मोटर मार्ग के सबसे ऊंचे भाग पर बसा हुआ है। वह स्थान अनुकूल न मालूम हो, तो बाद में कौड़िया जाने का हमारा विचार था। स्थानीय अधिकारियों ने मेहरबानी से हमें दोनों स्थानों के लिये इजाजत दे दी थी। इसलिये 11 अगस्त की रात स्वर्गाश्रम में बिताकर दूसरे दिन सुबह-सुबह लक्ष्मण झूला से मोटर ट्रक में रवाना होने का हमने निश्चय किया।

फिर प्रवास में

भाग्य से हम जब नीलकंठ से नीचे उतरे, तभी बारिश बन्द हो गयी थी। लेकिन बाद में फिर मूसलधार पानी बरसने लगा और दूसरे दिन सुबह तक बरसता ही रहा। लेकिन पानी गिरे या न गिरे, हमें तो आगे बढ़ना ही था। अभी हमारा ट्रक कम से कम डेढ़ मील दूर था और अपने आपको व सामान को गीला होने से बचाने की सारी कोशिशों के बावजूद ट्रक तक पहुंचते-पहुंचते सब कुछ अच्छी तरह भीग गया था। एक क्षण की भी देर किये बिना हम अपने सामान के साथ ट्रक में बैठ गये और नरेन्द्र नगर जाने वाली सीधी चढ़ाई के घुमावदार रास्ते पर आगे बढ़ गए। रास्ते में यह अफवाह सुनने में आई कि नरेन्द्र नगर के आगे का रास्ता टूट गया है और उसकी मरम्मत हो रही है। कलक्टर के बंगले पर हमें मालूम हुआ कि यह अफवाह बिलकुल सच थी और कम से कम अगले 24 घंटे तक सड़क की मरम्मत पूरी नहीं हो सकेगी। मुझे फकोट के रेस्ट हाउस का स्मरण हो आया, जिसे मैंने तीन साल पहले उस रास्ते पर मोटर से सफर करते समय देखा था। अधिकारियों ने इस जगह के लिये भी मेहरबानी से हमें इजाजत दे दी। एक कोयले का थैला और कुछ साग-भाजी खरीद कर हम उस तरफ आगे बढ़े। बारिश धीमी हुई और हम थोड़े आशावादी बने। सुबह से ही हमें कुछ खाने को नहीं मिला था और अब दिन के दो बजने को आ गये थे। अतः हमने तय किया कि रेस्ट हाउस पहुंचकर हम भोजन नहीं बनायेंगे, बल्कि कुछ गरम पेय लेंगे और व्यवस्थित हो जाने के बाद शाम को अच्छा भोजन करेंगे।

फकोट रेस्ट हाउस

अब हमें रेस्ट हाउस दीखने लगा था। यह पहाड़ के पास ऊंचे रास्ते से लगभग 50 गज नीचे बना हुआ है। उसके पास ही दो-तीन छोटी दुकानें थीं। यह सब हमें आशाजनक लगा। पहुंचने के बाद पहला काम चौकीदार की खोज करना था। लेकिन उसका कहीं पता नहीं चला। बारिश फिर शुरू हो गई थी, इसलिये हम जल्दी से सामान के साथ पीछे के बरामदे में चले गये। हमने कांच की खिड़कियों में से अन्दर झांक कर देखा। पहले कमरे में, जो खाली था, छत के निचले भाग से पानी टपक रहा था और सारा फर्श गीला हो गया था। दूसरे कमरे में पुरानी कुर्सियों का या उनके ढांचों का ढेर पड़ा था। सारी कुर्सियों की बैठकें टूट चुकी थीं। एक टूटा-फूटा लोहे का पलंग भी था, जिसकी तारों की जाली टूट कर नीचे झूल रही थी।

यह सब आशाप्रद नहीं था। लेकिन हमें तो इसी का अच्छे से अच्छा उपयोग करना था। ज्यों ही चौकीदार

ने आकर मकान खोला, हमने सारा पुराना फर्नीचर निकाल कर सामने के बरामदे में रखा और अपना गीला सामान कमरे में फैला दिया। लेकिन भोजन बनाने के लिये आग कैसे जलायी जाये? चूल्हा बिलकुल टूट चुका था और हमारे पास केवल कोयला ही था। सूखी लकड़ी का मिलना कठिन था। हम इस परेशानी में पड़े हुए थे कि बिशन ने टिन का एक पुराना टुकड़ा खोज निकाला, जिसमें उसने छेद करके उसे चूल्हे पर जमा दिया। वहां एक स्टोव भी था। थोड़ी ही देर में कोयले जल उठे और हम में उत्साह का संचार हुआ। सौभाग्य से हवा काफी अच्छी थी। हमारी अधिकतर चीजें भीगी हुई थीं और सीमेंट के फर्श के सिवा बिस्तर के रूप में फैलाने के लिये हमारे पास कुछ भी नहीं था। दूसरे दिन सुबह सूरज निकला और हमने प्रसन्नता से अपने कपड़े और कम्बल वगैरा सुखाये। लेकिन टूटे हुए रास्ते ने हमें दो दिन और दो रात वहां रोके रखा, क्योंकि पहाड़ी की ढाल पर से पत्थर आदि लुढ़क कर नीचे गिरते रहते थे, और जैसे ही रास्ता साफ होता वे फिर आ गिरते थे।

आशा के आधार पर

हम यह सोचकर मन को मनाते रहे कि एक बार हम चम्बाखाल पहुंचे कि हमें अच्छा रेस्ट हाउस मिलेगा। आशा कैसी अद्भुत वस्तु है! अन्त में वह पूरी हो या न हो, लेकिन मनुष्य की सारी मुसीबतों से पार होने में वह जरूर मदद करती है। जब आशा उसे धोखा देती है, तभी उसकी हिम्मत टूटती है। इसलिये हमने भी अपनी आशा के बल पर अपनी छोटी मुसीबतों में धैर्य रखा। खतरनाक मोटर मार्ग का सफर तय करके जब हम चम्बाखाल पहुंचे तो हमें पता चला कि वहां कोई रेस्ट हाउस नहीं है जहां हम जा सकें। लेकिन इस निराशा से इस हकीकत में कोई फर्क नहीं पड़ सका कि पिछले दिनों में भी हम आशा के बल पर ही टिके रहे। बेशक, आशा अपने उत्कृष्ट रूप में श्रद्धा बन जाती है— ऐसी अटल श्रद्धा कि जब तक हम यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं, तब तक चाहे जो हो, लगता है अन्त में सब अच्छा ही होगा, क्योंकि यह ईश्वर की इच्छा है।

चम्बाखाल में तकलीफ

हम अब चम्बाखाल पहुंच गये थे, जो 5300 फुट की ऊंचाई पर बसा हुआ है। वहां घाटी से होकर आने वाली ठण्डी, गीली हवा बह रही थी। चम्बाखाल में रेस्ट हाउस के न होने का कारण यही था कि उस जंगल को वन विभाग ने भाड़े (लीज़) पर दे दिया था। लेकिन कलक्टर को इसकी सूचना नहीं दी गयी थी, इसलिए उन्होंने सब कुछ ठीक मान कर हमें वहां रहने की इजाजत दे दी थी। चम्बाखाल कस्बा नहीं है, गांव भी नहीं है। वहां एक डाकखाना, एक चाय की दुकान, एक स्कूल और कुछ बिखरे हुये घर हैं। हमारे पहुंचते ही वहां के लोग हमारे आसपास इकट्ठे हो गये। कई तरह के सुझाव दिये गये और ठहरने के स्थान की खोज भी की गयी। शाम होने को आयी थी, लेकिन रात में ठहरने के लिये कोई स्थान नहीं मिल रहा था। आखिरकार किसी ने एक छोटे मकान की चाबी हमें दी। उसमें एक रहने लायक कमरा और शाम का भोजन बनाने के लिए एक चूल्हा हमें मिला। लेकिन कमरा इतना बड़ा नहीं था कि उसमें सारी पार्टी सामान के साथ रह सके। इसलिये मैंने कहा कि मैं ट्रक की अगली सीट पर सो रहूंगी। भवानी सिंह और बिशन दोनों ट्रक के पिछले हिस्से में सोये। रात को काफी ठन्ड और हवा थी। इसलिये सबेरे हम सब थोड़े गीले-से हो गये, और सबेरा होते ही नयी मुसीबत आई। पाखाने तो वहां थे ही नहीं, कहीं कोई पेड़ या झाड़ी भी नहीं थी, जिनकी आड़ में बैठा जा सके। बरसते पानी में कीचड़ पारकर टिहरी की सड़क पर लगभग एक मील नीचे मैं गयी, तब कहीं मुझे थोड़ी सुविधा वाली जगह मिली।

इस प्रकार की दूसरी रात बिताने का तो प्रश्न ही नहीं उठता था, अतः अन्य स्थान की तलाश जरूरी हो गई थी। जिस स्थान पर हमने कल की रात बिताई थी उसके सम्बन्ध में किसी ने बताया था कि यहां से दो मील की दूरी पर पहाड़ों के ऊपर भोन-बागी नामक एक एकान्त स्थान है जहां पर एक दुकान है। अतः प्रातः काल ही स्वामीजी और भवानी सिंह कुछ स्थानीय मित्रों के साथ उस स्थान को देखने के लिए गये। वे एक अच्छी खबर के साथ वापस आए। क्योंकि मौसम अब कुछ ठीक हो गया था अतः हमने ट्रक को, जिसे पशुलोक लौटना था, बिदा कर दिया और अपने सामान को खच्चरों पर लाद कर गंतव्य की ओर चल दिए। मैंने आशा की थी कि मेरे लिए एक घोड़े का प्रबन्ध हो जाएगा, पर एक भी घोड़ा सुलभ नहीं हो सका। 6,300 फीट की ऊंचाई तक ले जाने वाला यह रास्ता कई स्थानों पर ऊबड़-खाबड़ व पथरीला था। काफी नीचाई तक बादलों के होने के कारण हम कोई दृश्य नहीं देख पाए, मात्र चीड़ के पेड़ों से युक्त तीखे घास के ढलानों के। इन पेड़ों की नीचे की शाखाएं कटी होने के कारण ये चीड़ से अधिक पाम (ताड़) के पेड़ों जैसे दिखाई दे रहे थे।

आशा ही हम को खींचे लिए जा रही थी, यदि मौसम साफ होता तो स्वाभाविक था कि इन पर्वत श्रेणियों से हिमाच्छादित श्रेणियों की भव्यता साफ दिखाई देती तथा सूर्य की गर्मी से चीड़ के पेड़ों से निकलने वाली सुगंधि मादक होती। आस-पास पर्वत द्रोणियों में पशु चर रहे थे तथा इधर-उधर छोटी-छोटी गौशालाएं बिन्दुओं के समान दिखाई दे रही थीं। हमने एक दूसरे से कहा—पशुलोक की शाखा के लिए यह कितना आदर्श स्थान है।

हम उस सूनी दुकान में पहुंचे। पत्थरों से बनी हुई, मिट्टी से लिपी हुई तथा पत्थर की स्लेटों से ढकी हुई यह दुकान घास के मैदान से युक्त उस पहाड़ी के ऊपर निर्जन स्थान में अवस्थित थी। उसके सामने पशुओं के पानी पीने का तालाब था। हम सब इस मूड (मनः स्थिति) में थे कि उसका उचित प्रयोग करेंगे। उस दुकान का बाहरी भाग बैठक का कमरा जैसा था और पिछला भाग जिसमें कि अल्मारियां आदि थीं उस में हमारे सामान के लिए जगह बन गई तथा कुछ स्थान हमारे सोने के लिए भी बच गया। दुकान के शेष कमरों में काठ-कबाड़, पुराने टिन, बक्से, बर्तन आदि भरे हुए थे जो यह दर्शाता था कि किसी समय यह एक अच्छी स्थानीय दुकान रही होगी। मकान के एक हिस्से में दो बहुत नीचे दरवाजों वाले कमरे थे। इनमें से एक को हमने रसोई के रूप में प्रयोग करने का विचार बनाया, दूसरे में स्थानीय बच्चों के स्कूल की व्यवस्था थी जिसमें एक खुश मिजाज ब्राह्मण अध्यापक था जो कि दिन भर अपने विद्यार्थियों के बीच संस्कृत के मन्त्रों को बुदबुदाता रहता था। यही लोग पहले इस दुकान का प्रयोग करते थे।

हमारे आने की सूचना हम से पहले ही वहां पहुंच गई। फलस्वरूप स्थानीय ग्रामीण वहां जमा होने लगे, साथ ही वहां स्कूल के बच्चे भी बैठे हुए टक-टकी लगाये थे, जिसके कारण हमारे बैठने के लिए वहां पर कोई स्थान ही नहीं बचा था। हम ग्रामीण माहौल में पहुंच गये थे। यही वास्तविक हिमालयी जीवन था, हिल स्टेशनों (पहाड़ी सैरगाहों) से बिल्कुल अलग, जिसे बाहर से आने वाले अनेक लोग पर्वतों पर देखते हैं। इस वातावरण में मैं बहुत खुश थी, परन्तु लगभग तीन घन्टे तक एक ही स्थान पर बैठे रहने व बोलते रहने से मेरा शरीर दुखने लगा था। हमने अब देखा कि दुकान का फर्श कई स्थानों पर गीला था और दीवारें भी सूखी हुई नहीं थीं। वर्षा पुनः प्रारम्भ हो गई थी, पहले धीरे-धीरे और बाद में मूसलाधार। देखते ही देखते छत टपकने लगी और फर्श पर जहां गीलापन था वहां पानी एकत्र हो गया। बिशन और ब्रह्मचारीजी को रसोईघर में काफी परेशानी हो रही थी क्योंकि एक तो लकड़ियां

गीली थीं और दूसरे ऊपर से पानी लगातार तवे पर टपक रहा था जिससे एक लय युक्त शब्द उत्पन्न हो रहा था। इस सब के होते हुए भी उन्होंने गरम-गरम खाना परोसा जिसके लिए हम सब आभारी थे, क्योंकि उस दिन भी फकोट की तरह सुबह से अब तक हमने कुछ नहीं खाया था।

अब प्रश्न सोने का था। वहां पर एक ही छोटी चारपाई थी, जिसको मैं अपने उपयोग में ला रही थी। इसको कुछ और लम्बा करने के लिए मैंने स्कूल के अध्यापक की कुर्सी को आगे से जोड़ दिया था ताकि उसके ऊपर अपने पैर फैला सकूं। साथ के बाकी लोगों ने लकड़ी के कुछ तख्तों, जो कि सौभाग्य से वहां पर काफी थे, को जोड़कर उन पर अपने बिस्तर बिछा लिये थे। सारी रात और दूसरे दिन भी वर्षा होती रही। साथ का एक आदमी जो डाक देखने के लिए नीचे चम्बा-खाल गया था, इस समाचार के साथ वापस आया कि वह मोटर सड़क जिससे हम नरेन्द्र नगर से यहां पहुंचे थे, मार्ग में फिर टूट गई, तथा हमारा ट्रक भी रास्ते में फंस जाने के कारण पशुलोक नहीं पहुंच सका और कोई डाक भी नहीं आई। बारिश दो दिन दो रात तक लगातार होती रही। अब तक हम पूर्ण रूप से गीले हो चुके थे और इस प्रकार वर्षा में पूरी तरह भीग कर, तथा थककर, हम चौथे दिन चम्बाखाल वापस आ गये, इस धारणा के साथ कि जिस घर को हम पीछे छोड़ आये हैं उससे बदतर और कोई जगह नहीं हो सकती।

पिस्सुओं के बीच में

हमें वहां से भाग कर आया देख चम्बा-खाल वासियों ने जल्दी से हमारे लिए जो कुछ वे कर सकते थे किया, और पास ही के गांव के कुछ मित्रों ने चम्बाखाल और अपने घरों के बीच में एक भैंस-शाला (गौ-शाला, स्थानीय भाषा में इसे 'छान्नि' कहते हैं) में हमारे लिए दो कमरों का प्रबन्ध कर दिया। जब हम वहां पहुंचे तो पशु पालक / चरवाहा घास लाने के लिए बाहर गया हुआ था, परन्तु शाम को वापस आने पर जब उसने मुझे अपने रसोईघर में देखा तो उसके गुस्से का वार-पार नहीं रहा। सुस्त चाल से चलने वाली गाय-भैंसें भी उसी समय उसके गुस्से का स्वाद चखने के लिए जंगल से आईं और उसके इस अजनबी व्यवहार को देखकर घबरा गईं, वे सहमी हुई लाल आखों से उसकी ओर देखने लगीं। यदि मैं वहां पर नहीं होती तो निश्चय पूर्वक कह सकती हूं कि हमारा सारा सामान पहाड़ी से नीचे फेंक दिया जाता और रसोईघर में से सभी को धक्के मारकर बाहर निकाल दिया जाता। धीरे-धीरे उसका क्रोध शान्त हुआ, उसकी चारपाई उसे दे दी गई तथा रसोईघर का उसका सामान दूसरे कमरे में लगा दिया गया।

अब हम अपने नये घर का निरीक्षण करने लगे। इस बात से हमें सांत्वना मिली कि छत टपक नहीं रही थी परन्तु स्थान बहुत कम था। छोटे से एक ही कमरे में सामान का ढेर लग गया था तथा खाना बनाने के लिए बहुत ही कम स्थान बचा था। भैसें, जैसा कि हमने अनुमान लगाया था, दिन भर भीतर ही बंधी रहती थीं परन्तु रात में उन्हें खुले में, हमारे कमरों के बाहर बांधा जाता था। सम्भवतः यह उनकी दिनचर्या का ही एक भाग था जिसमें हमने कोई दखलांदाजी नहीं की। गांव से मेरे लिए एक चारपाई लाई गई थी, परन्तु साथ के अन्य व्यक्तियों के लिए सीलन युक्त फर्श पर सोने के सिवाय और कोई चारा नहीं था। बिशन और ब्रह्मचारीजी ने तो अपने सोने के लिए मेरी चारपाई तथा सामान के ढेर के बीच में स्थान बना लिया था, जब कि स्वामीजी और भवानी सिंह ने किसी तरह अपने सोने का प्रबन्ध रसोई घर में किया। अभी कुछ आराम मिलने पर नींद आने ही वाली थी कि पिस्सू मेरे शरीर पर रेंगने शुरू हो गये। सारी रात वे मेरे शर्रार के ऊपर रेंगते और काटते ही रहे। जो व्यक्ति जमीन पर सोये हुए थे उनकी भी वही दशा हो रही थी क्योंकि मैं उनकी कुलबुलाने और खुजलाने की आवाज सुनती रही। सुबह जब हमने

इस पर चर्चा की तो पाया कि वे दो जो रसोई घर में सोये थे हमारी ही तरह परेशान रहे, यह सब उन भैंसों के कारण हुआ। मुझे नहीं मालूम था कि भैंसें पिस्सुओं को अपने शरीर में आश्रय देती हैं, परन्तु अब जान गई हूं और कभी भी नहीं भूलूंगी।

तुरन्त ही हमने किसी दूसरे मकान की खोज शुरू कर दी, परन्तु कोई नहीं मिला। जहां तक मौसम का प्रश्न है, वर्षा तो थम गई थी लेकिन मोटर सड़क बहुत ज्यादा टूट गई थी और मैदानी भाग से सम्पर्क भी टूट गया था। हमें यह भी बताया गया कि मोटर सड़क को चालू होने में अभी एक पखवाड़े का समय लग सकता है।

कौड़िया : अन्तिम आश्रय

तीन दिन तक मकान की असफल तलाश और तीन रातों तक पिस्सुओं द्वारा निष्ठुरता पूर्वक काटे जाते रहने के पश्चात हमने निर्णय किया कि अब आठ मील की चढ़ाई चढ़ने के बाद कौड़िया डाक बंगले में ही दम लेंगे। इस विचार के अनुसार स्वामीजी और भवानी सिंह ने एक ही रात में वहां पहुंचने और वापस लौटने का संकल्प किया ताकि यह सुनिश्चित हो सके कि वह स्थान समय काटने योग्य है। यह एक साफ दिन था, जब वे वहां के लिए चले तथा उसी के अनुरूप एक अच्छी खबर लेकर आए। मार्ग के विषय में अवश्य ही उन्होंने बताया कि वह बहुत ही ऊबड़-खाबड़ और पथरीला है। स्वामीजी क्योंकि नंगे पांव हो गये थे अतः उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ अधिक ही कहा। अगले दिन खच्चरों में सामान लाद कर तथा मेरी सवारी के लिए एक सफेद घोड़े का प्रबन्ध कर हम कौड़िया डाक-बंगले के लिए चल पड़े। इस अवसर पर स्वामीजी ने कहा कि वे पैदल ही पशुलोक जाना चाहते हैं ताकि वहां के लोगों को यहां की सूचना तथा स्थिति से अवगत करा सकें। इसके बाद वे तीन दिन तक मसूरी के मार्ग से हमारे पास आ जायेंगे उन्होंने यह भी सोचा कि कृष्ण मूर्ति को, जिन्हें डाक तथा कार्यालय सम्बन्धी कागजों के साथ अब तक यहां पहुंच जाना चाहिए था, परन्तु नरेन्द्र नगर मार्ग के टूट जाने के कारण पशुलोक में ही अटक गये थे, अपने साथ ही ले आएंगे।

इस प्रकार वे नीचे की ओर और हम ऊपर की ओर चल पड़े। यह एक प्रकार से ऊपर को ही चढ़ते जाने का मामला था, परन्तु था बहुत ही पथरीला व खड़ी चढ़ाई युक्त। बूढ़ा सफेद घोड़ा हट्टा-कट्टा नहीं था, अतः स्थान-स्थान पर उसे श्वास लेने के लिए रुकना पड़ता था। हमें पहाड़ी की दूसरी ओर लगभग 8000 फुट ऊंचाई पर पहुंचना था परन्तु जैसे ही हम खल्वाट पहाड़ी के ऊपर लगभग 7,500 फुट की ऊंचाई पर पहुंचे वैसे ही हमें तेज व चुभती हुई ठण्डी हवा का सामना करना पड़ा। बूढ़ा घोड़ा भी कुछ ही गज चलकर रुकने लग गया था। ऐसी स्थिति में मैंने उससे कहा—"अरे भाई ! यदि तुम इससे अधिक कुछ करने में असमर्थ हो तो मैं नीचे उतर जाती हूं, क्योंकि इस स्थिति में तो मैं ठण्ड से अकड़ रही हूं।" और उसने भी मानो अपनी सहमति प्रदान करते हुए इशारा किया कि मुझे तुरन्त ही ऐसा करना चाहिए, और मैं नीचे उतर आई। हमारे सफर का अन्त देवदार के घने पेड़ों के मध्य में हुआ, जिसके कुछ ही नीचे हरी घास के मैदान के बीच में कौड़िया डाक-बंगला अपनी निराली छटा बिखेर रहा था। "अन्ततः हमने एक आरामदेह स्थान पा ही लिया है" — हम खुशी से चिल्लाए।

बंगले के मुख्य भाग में स्नान गृह युक्त दो कमरे थे। सामने एक चौड़ा बरामदा था। रसोई घर अन्य कमरों के साथ दूसरी पंक्ति में था। कमरों में तीन बिस्तर थे (कितना विलासिता पूर्ण) और साथ ही ढेर सारा पानी भी। मुझे लगा कि नहा लेना चाहिए, क्योंकि एक सप्ताह पूर्व फकोट छोड़ने के बाद से मुझे स्नान की सुविधा नहीं

मिली थी। अब हम रात्रि के लिए व्यवस्थित हो गये थे। यह स्थान ठण्डा और नम तो लगा, पर इस पर हमने ज्यादा ध्यान नहीं दिया, क्योंकि हम काफी थक चुके थे। यह विशाल पर्वत अब मानसून के बादलों को अपने शिखरों पर समेटकर उन्हें नीचे हमारे सिरों के ऊपर बिखेर रहा था। और इन बादलों के साथ न थमने वाली बारिश भी आ गई। डाक बंगले के निकट दो पहाड़ी झरने थे तथा सारे पहाड़ पर पानी ही पानी हो गया था। दूसरे दिन मैं डाक बंगले के चौड़े मैदान से आगे नहीं गई। बारिश रुक-रुक कर होती रही। तभी अचानक थकी तथा भीगी हुई अवस्था में कृष्ण मूर्ति अकेले ही वहां पहुंच गये। मैं चिल्लाई — "कैसे हो, यह सब कैसे हुआ, स्वामी जी कहां है?"

पता लगा कि सम्भवतः स्वामीजी के पहुंचने के एक दो घन्टे पहले ही वे पशुलोक छोड़ चुके थे। काफी समय से कोई सूचना न मिलने के कारण, जानकारी प्राप्त करने हेतु उन्होंने मसूरी के रास्ते हम तक पहुंचने का प्रयत्न किया था। और कुछ मुसीबतें उठाने के पश्चात वे अपने इरादे में सफल हो गये थे। उन्होंने बताया कि मसूरी मोटर मार्ग भी टूटा हुआ था परन्तु ड्राइवर किसी प्रकार यात्रियों को लेकर आ ही गया। उन्हें वह रात मसूरी के एक छोटे होटल में व्यतीत करनी पड़ी, परन्तु खटमलों के कारण सो नहीं पाए। दूसरे दिन अपने सामान को एक कुली को सौंपकर उन्होंने मसूरी से काणाताल तक का 28 मील का सफर तय किया। उस रात पूर्ण रूप से भीग जाने व ठण्ड के कारण उन्हें वहीं अन्य 18 पैदल मार्गियों के साथ एक छोटे से कमरे में रात बितानी पड़ी। उस छोटे से कमरे में सो सकने के लिए तो स्थान नहीं था, अतः अधिकतर यात्री रात भर बैठकर धूम्रपान करते रहे। इस आशा के साथ कि हम अभी चम्बाखाल में ही होंगे, वे दूसरे दिन सुबह चम्बाखाल के लिए चल पड़े। कुछ समय बाद कौड़िया के मोड़ से गुजरने पर एक ग्रामीण ने उन्हें हमारे विषय में सूचना दी। यह तो अच्छा ही हुआ था, परन्तु वह कुली जिसके पास सामान था तथा जो धूम्रपान करने के लिए पीछे ठहर गया था,दिखाई नहीं दे रहा था, क्योंकि वह चम्बाखाल के मार्ग पर आगे बढ़ गया था, जहां से वह तब तक नहीं लौटा जब तक कि तीन दिन पश्चात उसे लेने के लिए एक व्यक्ति को नहीं भेजा गया। इसी बीच स्वामीजी भी पहुंच गये।

अन्ततः हम सब एक साथ तो थे परन्तु भाग्य हमारा साथ नहीं दे रहा था। मेरा स्वास्थ्य इतना बिगड़ चुका था कि मुझे चौबीसों घन्टे बिस्तर पर ही लेटे रहने के लिए मजबूर होना पड़ा। कृष्ण मूर्ति की स्थिति भी कोई खास अच्छी नहीं थी। पीने का पानी ठीक नहीं था। सारा वातावरण नमी से भर जाने के कारण अत्यधिक ठण्डा हो गया था तथा बादल भी उस विशाल पर्वत पर मंडराते ही रहते थे। हमें यहां से चले जाना चाहिए, यह विचार बार-बार मन में कौंधता रहता था, परन्तु मेरा स्वास्थ्य इतना बिगड़ चुका था कि मुझ में घोड़े की पीठ पर बैठकर जाने की भी शक्ति शेष नहीं थी। स्वामीजी और भवानी सिंह ने जो रोज ही किसी अच्छे स्थान को खोजते रहते थे, सुझाव दिया कि हमें टिहरी (जो कि यहां से 14 मील नीचे है तथा ऊंचाई भी यहां से 4,000 फीट कम है) के लिए प्रस्थान कर देना चाहिए। अपनी इच्छा के विरुद्ध, और ऐसा कार्य जो कि मैंने पहले कभी नहीं किया था, मुझे डण्डी में जाने के लिए राजी होना पड़ा। कृष्ण मूर्ति को एक जीर्ण-शीर्ण घोड़े से ही सन्तोष करना पड़ा। मेरी डण्डी में कुछ कमी थी जिसके कारण मुझे एक ही ओर को झुका रहना पड़ रहा था तथा बार-बार ऐसा लगता था कि मैं गिर पड़ूंगी। इसी प्रकार की स्थिति कृष्ण मूर्ति के घोड़े की भी थी जिसे मार्ग पर ठीक प्रकार से चलने के लिए पूंछ पकड़कर उसके लचकते हुए पांव को सहारा देना पड़ता था। इस सब का परिणाम यह हुआ कि शक्ति है या नहीं हम दोनों (मैं और कृष्ण मूर्ति) को दो-तीन मील का सफर पैदल चलकर काटना पड़ा।

लाट साहब की कोठी

टिहरी पहुंचने पर मैंने रहने के लिए शहर से दूर किसी स्थान की व्यवस्था करने की अपनी इच्छा प्रकट की थी। प्रशासन ने कृपा पूर्वक टिहरी से एक मील ऊपर भिलंगना के किनारे सिमलासू डाक-बंगले में हमारे रहने की व्यवस्था कर दी। क्योंकि इसे महाराजा के पिता ने एक अंग्रेज लार्ड के ठहरने के लिए बनाया था अतः स्थानीय लोग इसे 'लाट साहब की कोठी' के नाम से पुकारते थे। इस प्रकार हमने गौशाला से उठकर 'लाट साहब की कोठी' में ठहरने तक की तरक्की कर ली थी। जैसे ही हमने उस भव्य इमारत में प्रवेश किया मेरा मन भोन-बागी की पर्वतीय छटा, पशुओं तथा ग्रामीणों के बीच चले जाने के लिए लालायित होने लगा। मैंने अपने आपको इस सब के होते हुए भी परिस्थितियों के हवाले कर दिया, क्योंकि वे मुझे स्वस्थ करने में सहायक हो रही थीं। कुछ दिन यहां रहने का यह एक लाभ हो गया। रियासत (टिहरी गढ़वाल) अभी हाल ही में उत्तर प्रदेश में एक नये जिले के रूप में सम्मलित की गई थी। इससे हमें उन सब बातों को समझने का भी अवसर मिला जिनका हम अपने इस भ्रमण की अवधि में अध्ययन कर रहे थे। खैर, अपने अनुभवों पर पुनर्विचार/ समीक्षा करने से पूर्व, मैं इस प्रकरण की अन्तिम परिणति तक पहुंच जाना चाहती हूं।

वापस भोन-बागी में

जैसे-जैसे दिन गुजरते गये मैं 'लाट साहब की कोठी' में अनमनी होती गई। ऐसे वातावरण में चाहे उसे कोई कितना ही सहज क्यों न बना ले, कोठी में रहने वाले व्यक्ति और आम जनता के बीच में एक सीमारेखा तो खिंची ही रहती है। चाहे कितना ही तर्क क्यों ने दिया जाए, ऐसी इमारतों में रहते हुए आम जनता का प्यार/स्नेह प्राप्त नहीं हो सकता। यह कितना बड़ा अभिशाप है कि हमारे जन प्रतिनिधि ऐसी भव्य इमारतों में रहना आवश्यक समझते हैं। इससे उनकी प्रतिष्ठा में बिल्कुल भी बढ़ोतरी नहीं होती, अपितु इसके विपरीत दिन प्रतिदिन प्रतिष्ठा में गिरावट ही आती है।

मैं शीघ्रातिशीघ्र यहां से बाहर निकल जाना चाहती थी, अतः भोन-बागी की दुकान के मालिक को सन्देश भेजकर निवेदन किया गया कि वह उसकी छत की मरम्मत करवा दे ताकि छत से बारिश का टपकना बन्द हो जाए, और जैसे ही हमें यह सूचना मिली कि छत की मरम्मत कर दी गयी है हम अपने सामान सहित भोन-बागी के लिए चल पड़े। मार्ग उतना ही ढालू व पथरीला था जितना चम्बाखाल से कौड़िया का तथा उससे दुगना लम्बा। क्योंकि सिमलासू में कोई घोड़ा उपलब्ध नहीं था, अतः मैंने खच्चर की पीठ पर ही सफर करना उचित समझा। मेरा स्वास्थ्य अभी पूर्ण रूप से ठीक नहीं था परन्तु खुले में निकल पड़ने की प्रसन्नता से मुझे बल मिला।

पिछले चार-पांच दिनों से वर्षा थमी हुई थी और लगता था कि अब बरसात का मौसम समाप्ति पर है। हम संध्या समय भोन-बागी पहुंचे। कार्य की अधिकता से थके हारे ग्रामीण हमारा स्वागत करने के लिए उपस्थित थे। उस छोटी-सी इमारत पर पुनः पलास्टर कर दिया गया था जिससे वह बहुत ही लुभावनी प्रतीत हो रही थी। हवा सुखद और स्वच्छ थी। बड़े प्रसन्न मन से हम मकान में गए। इस बार मुझे अपने रहने के लिए पिछवाड़े का एक छोटा कक्ष मिल गया था जिसमें रखा हुआ कबाड़ हटा दिया गया था। एक छोटा बिस्तर जिसे अध्यापक की कुर्सी लगाकर कुछ बड़ा कर दिया गया था, मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। अन्य साथियों के लिए भी वृद्ध ग्रामीण ने मिट्टी के तेल के खाली कनस्तरों व लकड़ी के तख्तों के माध्यम से कुछ नवीन व्यवस्था कर दी थी। यहां पर न तो 'लाट साहब की कोठी' जैसी भव्यता थी और ना ही ग्रामीणों के चेहरों पर किसी तरह की झिझक।

अनुभव के आधार पर ही सत्य को स्वीकारा गया

सुनते हैं कि हिमालय के गांवों में पानी तथा जलाऊ लकड़ी की कमी है, परन्तु इसको जानने के लिए अनुभव अथवा अनुभूति आवश्यक है। पर्वत श्रृंखला का यह भू-भाग जो चम्बाखाल से टिहरी तक फैला हुआ है, पूर्ण रूप से बांज (Oak) विहीन कर दिया गया है, जिसके कारण पानी के कई सोते सूख गये हैं। चीड़ के पेड़ जो कि काफी बड़ी मात्रा में उगे हुए हैं, उनकी भी नीचे की शाखाएं काट डाली गई हैं। परिणामतः जलाऊ लकड़ी दुर्लभ हो गई है। गांव वालों को वर्ष भर की आवश्यकता के लिए कई मील दूर जाकर लकड़ी का प्रबन्ध करना पड़ता है। हम जो कि कुछ ही समय के लिए यहां पर हैं, अपनी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए घन्टों तक पहाड़ पर ऊपर नीचे जाकर जलाऊ लकड़ी जुटा रहे हैं। इस सब से शीघ्र ही हमें यह अनुभव हो गया कि जलाऊ लकड़ी भी उतनी ही आवश्यक है, जितना खाना, क्योंकि उसके बिना न तो रोटी ही बन सकती है और ना ही कोई अन्य खाद्य पदार्थ।

बरसात के दिनों में निकट ही कुछ घटिया किस्म का पानी उपलब्ध हो जाता था परन्तु पीने का पानी लगभग दो फर्लांग नीचे जाकर चट्टानी रास्ते से लाना होता है। अक्तूबर के अन्त तक नजदीक वाले पानी का सोता सूख जाता है, फलस्वरूप गांव वालों को सभी कामों के लिए नीचे वाले सोते पर ही जाना होता है। यह सोता भी ज्यों ज्यों गर्मी का मौसम निकट आता जाता है, पतला होता जाता है। शहरों में पानी के नल युक्त घरों में रहने वाले तथा वे ग्रामीण जिन्हें कुओं की सुविधाएं प्राप्त हैं, अनुभव नहीं कर सकते कि स्थायी पानी की कमी का क्या अर्थ होता है।

ये ऐसे अनुभव हैं जो अधिसंख्य व्यक्तियों की वास्तविक आवश्यकताओं को समझने में मदद देते हैं, और यदि वे व्यक्ति जो सत्ता में है अपना थोड़ा सा भी जीवन इन सुंदर क्षेत्रों के गांवों में व्यतीत कर सकें तो हमारी विकास नीतियां अधिक ग्राह्य बन सकती हैं।

वर्षा जीत गई

कुछ दिनो के बाद बादल पुनः डराने धमकाने लगे। हमने मन में कहा-"इससे क्या फर्क पड़ता है। हमारी छत तो अब टपकेगी नहीं।" परन्तु शीघ्र ही हमारा भ्रम टूट गया। पानी मूसलाधार बरसा, न केवल एक दिन, अपितु कई रात दिनों तक, और वह पानी न केवल छत से अपितु सभी दिशाओं से घर में घुस गया, विशेषकर मेरे कक्ष में। मैंने अपने बिस्तर को एक कोने में समेटकर मोमजामे से ढक कर किसी तरह वर्षा से बचाए रखा परन्तु शेष कमरे काफी गीले हो गए और फर्श चिपचिपी मिट्टी के कारण दलदल-मय हो गया। आखिरकार जब वर्षा थमी तो मौसम बहुत ठण्डा हो गया। मेरा कमरा इतना नम और ठण्डा हो गया कि उसमें व्याप्त अन्धकार मेरी हड्डियों को भी कंपाने लगा। कुछ दिनों बाद मेरा स्वास्थ्य फिर गड़बड़ाने लगा। मैं उस पुरानी दुकान के सामने वाले हिस्से में आ गई जो कि अपेक्षाकृत सूखा था, और जिसे मैंने इसलिए छोड़ा था कि उस स्थान पर एकान्तता नहीं थी। परन्तु अब काफी देर हो चुकी थी क्योंकि मेरा स्वास्थ्य सुधरने के बजाय बिगड़ रहा था। अतः बहुत ही अनमने मन से मुझे यह फैसला करना पड़ा कि अब हम पूर्व निर्धारित कार्यक्रम से एक महीना (सितम्बर में) पहले ही पशुलोक की शाखा के लिए स्थान का निर्णय किये बिना ही पहाड़ों से नीचे उतर जायेंगे। परन्तु यह मेरी मुसीबतों का अन्त नहीं था क्योंकि पशुलोक पहुंचते ही एक सप्ताह के भीतर मुझे मलेरिया ने जकड़ लिया, और उन जाड़ों में भी मलेरिया से मैं तीन बार ग्रस्त हुई।

पवित्र हिमालय - शिक्षा और उपलब्धियां

जुलाई के प्रारम्भ में हम हिमालय में कुछ ऐसे स्थानों का निरीक्षण करने के लिए आए थे जो हमारे अनुकूल हों। जैसे-जैसे समय बीतता गया मुझे लगा कि पवित्र हिमालय को इस दृष्टि से देखकर हमने भारी भूल की है। मैंने अपने साथियों से कहा "हम हिमालय का परीक्षण नहीं कर रहे हैं, अपितु हिमालय हमें परख रहा है। और स्थितियों के अनुसार हम अयोग्य साबित हो रहे हैं। जब तक हम नत-मस्तक होकर पवित्र हिमालय के पास उस रूप में नहीं जायेंगे, जैसे कि एक शिष्य अपने महान गुरू के पास जाता है, तब तक हम उसकी कृपा के पात्र नहीं बन सकते।" एक महान गुरू के वैशिष्ट्य से युक्त हिमालय अपने शिष्यों से लगातार दुख सहने और आत्मोत्सर्ग की कामना करता है। और इस अनुशासन का पालन करने के प्रतिकार स्वरूप उनको व्यक्ति की भौतिक निराधारिता और दार्शनिक क्षेत्र में अनेकानेक सम्भावनाओं सहित उसकी विशालता का बोध होता है।

जहां तक टिहरी गढ़वाल के दैनिक प्रभावों का सम्बन्ध है, वे बहुत ही दिलचस्प/रुचिकर और शिक्षाप्रद थे। जहां कहीं भी मोटर सड़कें पहुंची हैं, आत्म-निर्भरता और चरित्र के स्तर में भारी गिरावट आई है, इसके विपरीत उन स्थानों पर जहां तक सड़कों का दुष्प्रभाव नहीं पहुंचा है, व्यक्ति अपेक्षाकृत आत्म निर्भर, तन्दुरुस्त और खुशहाल हैं। अब मोटर सड़कों के अतिरिक्त एक और विघटनकारी कारक सामने है, वह है— रियासत का उत्तर प्रदेश में विलय। मैदानी भाग से आये हुए अधिकारी न तो यहां की भाषा व रीति-रिवाजों तथा व्यक्तियों की आवश्यकताओं से परिचित हैं और ना ही वे पर्वत वासियों की भांति पहाड़ी मार्गों पर चलने-फिरने के आदी हैं। यदि वे सच्ची निष्ठा से भी इस क्षेत्र में कार्य करना चाहें तब भी मैदानी भाग से आए हुए आदमी के लिए, जो कि थोड़े ही समय के लिए यहां आता है, पर्वतीय जीवन से खूब हिल-मिल जाना सम्भंव नहीं है। यह प्रथा कि कलक्टर तथा अन्य सरकारी अधिकारियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण होता रहे, लाभप्रद हो सकता है, पर मेरी दृष्टि में इससे लाभ के स्थान पर हानि अधिक होती है, विशेषकर उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में, जहां पर मैदानी भागों और पर्वतीय क्षेत्र की स्थितियों में बहुत अन्तर है। मुझे यह भी बताया गया कि कलक्टर के मासिक दौरों में भी काट-छांट कर दी गई है।

मैदानी भागों में तो कलक्टर के लिए यह सम्भव है कि वह कार में बैठकर अपने जिले के किसी भी भाग में बहुत कम समय में पहुंच सकता है, परन्तु यहां हिमालय में अभी भी वही सदियों पुरानी गति सुरक्षित है— दो या तीन मील प्रति घण्टा। जो भी हो, चाहे मैदानी भाग हों या पर्वतीय क्षेत्र, जिस कारण से भी कलक्टर, जनता तथा उसके इर्द-गिर्द के वातावरण के सम्पर्कों में कमी आती है, वह बुरी बात है। एक अच्छा प्रशासक वह नहीं है, जो अपने कार्यालय में बैठा रहता है, बल्कि वह है जो बाहर रहकर अपने चतुर्दिक वातावरण व स्थानीय लोगों से परिचय बढ़ाता है— जिनका वह मार्गदर्शक तथा शासक है।

पहले तो टिहरी गढ़वाल में अपराध यदा-कदा ही होते थे, परन्तु यदि हत्या या अन्य गम्भीर अपराध हो भी जाएं तो अपराधी को सजा तुरन्त दे दी जाती थी। किसी समय ये प्रकरण वीभत्स या त्रुटिपूर्ण रहे हों, परन्तु निश्चय ही आज की अपेक्षा कहीं अधिक उचित थे। आज तो कानूनी दाव-पेचों के फलस्वरूप अपराधों में खासी वृद्धि हो रही है। पहले टिहरी में फैसला तुरंत हो जाता था, परन्तु अब तो किसी भी मामले को लखनऊ तक घसीटा जा सकता है। स्वाभाविक है कि यह सब एक गरीब आदमी की आशाओं के विपरीत होता है और वह हतोत्साह होकर दम तोड़ देता है। यह सारी विषयवस्तु किसी भी समझदार व्यक्ति को विचार करने का अच्छा अवसर प्रदान

कर सकती है। मेरा मत है कि हर कीमत पर हमें अपने प्रति ईमानदार होना चाहिए और प्रत्येक वस्तु को उसके समग्ररूप में देखना चाहिए।

टिहरी गढ़वाल में कुटीर उद्योगों तथा पूर्णरूप से आत्मनिर्भरता को संरक्षण प्रदान करने व बढ़ावा देने के लिए काफी गुंजाइश है। निम्नांकित आकंड़े जो कि टिहरी-गढ़वाल राज्य के 1945-46 के प्रतिवेदन से लिए गए हैं—ध्यानाकर्षित करने वाले हैं—

जनसंख्या (1941)	4,00,184
अतिरिक्त (प्रवासी)	1,36,800
क्षेत्रफल	4,500 वर्ग मील
कृषि योग्य भूमि	350 वर्ग मील
वन आवरण	2,775 वर्ग मील
हिम मंडित क्षेत्र	1,375 वर्ग मील

इन आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यूनाधिक रूप में सबसे बड़ी सम्पदा वनावरण है। सरकार इन जंगलों से काफी लाभ कमाती है, परन्तु बदले में ग्रामीणों को बहुत ही कम देती है। पानी की गूलें और उसके संचय के लिए टैंक (हौज या तालाब), खच्चरों के लिए अच्छे रास्ते, अच्छे और अधिक पुल आदि, आज की प्रमुख आवश्यकताएं हैं। यह सही है कि इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है। परन्तु यह और भी अधिक उदारता के साथ होना चाहिए तथा पंचायतों की राजनीति व लालफीताशाही के कारण कार्य में जो व्यवधान आ जाते हैं, इन कार्यों को उससे मुक्त रखा जाना चाहिए। जल की आपूर्ति पर जो भी पैसा सरकार व्यय करेगी, उससे खाद्य पदार्थों की पैदावार में वृद्धि होगी।

अब तक मैंने जो कुछ भी देखा है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इस भू-भाग में सैंकड़ों-हजारों छोटे-छोटे झरने हैं, जिनसे पानी लगातार बहता रहता है, इन झरनों के पानी को किसी तालाब या खड्ड में एकत्रित कर वहां से गूल (छोटी नहर) निकाल कर खेतों तक पहुंचाया जा सकता है। ये एक ऐसे छोटे व तत्काल फल देने वाले उद्यम होंगे, जिनका रख-रखाव गांव वाले स्वयं ही कर लेंगे। ग्रामीणों को तो मात्र कुछ पूंजी निवेश और कुछ तकनीकी समझ की आवश्यकता है। इस प्रकार के प्रोत्साहन से वे कम्पोस्ट खाद बनाने के बुद्धियुक्त प्रचार कार्य में भी अपना सहयोग देंगे। यदि इन कार्यों की निष्पत्ति हो जाए, तो गांवों की वर्तमान स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन आ जाएगा।

इन पंक्तियों को लिखते समय (मई 1951) मैं पुनः टिहरी गढ़वाल में हूं। इस बार मैं भिलंगना घाटी में मोटर सड़क से 26 मील दूर और नजदीकी रेलवे स्टेशन से 80 मील दूर हूं। कितना सौभाग्य है?

गेंवली 19.5.1951

स्वर्ग के बीच नरक

यह बरसात के आरंभ का एक शान्त और मेघ रहित प्रभात था। अपने थके हुए शरीर और स्नायुओं को आराम देने और तरो-ताजा करने के लिए अपना नित्य-प्रति का नियमित काम न करके मैं उस एकांत स्थान में निकल गयी, जहां छोटी सी रंभा नदी, गंगाजी के पवित्र जल में मिल जाती है। मैं एक बड़े पत्थर पर बैठ कर चारों ओर देखती, और सुनती रही। आकाश नीला और स्फटिक सा स्वच्छ था। गंगा मेरी बांई ओर बह रही थी और मेरी दाहिनी ओर छोटी रंभा मीठा और मधुर गीत गाती हुई पत्थरों पर नाच रही थी। चारों तरफ विभिन्न प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे थे और बीच-बीच में चांदी-सी चमकती मछली सूर्य के प्रकाश में उछल पड़ती और फिर पानी में आनंद से डुबकी लगाकर गायब हो जाती। पवित्र गंगा के उस पार और ऊपर की ओर देखने पर जंगलों से भरे हुए हरे-भरे पहाड़ों की सुन्दर कतारें दिखाई दे रही थीं और मेरे सिर पर प्रातःकालीन सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ आकाश का विशाल मेघ-रहित वितान तना हुआ था।

यह प्रकृति का दिव्य सत्संग है, जो कभी हमें निराश नहीं करता।

ईश्वर ने संसार को कितना सुन्दर बनाया है, लेकिन मनुष्य ने उसको कैसा बिगाड़ दिया है? और यहां से केवल तीन मील पर पवित्र गंगा के अगले मोड़ पर बसे हुए ऋषिकेश की याद आते ही मैं कांप उठी।

एक समय था, जब ऋषिकेश ऋषियों और उनके शिष्यों का निवास स्थान था। यह उन बुद्धिमान और साधु पुरूषों का भी स्थान था जो ईश्वर के साथ समन्वय साधकर रहते थे और आसपास की प्रकृति की दिव्य शोभा से शक्ति और पवित्रता ग्रहण करते थे। उसी पवित्र स्थान की क्या दुर्दशा हो गयी है देखकर हृदय भर आता है। आज वह अवर्णनीय अपवित्रता का अड्डा बन गया है। भारत के इस सबसे बड़े साधुओं (तथाकथित) के केंद्र में षड्यंत्र, लोभ, वासना, पाप और अपराधों का बोल-बाला है। पशुलोक के एक कार्यकर्ता की पत्नी ने ऋहिकेश के अपने एक वर्ष के निवास काल में वहां जो वीभस्तता देखी, मेरे साथ बातचीत करते हुये प्रसंगवश वह सब कुछ मुझे बहुत ही अनमने मन से बताया। ऋषिकेश के लिये तो वे बातें इतनी आम बन गयी हैं कि लोग उनके बारे में ज्यादा विचार ही नहीं करते। वे केवल इतना ही अपने मन में कह लेते है - "अरे, यह ऋषिकेश है।"

अगर इतना उसने प्रत्यक्ष देखा, तो उन दूसरी बहुत सी बातों की कल्पना की जा सकती है, जो उसने दूसरों से सुनी थीं। इस दिव्य शोभावाले सुन्दर वातावरण में मनुष्य ऐसा भंयकर नरक पैदा कर सकता है सोचा भी नहीं जा सकता। ऐसे दृश्य जिन कामों की ओर इशारा करते हैं, वे साधारण समाज में भी काफी बुरे माने जाते हैं। लेकिन जब साधु ही सांसारिक कार्य कलापों में लिप्त दिखाई देते हैं, तो अनुमान लगाया जा सकता है कि वे ऊंचे स्वर्ग को भी मलिन और दुर्गन्ध पूर्ण बना देगें।

(हरिजन सेवक, 7.4.1951)

लेकिन किसान और मजदूर कहां हैं?

हमारे यहां (भारत में) कांग्रेस है, प्रजा पार्टी है, सोशलिस्ट पार्टी है, कम्युनिष्ट पार्टी है, और दूसरी भी कई पार्टियां हैं। ये सब आम जनता की आवाज का प्रतिनिधित्व करने में एक दूसरे से होड़ लगा रही हैं, लेकिन उनके नेताओं में किसान और मजदूर कहां हैं? इन नेताओं ने हल, झोंपड़ी, पेड़, गाय जैसे चिन्ह या प्रतीक चुने तो हैं लेकिन क्या उनमें से एक भी ऐसा है जो खेतों में हल चलाना जानता है, या झोंपड़ी में रहता है या पेड़ गिरा सकता है, या गाय दुह सकता है? मेरे ख्याल से ऐसा एक भी नहीं है।

हमारा यह तथाकथित लोकतंत्र कितना बड़ा मजाक है!

इन पार्टियों के चुनाव घोषणा पत्रों में क्या ऐसी कोई भी चीज है, जिसकी तुलना बापू के क्रान्तिकारी कार्यक्रमों से की जा सके? जीवन के अन्तिम दिनों में दिल्ली के अपने प्रार्थना-प्रवचनों में बापू ने जो कुछ कहा और जिसे उन्होंने 29 जनवरी, 1948 की शाम को अपने अन्तिम सार्वजनिक भाषण में दृढ़ता से दोहराया, उसे क्या हम भूल गये हैं? 'दिल्ली-डायरी' में दिए गये उनके प्रार्थना-प्रवचनों के संकलन में से नीचे के उद्धरण मनन योग्य हैं -

> हमारे प्रधानमंत्री जवाहरलाल जी विद्वान हैं, इतिहासकार हैं और बड़े लेखक हैं, मगर वे खेती के बारे में क्या समझें? हमारे देश में 80 प्रतिशत से ज्यादा जनता किसान है। सच्चे प्रजातंत्र में हमारे यहां किसानों का राज होना चाहिये। उन्हें बैरिस्टर बनने की जरूरत नहीं। अच्छे किसान बनना, उपज बढ़ाना, जमीन को उर्वरा रखना, यह सब जानना उनका काम होना चाहिये। जब ऐसे योग्य किसान होंगे, तो मैं जवाहरलाल जी से कहूंगा कि आप इनके मंत्री बन जाइये। हमारा किसान-मंत्री महलों में नहीं रहेगा। वह तो मिट्टी के घर में रहेगा। दिनभर खेतों में काम करेगा। तभी वह किसानों का राजा हो सकता है। (ता. 26.11.1947)
>
> • • •
>
> अगर मेरी चले, तो हमारा गवर्नर जनरल किसान होगा, हमारा प्रधानमंत्री किसान होगा, सब कुछ किसान होगा। क्योंकि यहां का राजा किसान है। यह सब मुझे बचपन से सिखाया गया था – एक कविता है -'हे किसान, तू बादशाह है।' किसान जमीन से अन्न पैदा न करे, तो हम क्या खायेंगे? हिन्दुस्तान का सच्चा राजा तो वही है। लेकिन आज हम उसे गुलाम बना कर बैठे हुए है। (ता. 29.1.1948)

अगर योग्य किसानों को मंत्री-मंडल में लेने और प्रधानमंत्री का पद भी देने की हिम्मत किसी पार्टी में हो, तो वह अपने घोषणापत्र में ऐसा जाहिर करे। यह सही दिशा में एक सुन्दर और पहला कदम होगा। उसके बाद कोई मंत्री महलों में नहीं रहेगा, किसी मंत्री और सरकारी अधिकारियों को ऊंचा वेतन नहीं दिया जायगा, बड़े-बड़े खर्चीले व बरबादी भरे सरकारी महकमे नहीं रहेंगे। बापू के शब्दों में "सारी तस्वीर ही तुरंत बदल जायगी।"

काश! बापू की कल्पना का कार्यक्रम अमल में ला सकने वाला कोई बहादुर क्रान्तिकारी इस देश में होता। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई कार्यक्रम, एक समय की इस भव्य और गौरवशाली, किन्तु आज की दुर्दशायुक्त और दुःखी, भूमि में नये प्राणों का संचार नहीं कर सकता।

(हरिजन 29.9.1951 - से अनूदित)

इतना आसान नहीं है

'हरिजन' में अभी हाल ही में 'लेकिन किसान और मजदूर कहां हैं?' शीर्षक से मेरा जो लेख छपा है, उसके फलस्वरूप एक राजनीतिक पार्टी ने मुझसे पूछा है कि क्या मैं आगामी चुनावों में उसकी तरफ से एक सीट के लिये उम्मीदवार बनकर चुनाव लड़ूंगी। बेशक, इससे उसे एक ऐसा प्रतिनिधि मिल जायगा, जो झोंपड़ी में रहता है और गाय दुहना जानता है। लेकिन यह काम उन कामों जितना आसान नहीं है। मैं जन्मजात किसान नहीं हूं। मैंने स्वेच्छा से किसान का जीवन अपनाया है और मेरे जैसे व्यक्ति के लिये धारा सभा का सदस्य या मंत्री बनना बहुत कठिन नहीं है, क्योंकि मेरे पास इतनी बौद्धिक शिक्षा है। लेकिन हमें तो इससे भी कहीं ज्यादा क्रांतिकारी कार्य करके दिखाने हैं। हमें परम्परागत किसानों को मंत्री बनाना होगा, जिन्होंने असंख्य पीढ़ियों से जमीन पर मेहनत की है और उसी के सहारे अपना जीवन निर्वाह किया है। जैसा कि बापू कहते हैं - "इन किसानों को सुशिक्षित होने की जरूरत नहीं बशर्ते उनमें स्वस्थ विवेक हो, वे बहादुर हों, उनकी प्रामाणिकता के बारे में किसी को अंगुली उठाने का मौका न मिले और उनकी देशभक्ति में शंका की गुजांइश न हो।" ऐसे चरित्र वाले लोग किसानों में से हमें ढूढ़ने होंगे – खास करके दूर-दूर के गांवों में, और ये ही वे युगों पुराने अनुभव और समझ वाले सच्चे लोग हैं, जिनके अधीन हमें अपने आपको रख देना होगा। हमें अपने बौद्धिक अभिमान को नम्र बनाना होगा और दुनिया के बोझ को उठाने वाली सहनशक्ति और ज्ञान के सामने अपने सिर झुकाने होंगे। जब मैं धूप से झुलसे हुए और मौसमों की मार खाये हुए किसी किसान को खेतों में काम करते देखती हूं, तब मैं अपने सामने उस शक्ति का प्रत्यक्ष दर्शन करती हूं, जो मनुष्य-जाति का एकमात्र सहारा है। अगर खेतों में हमेशा काम करने वाला, हमेशा फसलों की निगरानी रखने वाला, योजना बनाने वाला और प्रार्थना करने वाला किसान न होता, तो हम सब कहीं के न रह जाते। इसलिये यह सर्वथा उचित है – विशेषकर भारत में जहां प्रजा का बहुत बड़ा भाग गांवों में रहता है। किसान राष्ट्र का मार्गदर्शन करे और बुद्धिमान लोग उसकी सेवा और सहायता करें।

बेशक, इन किसानों के चुनाव में काफी सावधानी और बुद्धिमानी से काम लेना होगा, क्योंकि सभी किसान फरिश्ते नहीं हैं। चालाक और युक्ति-प्रयुक्ति से काम लेने वालों से बचना होगा। इनमें से जो लोग मजदूरों द्वारा खेती कराते हैं और छोटे जमींदारों की तरह बर्ताव करते हैं, उनसे दूर रहना होगा। 'राजनीतिक मनोवृत्ति' रखने वालों से तो निश्चित रूप से बचना होगा। जिन किसानों में बापू के बताये हुए गुण हों, उन्हीं को चुनना चाहिये। और ऐसे लोग अक्सर उन्हीं किसानों में से मिलेंगे, जो एक जोड़ी बैलों के सहारे अपने सारे परिवार के साथ खुद खेती करते हैं। उन्हें यह नहीं सोचना चाहिये कि उनका चयन सफेदपोश भद्रपुरुषों की जाति में बदलने के लिये किया जा रहा है, बल्कि यह सोचना चाहिये कि भद्रपुरुषों को किसानों में बदलने के लिये उन्हें चुना जा रहा है।

एक बार फिर मैं देश की राजनीतिक पार्टियों से अपील करती हूं कि अब वह समय आ गया है, जब उन्हें

मौजूदा असफल और सड़े-गले राजनीतिक तरीकों को छोड़ देना चाहिये और बापू द्वारा बताया हुआ साहस भरा कदम उठाना चाहिये। इसमें कोई शक नहीं कि कांग्रेस को बहुत पहले ही यह कर डालना चाहिये था क्योंकि बापू के मार्गदर्शन में, जिन्होंने कांग्रेस को इतनी महान विजय दिलायी, भारत की आजादी के लिये बरसों तक लड़ने के बाद उसे स्वभावतः यही कदम उठाना चाहिए था। लेकिन जब कांग्रेस के हाथ में पूरी सत्ता आई तब वह सोचने लगी कि वह अपने गुरु (गांधी जी) से अधिक जानती है और इसके जो घातक नतीजे सामने आए, उन्हें हम सब प्रत्यक्ष देख रहे हैं।

(हरिजन 10.11.1951 - से अनूदित)

जब संसद सदस्य हंसे

"नई दिल्ली, बुधवार। भारत बहुत बड़ी संख्या में बंदरों का निर्यात कर रहा है। लोक सभा में आज एक प्रश्न के उत्तर में वाणिज्य उपमंत्री ने बताया कि भारत ने 1951 में 23,257 बंदरों और इस वर्ष 47,185 बंदरों का निर्यात किया। जब एक सदस्य ने पूछा कि क्या कोई अन्य देश इस व्यापार में भारत के मुकाबले पर है, तो सदन में हंसी फूट पड़ी।"

(द हिंदुस्तान टाइम्स, 5.6.1952)

ब्रिटिश शासन के जमाने में भारतीय जनता ऐसे कामों का सख्त विरोध करती थी। आज लोक सभा में इस विषय पर चुटकुले हो रहे हैं और एक भी सदस्य विरोध में नहीं बोलता। मैं सोचती हूं कि यदि इन परिहास प्रिय संसद सदस्यों से यह कहा जाए कि उन्हें वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए विदेश में निर्यात करने का निर्णय ले लिया गया है तो उनके मुख पर किस किस्म की हंसी दिखाई देगी?

(हरिजन 28.6.1952 - से अनूदित)

गायों के लिए भूमि

भूमि, पशु और वनों का एक-दूसरे से इतना गहरा संबंध है कि अगर इनमें से हम एक को छोड़ दें तो शेष दो में बदलाव अवश्य आ जाएगा।

वह समय बड़ी तेजी से पास आता जा रहा है जब भारत की भूमि का पुनर्निर्माण होगा। इसलिए अब यह अनिवार्य हो गया है कि हम सब लोग जो ग्रामीण भारत (और तद्नुसार पूरे भारत) के कल्याण के लिए सक्रिय रूप से काम करना चाहते हैं, आपस में मिलजुल कर विचार-विमर्श करें और इस प्रश्न का एक निश्चित सर्वमान्य हल खोजकर किसी उद्देश्य पर सहमत हों। हमें अपने विचार विमर्श में अनुभवी किसानों और पशु पालकों को भी

बुलाना चाहिए। देखा जाए तो हम इस विषय में अनुभवहीन हैं, दरअसल वे ही लोग जिनका पशुओं और जंगलों से निरंतर सम्पर्क बना हुआ है, जानते हैं कि तथ्य क्या है। लेकिन उन्हें संगठनात्मक सहायता की आवश्यकता है जो हमें उन्हें देनी चाहिए। 'बापू राज पत्रिका' के जून अंक में मैंने स्वयं किसानों से इस विषय पर और इससे मिलते-जुलते पहलुओं पर विचार और सुझाव मांगे हैं।

सुझाव

इस समस्या का हल ढूंढ़ते समय हमें जिन महत्वपूर्ण मुद्दों को ध्यान में रखना है उनका उल्लेख मैं नीचे कर रही हूं—

1. क्योंकि सभी लोगों को देने के लिए पर्याप्त भूमि नहीं है, इसलिए हमें अपनी योजना के एक अंग के रूप में, गांव के उद्योग-धंधों का तेजी से विकास करना होगा। साथ ही हमें यह आशा भी नहीं दिखानी चाहिए कि हर किसान को भूमि मिलेगी ही।

2. खेती के लिए जो जमीन वितरित की जाए, वह कुछ विशेष मामलों को छोड़कर, उन्हीं जमीनों तक सीमित रखी जानी चाहिए जिन पर पहले से ही खेती हो रही है। 'बंजर भूमि' और 'खेती योग्य बंजर' शब्द पूर्णतः भ्रामक हैं, क्योंकि व्यावहारिक तौर पर इस प्रकार की सभी जमीनें मवेशियों के चरने की जमीनें होती हैं। इसलिए आजकल वे (सरकारी अधिकारी) 'अधिक अन्न उगाओ' अभियान के अंतर्गत ऐसी अधिक से अधिक जमीनों को काश्त के अंतर्गत लाने का प्रयास कर रहे हैं जिस से किसानों के मवेशियों को बहुत अधिक नुकसान पहुंच रहा है।

3. ऊपर बताए गए कारण से अब तक चरागाह की जो जमीन काश्त के अंदर ले ली गई थी उसे पुनः गौचर बनाने के प्रयत्न करने होंगे। और वन खण्डों के लिए भी भूमि का प्रावधान करना होगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो मवेशियों और पेड़ों के बिना भारत शीघ्र ही रेगिस्तान बन सकता है, बल्कि ट्रैक्टरों के उपयोग से और कृत्रिम खाद के इस्तेमाल से यह प्रक्रिया और भी जल्दी समीप आ सकती है।

4. आजकल जो यह कुप्रचार किया जा रहा है कि मवेशियों को गौशाला के भीतर ही चारा खिलाया-पिलाया जाना चाहिए, उसे मानना किसान के लिए असंभव है। अधिक से अधिक वह अपनी दूध देने वाली गायों और खेती के काम आने वाले बैलों को ही गोशाला में खिला पिला सकता है। लेकिन बछड़े-बछड़ियां, दूध न देने वाली गायें और बूढ़े मवेशी चरागाह में ही चरेंगे। साथ ही यह भी संभव है कि मवेशियों को चौबीसों घंटे बांधें रखने के कारण वे बीमारी पकड़ने लगें और गायों को भी बछड़ा जनने में कठिनाई हो, जो कि आर्थिक दृष्टि से किसानों के हित में नहीं होगा।

प्रकृति का नियम

5. अगर हम स्थायी रूप से मजबूत कृषि आधारित अर्थ-व्यवस्था चाहते हैं और प्रकृति के नियमों के चक्र को प्राकृत रूप में ही बनाए रखना चाहते हैं तो हमें ट्रेक्टरों, कृत्रिम खाद आदि को अपनाने की बात छोड़ कर, खेती की जुताई के लिए पहले की ही तरह बैलों से ही काम लेना चाहिए। प्रकृति भी इसी पद्धति को अपनाने पर सबसे अच्छा फल देती है। दूसरी ओर खेती की जुताई के लिए बैलों से काम

न लेने पर एक और आर्थिक प्रश्न सामने आएगा, अर्थात या तो हम गायों को पालना बिलकुल छोड़ दें, या फिर पश्चिमी देशों की तरह हम भी बैलों का मांस खाना शुरू कर दें। मैं समझती हूं कि आज के अधिकांश विशेषज्ञ मांस खाना ठीक समझते हैं। मेरा यह भी विचार है कि आजकल के ब्रिटिश कृषि और पशुपालन अधिकारी यह चाहते हैं कि भारत में गौ मांस का सेवन आरम्भ हो जाए ताकि वह उनके पाश्चात्य तौर तरीकों से मेल खाए। परन्तु वे इस पर विचार नहीं करते कि इसका स्थायी फल क्या होगा। इसलिए हमें इस विषय में स्वतंत्र रूप से विचार करना होगा और किसानों और पशु पालकों को अपना सलाहकार बनाना होगा।

6. जब तक सरकारी तंत्र का पूरा समायोजन न हो जाए तब तक भूमि वितरण के काम में अत्यधिक बाधाएं आएंगी और उसके उचित परिणाम नहीं निकल पाएंगे। इसलिए हमें चाहिए कि हम सर्वांगीण परिवर्तन के लिए काम करना प्रारम्भ कर दें।

(हरिजन 16.8.1952 – से अनूदित / यह लेख 11.7.1952 के 'द हिन्दुस्तान टाइम्स' में भी छपा था)

पहनावे के बारे में प्रधान मंत्री का परिपत्र

जब नेहरूजी ने 'कोट, कालर और टाई' वाला भाषण दिया था तो उनकी बात मेरे दिल में बड़ी तेजी से घर कर गई। कारण यह था कि मैं भी उन्हीं दिनों भिलंगना परियोजना से कोट, कालर और टाई की संस्कृति को दूर करने का संघर्ष कर रही थी।

फिर भी मैंने सोचा "केवल कोट, कालर और टाई ही क्यों? कठिनाई तो काफी नीचे पहनी जाने वाली चीज से ही शुरू हो जाती है – वास्तव में यह फीतेबंद जूतों और खास तौर पर पैन्टों से शुरू हो जाती है।" फिर भी मैंने खुद को यह कहकर सांत्वना दी कि पंडितजी ने इन शब्दों का इस्तेमाल लक्षणा के रूप में किया होगा – सचमुच में तो उनका आशय पूरे पहनावे से रहा होगा। लेकिन यह सांत्वना कुछ समय तक ही रह पाई क्योंकि नेहरू जी ने सरकारी कर्मचारियों के लिए एक परिपत्र जारी किया जिसमें सिर्फ कोट, कालर और टाई का ही सीधा विरोध किया गया और शेष को छोड़ दिया गया है, रंग के बारे में भी कुछ सुझाव दिए गए हैं। इसी कारण मुझे अपने विचारों को लिपिबद्ध करने की प्रेरणा मिली है।

फीताबंद जूते

पैंटों और फीताबंद जूतों पर मेरी मूलभूत आपत्ति यह है कि अन्य पहनावों की अपेक्षा इन्हें पहनने वाला व्यक्ति उन लोगों से सहज और बराबरी के ढंग से नहीं मिल पाता जिनका रहन-सहन भारतीय मानकों के अनुसार होता है। पैंट के कारण आदमी फर्श पर आराम से या अच्छे दिखने वाले ढंग से नहीं बैठ पाता, और फीताबंद जूते उस समय समस्या बन जाते हैं, जब किसी घर में घुसने से पहले उन्हें उतारना जरूरी हो।

कुर्सी लाओ साहब

अगर सरकारी कर्मचारी पंडित नेहरू के परिपत्र के अनुसार काम करने लगें तो वस्तुतः इससे एक

सुनिश्चित परिवर्तन आएगा। लेकिन सरकारी कर्मचारी फिर भी साहब ही बने रहेंगे और उन्हें बैठने के लिए कुर्सियों की जरूरत होगी। वे किसी न किसी बहाने जूते पहने ही घर में घुसेंगे। खासकर गांवों में तो यह आचरण सहज और प्रेमपूर्ण एकता के लिए घातक बाधा बन जाएगा। कई बार मैंने वह दृश्य देखा है जब कोई सरकारी कर्मचारी गांव में आता है, तो गांव वाले इधर-उधर भागा-दौड़ी करके चिल्लाते हैं — "कुर्सी लाओ, कुर्सी लाओ, साहब आए हैं।" लेकिन एक सीधे-सादे गांव में कुर्सी कहां? वे भागकर स्कूल से स्कूल मास्टर की कुर्सी उठा लाते हैं। कर्मचारी राजा की तरह उसपर बैठ जाता है और किसान या तो खड़े रहते हैं या उसे घेर कर जमीन पर ही बैठ जाते हैं। यदि कुर्सी के स्थान पर चटाई या दरी होती तो कितना अच्छा रहता। सम्मानित अतिथि के लिए आसन बिछाना तो हमेशा से ही भारतीय संस्कृति की गौरवपूर्ण परंपरा रही है। कुल मिलाकर देखा जाए तो आधुनिक यूरोपीय पैंटों से कोई ऐसा फायदा भी नहीं है। जहां तक मुझे जानकारी है इनका प्रचलन यूरोप में लगभग एक सौ साल पहले हुआ था। इसमें संदेह नहीं कि पुरुषों के लिए जो भी कपड़े बने उसमें सबसे भद्दी पोशाक पैंट ही है। इससे शरीर को मन चाहे ढंग से काम करने में भी दिक्कत होती है — खासकर जिन कामों में झुकना पड़े या जमीन पर बैठना पड़े।

जहां तक फीताबंद जूतों की बात है, भारतीय जलवायु के लिए इससे अधिक अनुपयुक्त वस्तु कोई हो ही नहीं सकती। भारत में अगर ऐसे जूते पहन लिए जाएं जिनमें हवा के आने-जाने की कोई जगह नहीं, तो उनसे बदबू तो आती ही है, साथ ही पैर की अंगुलियों के बीच की जगह सड़ने भी लगती है। मोजे को भी सरकारी पहरावे का आवश्यक अंग माना जाता है लेकिन इससे हालत और भी खराब हो जाती है। मोजों की जरूरत तो उत्तर भारत में अत्यधिक सर्दी के दौरान ही होती है — वह भी नाजुक किस्म के लोगों के लिए। हिमालय में 5000 से 6000 फुट की ऊंचाई पर बसे गांवों में भी कोई किसान मोजे नहीं पहनता — बल्कि मोजे न पहनने से उनके पैर अधिक स्वस्थ रहते हैं।

पंडितजी ने इस बात पर बल दिया है कि पहरावा समय की आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। उन्होंने यह कहा है कि सरकारी कर्मचारियों के लिए यह बहुत जरूरी हो गया है कि वे जनता के साथ विशेष कर गांवों में खूब हिलमिल कर काम करें। इसीलिए मैं कहती हूं कि आज की जरूरतों के अनुसार सरकारी पहरावे का अर्थ यही है कि सिर से पैर तक भारतीय पहरावा ही पहना जाए।

विदेशी प्रतिष्ठा

भारत में पुरुषों के कई किस्म के पहरावे प्रचलित हैं। मेरा विश्वास है कि लोग यूरोपियन कपड़ों को उनकी उपयोगिता के कारण नहीं, बल्कि इस लिए पहनते हैं कि विदेशी ढंग के कपड़े पहनने से उनकी शान बढ़ती है। इन कपड़ों को ब्रिटिश शासन के दौरान उनके अपने अधिकारी पहना करते थे। आजकल इसे पहनना प्रभावकारी माना जाता है। कुछ दिन पहले एक आदमी के बारे में जिसके बारे में मुझे यह बताया गया था कि (आमतौर पर तो वह भारतीय कपड़े ही पहनता था) जब वह रेलगाड़ी में रात को सोने के लिए बर्थ का आरक्षण कराने के लिए जाता था तो जानबूझ कर यूरोपीय ढंग के कपड़े पहन लेता था। भारतीय पहनावे को तुच्छ बनाने वाले यूरोपीय पहनावे की ताकत तभी समाप्त होगी जब सरकारी कर्मचारी स्वयं इसका इस्तेमाल बंद कर दें।

दिल्ली से दूर हिमालय के गांवों में खबरें देर से पहुंचती हैं। लेकिन पंडितजी के पहनावे से संबंधित परिपत्र के बारे में अखबारों की कुछ टिप्पणियां यहां भी पहुंच गई हैं। वे पंडितजी की भावना की सराहना तो करते हैं, लेकिन भारत के गर्म मौसम के कारण वे चिंतित भी हैं। उनकी यह चिंता समझ में आने वाली है और यकीन है कि

पंडितजी भी इस विषय पर पूरी तरह से विचार करेंगे। मैं समझती हूं कि बटनबंद कोट केवल उत्तर भारत के लिए ही ठीक है — और वह भी केवल जाड़ों में।

जनरलों का उदाहरण

गर्मी के मौसम के पहनावे के विषय में मुझे उस सैनिक आदेश की याद आ गई, जो 1946 में लागू हुआ था। हुआ यह कि जब विश्व युद्ध समाप्त हो गया तो उससे पहले जो खेती की जमीन युद्धकालीन शिविरों और हवाई अड्डों के लिए ले ली गई थी उसे किसानों को लौटाने का काम किया जा रहा था। इसी सिलसिले में मैं उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से सैनिक अधिकारियों से बातचीत के लिए गई। सन् 1946 में सेना के सभी बड़े अधिकारी अंग्रेज ही थे। अतः जनरल आकिनलेक ने ही वह आदेश जारी किया होगा। जो भी हो, उस आदेश के अनुसार सारी सेना कमर से ऊपर कुछ भी नहीं पहन रही थी। जब मैं बैरकों में गई तो मैंने देखा कि सभी कमरों में अंग्रेज और भारतीय (सभी औहदों वाले) केवल पैंट पहने हुए थे और 'पद-चिन्ह' न होने के कारण पहचाने नहीं जा रहे थे।

इससे सिद्ध होता है कि अंग्रेज जनरल तक इस बात को बुरा नहीं समझते थे कि ड्यूटी के समय भी परिस्थितिवश ऐसा पहनावा छोड़ दिया जाए जो समय के अनुसार, अनुकूल और सुविधाजनक न हो। भारत में नंगे बदन रहना एक सहज बात है, इसमें पद या हैसियत या प्रतिष्ठा कोई बंधन नहीं है। अतः उत्तर भारत में जाड़े के मौसम को छोड़कर, यह बिलकुल जरूरी नहीं है कि सरकारी कर्मचारी सिर से पांव तक अपने को ढक कर रखें।

(द हिंदुस्तान टाइम्स, 14.2.1954 - से अनूदित)

हिमालय क्षेत्र में पशु-प्रजनन

अच्छी नस्ल के आयातित सांडों की आवश्यकता

यूरोप के ऊंचे पहाड़ों पर दुनिया में मशहूर मवेशी और दुग्ध-उत्पाद पैदा किए जाते हैं। पर भारत के ऊंचे पहाड़ों में मरियल से मवेशी पैदा होते हैं और जो दुग्ध-उत्पाद पैदा किया जाता है, वह है अस्वास्थ्यकर ढंग से बनाया गया भैंस का मक्खन और घी।

पिछले सात वर्षों से मैं लगातार हिमालय क्षेत्र में रह रही हूं। उस हिमालय में नहीं जो सैलानियों को दिखाया जाता है, जिसमें मोटर सड़कें और पहाड़ी सैरगाह हैं, बल्कि उस हिमालय में जिसमें किसान दूरदराज के गांवों में रहते हैं, जहां सीढ़ीनुमा खेत हैं, खड़ी ढाल पर जंगल हैं और नाजुक पगडंडियां हैं। क्योंकि मेरी मुख्य रुचि पशुपालन में है अतः मैंने अपने परिवेश का उस दृष्टि से अध्ययन किया है।

मुझे इसमें संदेह नहीं है कि हिमालय में अच्छी नस्ल के मवेशी और दुग्ध-उत्पाद विकसित किए जा सकते हैं; लेकिन इसके लिए अत्यधिक धैर्य और कड़ी मेहनत की जरूरत है। वह कौन करेगा? सरकार पैसा तो दे सकती है लेकिन वह ऐसे व्यक्तियों को पैदा नहीं कर सकती, जिनमें इस काम के लायक दम-खम हो। आज ऐसे अनुभवी

पशुपालन अधिकारी कहां हैं जो गर्मी के मौसम में गूजरों के साथ ग्यारह हजार से बारह हजार फुट ऊंचे स्थानों पर रहने को तैयार हों, फिर बसंत और शरद में उनके साथ-साथ लम्बी पैदल यात्रा में जाएं और जाड़ों में तराई में जाकर रहें। या उनमें से कौन ऐसा है, जो शहर की सुविधाओं से दूर पांच हजार से छः हजार फुट ऊंचे स्थानों पर वहां की स्थाई आबादी के साथ रहने को तैयार हों या पूरे वर्ष तिब्बत के सीमा प्रदेश में 8000 फुट ऊंचे स्थान पर रहकर याकों और उनके संकर प्रजनन का अध्ययन करने के लिए तैयार हों।

लेकिन यदि हम चाहते हैं कि हम हिमालय में इन तीनों किस्मों के पशु-प्रजनन की सही संभावनाओं को जानें और उनके प्रसव काल की आजकल की कठिनाइयों और बाधाओं की जानकारी हासिल करें तो हमें ऊपर बताए गए ढंग के पशुपालन अधिकारी तैयार करने ही होंगे।

मुझे इसका सु-अवसर तब मिला था जब सन् 1954-57 के बीच मैं कश्मीर में पशु विकास के संबंध में काम कर रही थी। उस समय मैं वहां गूजरों द्वारा याक की संकर नस्ल बनाने के काम को काफी पास से देख पाई थी। लेकिन अब 65 साल की उम्र में मेरे लिए इधर-उधर जाना मुश्किल हो गया है। मुझे अब टिहरी गढ़वाल में ही 6000 फुट पर उनकी स्थायी आबादी के बीच बस कर ही संतोष करना पड़ रहा है।

सबसे प्रमुख आवश्यकता

यहां सबसे पहली और सबसे प्रमुख आवश्यकता यह है कि प्रजनन के लिए अच्छे सांडों को लाया जाए। इस समय जो सांड यहां पर हैं वे अज्ञात नस्ल के हैं और संख्या में भी बहुत कम हैं। कभी-कभी ऐसी गायों का भी पता चलता है जो काफी लंबे समय तक — कभी-कभी तो 2 साल से भी अधिक तक — दूध-सूखी रही हैं, क्योंकि उन्हें गाभिन करने के लिए कोई सांड नहीं मिला था। गाभिन होने और बच्चा जनने के बाद भी वे हर रोज आम तौर पर 5 से 6 पौंड से अधिक दूध नहीं देतीं — बल्कि उससे भी कम देती हैं। इसका अर्थ यह है कि जब किसान गाय से अपने और अपने परिवार के लिए दूध दुह लेता है तो बछड़े के लिए सिर्फ एक-दो पौंड दूध बच जाता है। इससे आने वाली नस्ल अधिक छोटी और कमजोर होती जाती है।

हालांकि सांडों का प्रजनन पहली आवश्यकता है — लेकिन यह कार्य भी अधूरा ही होगा। क्योंकि अगर उनकी नस्ल को आगे भी बनाए रखना है तो उन्हें और उनसे पैदा गाय-बछड़ों को अच्छे ढंग से खिलाया-पिलाया जाना चाहिए। इसके लिए गांव वालों को धैर्य पूर्वक समझाना-बुझाना पड़ेगा और उन्हें इसकी शिक्षा देनी होगी - लेकिन यह भी ध्यान रखना होगा कि उन्हें ऐसे तरीके न बताए जाएं जो उनकी सामर्थ्य से बाहर हों। इसके लिए आवश्यक है कि चारा तैयार करने और चारे की सूखी घास के उत्पादन का काम गांव में ही करने और उस संबंध में प्रयोग करने की अनेक संभावनाओं पर भी काम करना होगा। इस क्षेत्र में और कश्मीर के अपने अनुभव के आधार पर मैं पूरे विश्वास से कह सकती हूं कि इस दिशा में बहुत अधिक सुधार किए जा सकते हैं।

अब सांड का क्या हो? वह किस नस्ल का होना चाहिए। इस बारे में भांति-भांति की रायें दी जाती हैं। लेकिन सरकार की नीति अब निश्चित ही हिमालय के लिए विदेशी नस्लों को लाने की है। मैंने तब भी इसी के पक्ष में कहा था, जब सरकार लाल सिंधी सांडों को अपनाने का प्रयास कर रही थी। इसका कारण स्पष्ट है। भारत की सभी सर्वोत्तम नस्लें गर्म मौसम वाले मैदानी इलाकों की है, और वे इन पहाड़ों की ठंडक बरदाश्त नहीं कर पातीं। अगर हमें खराब नस्ल से प्राप्त मवेशियों की नस्ल को सुधारना है तो हमें एक सुनिर्धारित उत्तम किस्म के सांड की

आवश्यकता होगी जिस पर हमें इस बात का पूरा भरोसा रहे कि यह अपनी ही नस्ल की संतान पैदा करेगा - यह नहीं कि कुछ समय बाद बहुत पुरानी घटिया नस्ल की संतान पैदा होने लगे। वस्तुतः इसके लिए एक अच्छी नस्ल के सांड की जरूरत होगी और ऐसी अच्छी नस्ल का सांड जो ठण्ड सह सके केवल विदेश से ही लाया जा सकता है।

केंद्रीय तथा उत्तर प्रदेश सरकार ने इसी निष्कर्ष पर पहुंचकर टिहरी गढ़वाल में मवेशियों के विकास की विस्तृत योजना बनाई है जिसमें डैक्स्टर और जर्सी नामक उत्तम नस्ल के सांडों का आयात करने की बात भी शामिल है। लेकिन अफसोस है कि अभी तक एक भी सांड का आयात नहीं किया गया है। हालांकि अब दूसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि भी आधी निकल चुकी है, फिर भी हिमालय में अब तक अच्छी नस्ल के केवल डेक्स्टर सांड लाए गए हैं और उन्हें भी कश्मीर में मैं ही लाई थी। इसके अलावा मुझे कोई जानकारी नहीं है। बाद में ये सांड हिमाचल प्रदेश भेज दिए गए और उसके बाद ही मैं अपनी इच्छा से टिहरी गढ़वाल में बस गई।

जब मैं सरकार से इस क्षेत्र के लिए अच्छी नस्ल के विदेशी मवेशी मंगाने की संभावना के बारे में पूछती हूं तो मुझे बताया जाता है कि विदेशी मुद्रा की दिक्कत के कारण इसका आयात बंद कर दिया गया है। यह बड़े दुःख की बात है कि हमारे सीमावर्ती क्षेत्रों के किसानों की बेहतरी और भलाई के लिए इतने महत्वपूर्ण मामलों को छोड़ दिया जाए और मैदानी इलाकों में बड़े-बड़े विशाल पैमाने के जल विद्युत और अन्य अत्यंत खर्चीली परियोजनाओं पर सारा ध्यान दिया जाए। इसीलिए तो हमारी यह दशा हो गई है जिसमें सरकार न केवल इस काम को शुरू करने के लिए सही कर्मचारियों की व्यवस्था करने में असमर्थ है, बल्कि इसके लिए धन की व्यवस्था भी नहीं कर पा रही है।

कोई पूछ सकता है, "अगर सरकार कर्मचारियों की व्यवस्था नहीं कर सकती और धन की व्यवस्था कर भी दे तो क्या फायदा है?" मैं इस बात के विषय में बता रही हूं, लेकिन इससे पहले मैं पशुपालन संबंधी दो अन्य कार्यों का उल्लेख करूंगी, जो हिमालय वासी करते है।

पहले 'गूजरों' को लें। ये वे लोग हैं जो दूध और उसके पदार्थों को व्यापारिक पैमाने पर तैयार करते हैं। लेकिन बजाए इसके कि सरकार इनकी मदद करे, उल्टे इन्हें परेशान किया जाता है। बल्कि आजकल जिस तेजी से घटनाएं घट रही हैं, उसे देखते हुए वे कुछ ही वर्षों में दूध पैदा करने वाले समुदाय के रूप में काम बंद कर देंगे। इसका एक मुख्य कारण तराई में चराई की सुविधाओं का लगातार घटते जाना है। क्योंकि तराई की भूमि को अनेक योजनाओं के लिए सरकार लेती जा रही है। इसमें से अनेक योजनाएं तो उससे भी कहीं कम फायदेमंद हैं जितना गूजर चुपचाप अपना धंधा करते हुए उन्हें दूध आदि दे रहे थे।

चरागाह क्षेत्र

हर साल जब गूजर अपने मवेशियों को लेकर लंबी यात्रा पर निकलते हैं और दस से बारह हजार फीट तक के ऊंचे स्थलों पर पहुंचते हैं तो वहां वे वन-विभाग की मर्जी के गुलाम बन जाते हैं, क्योंकि चराई की सभी जगहों पर इसी विभाग का नियंत्रण रहता है। यहां उन्हें कई तरह से परेशान किया जाता है जिससे बचने के लिए उन्हें सरकारी कर्मचारियों को घी की घूस (रिश्वत) बड़ी मात्रा में देनी पड़ती है। मैंने एक सुदूरवर्ती इलाके के वन विभाग के क्वार्टरों में यह घटना खुद अपनी आंखों से देखी है। वहां इस बात को तय किया जा रहा था कि 12000 फुट ऊंचे उस घास के चरागाह पर चराई का हक है कि नहीं। दोनों ही पक्ष घूस में घी लेना-देना एक आम बात मानते हैं।

फिर इस पशु यात्रा के मार्ग में ऊपर या नीचे आते जाते समय अनेक चुंगियां और अवरोध हैं, और जब भी कोई छोटा कर्मचारी उनसे बात करता है, तो उसे कुछ न कुछ 'दान' (रिश्वत) देना ही पड़ता है।

गूजरों की एक और परेशानी, सड़कों से खतरा भी है, क्योंकि सड़कों पर आजकल असंख्य बसें, कारें, ट्रक आदि दौड़ते रहते हैं और उनके ड्राइवर ध्यान से गाड़ी नहीं चलाते।

अगर सरकार गूजरों को परेशान करने वाले व्यवहार को छोड़कर, उनकी समस्याओं पर विचार करे और ऐसे उपाय सोचे जिनसे उनकी स्थिति में सुधार हो और उनके मवेशी विकसित हों तो दूध की सप्लाई का एक बहुत ही उत्तम स्रोत स्वतः ही प्राप्त हो जाएगा।

इन गूजरों को चारे की घासों, जड़ी-बूटियों और वृक्षों के बारे में असाधारण जानकारी होती है। वे प्रत्येक जड़ी बूटी का नाम जानते हैं और मवेशी पर उसका असर भी बता सकते हैं — इनमें से कुछ से दूध बढ़ जाता है; कुछ से ताकत बढ़ती है (दूध नहीं); कुछ गाभित मवेशियों के लिए हानिकारक होते हैं; और कुछ नए ब्याहे मवेशियों के लिए फायदेमंद होते हैं, आदि-आदि। इसी प्रकार उन्हें इस बात की भी बहुत अधिक जानकारी होती है कि किस जड़ी-बूटी से मवेशी की कौन सी बीमारी ठीक होती है। गूजर राष्ट्र के लिए अमूल्य संपत्ति हैं, पर आज उनके 'जंगली' ज्ञान पर कौन ध्यान देता है।

संकर नस्लें तैयार करना

अंत में मैं एक बहुत रोचक प्रथा के बारे में भी बताना चाहती हूं जो स्थानीय हिमालय क्षेत्र की गाय और याक की संकर नस्लें तैयार करने से संबंधित है और जिसे सभी सीमावर्ती क्षेत्रों में किया जाता है। इन दोनों के संकरण से एक बहुत ही उपयोगी पशु तैयार होता है जिसे इन इलाकों में 'जोभा' और कश्मीर में 'जो' कहते हैं और इनकी मादा को क्रमशः 'जोहिनी' और 'जोया' कहते हैं। इस संकर नस्ल की खास आनुवंशिक विशेषता यह है कि इसकी मादा तो जनन योग्य होती है लेकिन नर बंध्या होता है - जबकि घोड़े और गधी का संकर कराने में सभी खच्चर बंध्या होते हैं चाहे वे नर हों या मादा। इस संकरण में और खास बात यह है कि अगर जोया को फिर याक से गाभित कराया जाए तो संतान अक्सर मर जाती है। इसलिए संकरण करने वाले स्थानीय लोग संतति के लिए एक बार याक से और एक बार सांड से गाभित करवाते हैं। हो सकता है कि संकरण का यह रूप बड़ा अव्यावहारिक लगे लेकिन इसमें अनेक खूबियां भी हैं। पहली खूबी यह है कि संकरण ओज हमेशा के लिए बना रहता है। फिर जो पशु पैदा होता है उनमें असाधारण रूप से अच्छे गुण होते हैं। 'जो' बहुत ही उत्तम किस्म का भारवाही पशु है और हल खींचने के लिए भी बहुत बढ़िया है। 'जोया' भी स्थानीय गाय से ज्यादा तगड़ी होती है और दूध भी ज्यादा और बढ़िया किस्म का देती है।

जब मैं कश्मीर में थी तो मैं पशुओं को देखने कारगिल और द्रास गई जो दस-ग्यारह हजार फुट की ऊंचाई पर स्थित हैं। याक के साथ संकर नस्ल यहीं गावों में तैयार की जाती है। मैंने वहां से एक याक, दो जो और जोया 'गौबल' के अपने मवेशी फार्म में मंगवाए। इस फार्म की ऊंचाई 6000 फुट से अधिक नहीं थी, फिर भी जून के महीने तक ये पशु बिलकुल ठीक-ठाक रहे। इसके बाद मैं उन्हें तथा डेक्स्टरों और स्थानीय पशुओं को लेकर 7000 फुट पर चली गई और फिर जुलाई-अगस्त में 8600 फुट तक ऊपर चली गई। केवल याक को इसके अधिक ऊंचाई की जरूरत थी इसलिए उसे ग्यारह-बारह हजार फुट की ऊंचाई पर भेज दिया गया।

'जो' बड़े उपयोगी और मजबूत जानवर सिद्ध हुए। वे हल के लिए स्थानीय बैलों की तुलना में अधिक मजबूत और तेज थे, और जब खेतों में काम नहीं होता था तो वे बोझा ढोने का काम करते थे। जिन जोया को मैंने अपने डैक्स्टर सांड से गाभित करवाया था उनके बारे में मैं अच्छे परिणाम की आशा कर रही थी। लेकिन मेरे कश्मीर छोड़ने के बाद मुझे कोई जानकारी नहीं मिली कि बछड़े कैसे हुए। दरअसल इस किस्म का प्रयोग किसानों के लिए भले ही उपयोगी हो, सरकार को भी वह अच्छा लगे, जरूरी नहीं है। अगर संकर प्रजनन ध्यान से और सोच समझ कर किया जाए तो बहुत ही गुण वाले मजबूत नर पशु प्राप्त किए जा सकते हैं, माताएं भी उतनी ही मजबूत और गुणवाली प्राप्त की जा सकती हैं जो अच्छे किस्म का दस-बारह पौंड दूध दे सकें। यदि प्रजनन का कार्य और उसकी व्यवस्था विशिष्ट जानकारी वाले व्यक्तियों से कराई जाए तो और भी अधिक दूध प्राप्त हो सकता है।

विकट समस्या

एक विकट समस्या यह है कि हिमालय क्षेत्र में मवेशी-विकास का काम कैसे किया जाए। मैं बता चुकी हूं कि यह काम सरकारी कर्मचारियों के बस का नहीं है। एक तो वे सुदूरवर्ती जगहों में कठिनाई की जिन्दगी बिताना नहीं चाहते, दूसरे वे इसलिए भी दीर्घकालीन प्रजनन नीति पर अमल नहीं कर सकते क्योंकि वे एक ऐसे शासन-तंत्र में बंधे हैं जिसमें पदोन्नति और तबादला ही सब कुछ है। फिर अगर किसी कर्मचारी को किसी खास जगह में ही लगातार तैनात रखने की विशेष व्यवस्था भी कर दी जाए, तो पता नहीं कोई मंत्री या वरिष्ठ अधिकारी कब हस्तक्षेप कर बैठे। यह भी हो सकता है कि किसी भी समय एक सुनिर्धारित प्रजनन नीति को अचानक बदल दिया जाए और अब तक का किया गया सब अकारथ चला जाए। जो लोग पशु-प्रजनन के बारे में कुछ नहीं जानते उन्हें इतना समझ लेना चाहिए कि पशु-प्रजनन की एक दिशा सुनिश्चित करने में लगभग छह वर्ष लग जाते हैं और स्थायित्व और ठोस उपलब्धि में लगभग बीस वर्ष।

इंगलैण्ड में जो भी प्रतिष्ठित नामी पशु-प्रजनन कर्ता हैं वे सभी पीढ़ियों से गैर-सरकारी लोग रहे हैं जिन्होंने धीरे-धीरे मवेशियों की विश्व विख्यात नस्लों के यूथ (झुंड) विकसित किए। पूरे पश्चिम में पशु-प्रजनन इसी प्रकार संगठित ढंग से किया जाता है लेकिन यहां भारत में हमारा पिछड़ापन शोचनीय है।

व्यावहारिक परिणाम

तो फिर क्या किया जाए, दरअसल यह एक कठिन समस्या है। हिमालय क्षेत्र के लिए जो एक मात्र उपाय मुझे व्यावहारिक दृष्टि से फलदायी दिखाई देता है वह यह है कि एक ऐसे आदमी की तलाश की जाए (वह पश्चिम से हो तो ज्यादा अच्छा रहेगा) जिसे पशु-प्रजनन और पोषण का अनुभव हो, चारे की फसलों और घासों की खास जानकारी हो और जो हिमालय में आने के लिए तैयार हो। इस प्रकार की सर्वांगीण योग्यता वाले व्यक्तियों का मिलना पश्चिम में कोई असामान्य बात नहीं है। क्योंकि जब गैर-सरकारी व्यक्ति पशु-प्रजनन जैसा कोई धंधा करते हैं तो उनके लिए अनिवार्य हो जाता है कि वे पूरे विषय को पक्का समझ लें और उससे संबंधित सभी समस्याओं की भी पूरी जानकारी कर लें — जबकि सरकारी केंद्रों में तो इस विषय के लिए एक विशेषज्ञ और उस विषय के लिए दूसरे विशेषज्ञ पर निर्भर रहना पड़ता है। क्योंकि अलग-अलग विशेषज्ञ उस पूरे विषय के संदर्भ में अपने-अपने विषय का समन्वित प्रयोग कार्य-स्थल में करना बहुत ही कम जानते हैं।

ऐसा व्यक्ति जब मिल जाए तो उसे सबसे पहले हिमालय में पशुपालन के उन तीन कार्यकलापों का अध्ययन करना चाहिए, जिनके बारे में मैंने ऊपर बताया है। फिर उसे एक इलाका पसंद करके उसमें जम जाना चाहिए और उन तरीकों की प्रयोग द्वारा जांच करनी चाहिए, जिन्हें वह सबसे उपयोगी समझे। उसे इन तरीकों का प्रदर्शन स्थानीय जनता के सामने करना चाहिए। अगर कुछ ऐसे व्यक्ति मिल जाएं जो उसके फार्म में काम करते हुए सीखना चाहें तो जब भी वे मिलें उनमें से कुछ को ठीक से चुनकर प्रशिक्षण देना चाहिए। सरकार इसमें केवल यह भूमिका निभाए कि एक वार्षिक अनुदान निर्धारित कर दे और उससे एक लिखित करार कर ले, जिसमें यह उल्लेख हो कि मोटे तौर पर अनुदान की रकम किन उद्देश्यों पर खर्च की जाएगी - लेकिन इस करारनामे में प्रजनन के तरीके, नीति आदि के बारे में कोई वर्णन नहीं होना चाहिए। इन बातों के लिए उस व्यक्ति को व्यक्तिगत निर्णय की छूट दे देनी चाहिए।

मेरी दृष्टि से तो उद्देश्यों की मोटी रूपरेखा कुछ-कुछ इस प्रकार होनी चाहिए : हिमालय में पशु-प्रजनन में लगे हिमालय के विभिन्न समुदायों को प्रदर्शन द्वारा यह सिद्ध करना कि अच्छी नस्लों के क्या लाभ हैं, अच्छा प्रबंध क्या है तथा चारे और चारा-घास का बेहतर उत्पादन कैसे हो सकता है। इसके साथ ही सरकार को हर साल काम की रिर्पोट भेजनी चाहिए, जिसमें यह बताया जाए कि जो अनुभव प्राप्त हुआ उसका क्या उपयोग होगा और यह सुझाव दिया जाए कि सरकार अपने विभिन्न विभागों — वन, पशुपालन, कृषि, राजस्व आदि के जरिए इसमें क्या सहायता कर सकती है।

इस परियोजना को लालफीताशाही से भरसक अलग रखने के लिए यह आवश्यक है कि इसे किसी विशेष अनुबंध के जरिए (जैसे 'कोलंबो योजना' या कोई और विदेशी सहायता कार्यक्रम) कार्यान्वित न किया जाए बल्कि इसके लिए धन की व्यवस्था केंद्रीय सरकार 'सहायता अनुदान' देकर करे। हम सही दिशा में कोई भी शुरूआत तभी कर सकेंगे, जब सरकार कार्यक्रम को लालफीते में न फंसने दे।

(सण्डे स्टेट्समैन 2.3.1958 - से अनूदित)

हिमालय में विकास कार्य*

मैं नहीं जानती कि आजकल हिमालय क्षेत्र में जो विकास कार्य हो रहे हैं वह किस दृष्टि से किये जा रहे हैं। इसलिए इस विषय पर अधिक कहने में मुझे संकोच हो रहा है। अतः मैं केवल उन्हीं बातों के बारे में संक्षेप में बताऊंगी जिन पर मेरे विचार से तत्काल ध्यान दिया जाना चाहिए।

छोटी सिंचाई योजनाएं

हिमालय के अनेक क्षेत्रों में पानी की कमी के कारण वहां के लोगों को कितनी कठिनाई होती है इसे मैदानी भाग में रहने वाले लोग सोच भी नहीं सकते। पीने तक का पानी कठिनता से मिलता है। फिर भी इस विषय में गांवों

---

*दिल्ली स्कूल आफ सोशल वर्क, दिल्ली विश्वविद्यालय में 21 से 24 दिसंबर 1967 के दौरान हिमालय सेवा संघ तथा इसी स्कूल के संयुक्त तत्वावधान में आयोजित संगोष्ठी के लिए लिखित।

के लोगों की मदद के लिए बहुत कुछ किया जा सकता था और इसे बहुत पहले ही कर लिया जाना चाहिए था ताकि वे छोटे-छोटे सोतों और जलधाराओं का पता लगा कर उस पानी को खेतों और गांवों में ला सकें। पहाड़ों की ढलानों पर अक्सर जो पानी बाहर निकलता है वह कुछ गज नीचे बहकर फिर पहाड़ में ही लुप्त हो जाता है। हम भिलंगना घाटी में 'गोपाल आश्रम' के लिए जिस स्रोत से पानी लाए थे वह भी ऐसा ही था। ऐसे सोतों के जल और साथ ही छोटी जलधाराओं के पानी को जलाशयों में इकट्ठा करना चाहिए ताकि उसका अधिक उपयोग हो सके। बड़ी धाराओं का भी पूरा उपयोग नहीं किया जाता। जहां तक हो सके यह काम सीमेंट के प्रयोग के बिना करना चाहिए, क्योंकि परिवर्तन के कारण सीमेंट बहुत मंहगा बैठता है और इसमें धोखाधड़ी बहुत होती है। सीमेंट के आविष्कार के पहले भी तो पानी की नालियां बनाई जाती थीं। गांव वाले पत्थर और मिट्टी गारे से पुराने ढंग की नालियां बनाने में निपुण होते हैं। जहां पानी की मात्रा बहुत ही कम हो वहां तो पेड़ के तने को खोखला करके बढ़िया नाली बन जाती है। गांव वालों के सामूहिक प्रयास में यदि 'पिता' की तरह कोई मार्गदर्शन कर दे और इस काम के लिए अत्यधिक आवश्यक थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता भी कर दे, साथ ही एक अच्छा मिस्त्री मिल जाए और इधर-उधर लगाने के लिए थोड़ा सा सीमेंट मिल जाए तो काफी है। सीमेंट से निर्माण करने पर एक कमी यह रह जाती है कि कोई भी टूट-फूट होने पर उसे फिर सीमेंट से ही जोड़ा जा सकता है, और सीमेंट का काम एक बार पूरा हो जाने पर दूर पहाड़ों में उसे फिर मंगवाना बहुत कठिन है। मैंने देखा है कि कुछ ही साल पहले बनाई गई सीमेंट की नालियां टूटी-फूटी और बेकार हुई मिलीं, जबकि पुराने किस्म की नालियां सुरक्षित हैं क्योंकि गांव वाले आस-पास पड़ी सामग्री से उसे हमेशा ही ठीक करते रहते है।

वनों का संरक्षण

देखा जाए तो इस विषय पर सबसे पहले ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि अगर वन नहीं होंगे तो पहाड़, मिट्टी और चट्टानों के गिर जाने और पानी के स्रोतों के समाप्त हो जाने से ऊंची चट्टानों के ढेर मात्र रह जाएगें। दरअसल यह त्रासदी उस समय भी काफी आगे तक बढ़ गई थी जब कि मैं गढ़वाल हिमालय में ही थी। जब हम गढ़वाल हिमालय के जंगलों की बात करते हैं तो पता चलता है कि पहले गढ़वाल में बांज के वृक्षों की भरमार थी। पहाड़ों के चारों ओर नजर डालने पर स्वयं ज्ञात होता है कि जिन ढलानों पर इस समय छोटे झाड़ों को छोड़कर अब कुछ भी नहीं दिखाई देता, वहां किसी समय बांज, बुरांस और अन्य चौड़े पत्ते वाले वृक्षों के जंगल थे। उस समय का जो चित्र उपस्थित होता है उसमें बांज के सुंदर वन, चरागाह, उपजाऊ खेत, मवेशियों की भरमार और दूध की प्रमुखता दिखाई देती है। आज स्थिति बिलकुल विपरीत है। स्पष्ट है कि इस क्षेत्र का यह बढ़ता हुआ विनाश इन विशाल जंगलों के विलुप्त हो जाने से हुआ है। साथ ही ऐसा भी प्रतीत होता है कि आजकल गंगा के पानी से मैदानी इलाकों में जो विनाशकारी बाढ़ आती रहती है उसका कारण भी यही है। वस्तुतः व्यक्ति इस पर विश्वास करने के लिए विवश हो जाता है कि यदि गंगा के हिमालयी जल ग्रहण क्षेत्र में वन उगाने का काम नए सिरे से शुरू न किया गया तो गंगा के मैदानी क्षेत्र में नदी परियोजनाओं पर चाहे कितना भी धन खर्च किया जाए उससे इस बाढ़ रूपी समस्या का समाधान कभी नहीं होगा।

मवेशियों को सुधारना

हिमालय क्षेत्र में मवेशियों की समस्या दो अलग-अलग किस्म की है — गांव में रहने वालों की मवेशी समस्या, और दूसरे बनजारे ग्वालों (गूजरों) की समस्या। इन दोनों के लिए ही अच्छे प्रजनक सांडों की जरूरत है।

लेकिन गांवों के मामले में इन सांडों के लिए चारा जुटाना बड़ा कठिन होता है। मैं समझती हूं कि जो सांड गांव की मादा मवेशियों को गाभित बनाने के लिए लाए जाएं उनके लिए सरकार को आर्थिक सहायता देनी चाहिए और उनकी देख-रेख के लिए भी किसी जानकार की व्यवस्था आवश्यक होगी। बनजारा ग्वालों को चारा जुटाने में इतनी अधिक कठिनाई नहीं होती है क्योंकि वे बसंत के समय तराई के जंगलों से ऊपर चलना शुरू करके, रास्तों में सर्वोत्तम चारे का भोजन कराते हुए सबसे ऊंचे चराई के स्थानों तक पहुंच जाते हैं। लेकिन तराई के विकास के साथ-साथ इन बेशकीमती जंगलों को नौ साल पहले से ही नष्ट किया जा रहा है और इन लोगों के मवेशियों के लिए जाड़े के मौसम में चारे की समस्या हर वर्ष अधिक विकट रूप धारण करती जा रही है। इस समस्या का हमें समय रहते समाधान खोजना है क्योंकि इसका घातक प्रभाव उन सब पशु पालकों पर पड़ रहा है जो हर साल तिब्बत की सीमा तक पहुंच जाते थे। कहने की जरूरत नहीं है कि सीमांत क्षेत्रों के लिए बढ़िया नस्ल के सांड उन नस्लों में से चुने जाने चाहिएं जिन्हें पहाड़ पर रहने की आदत हो जैसे 'स्विस ब्राउन' नस्ल। गायों की संकर नस्ल याक से प्राप्त करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि इससे जो संतान पैदा होती है (नर 'जो', मादा 'जोया') उसे सीमा क्षेत्रों के लोग बहुत उपयोगी मानते हैं।

संकर प्रजनन एक विशिष्ट कला है। उचित अध्ययन के बिना और स्थानीय निवासियों से विचार-विमर्श किए बिना संकर-प्रजनन की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। स्थानीय निवासी अपने अनुभव के आधार पर इसकी विधि जानते हैं। इसमें गड़बड़ी इसलिए हो सकती है कि 'जो' बधिया होता है और 'जोया' भी जनन-क्षय होती है लेकिन उसकी संतान का फिर याक से संकर-प्रजनन नहीं कराया जाना चाहिए अन्यथा वह कमजोर होगी। इसे फिर सांड से गाभित कराना चाहिए और उसके बाद तीसरी पीढ़ी में याक का इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसा करना बहुत ही उपयोगी होगा क्योंकि यह विधि सीमा क्षेत्र के लोगों में पहले से ही लोकप्रिय है।

ग्राम उद्योग

इस पर भी दो प्रकार के समुदाय के लोगों की परिस्थिति के अनुरूप कार्य किया जाना चाहिए। एक तो गांवों में रहने वाला साधारण समुदाय और दूसरा भोटिया आदि बनजारा समुदाय। गांवों में कताई और बुनाई स्थानीय ऊन के हिसाब से ही होती है। लेकिन भोटिया लोग 'घुमन्तू ऊन फैक्टरी' माने जा सकते हैं। उनकी पूरी जिन्दगी भेड़-बकरियों के बीच होती है। वे चाहे तिब्बत सीमा क्षेत्र में हों या तराई के जंगलों में, वे ऊन और बालों से कपड़ा बुनते रहते हैं। वे कई किस्म का बढ़िया ऊनी कपड़ा बनाते हैं जो अपनी प्राकृतिक सुंदरता और गर्मी की दृष्टि से बहुमूल्य होता है और आजकल इसका मिलना भी दुर्लभ हो गया है। अगर इसे इसी प्राकृतिक अवस्था में असंसाधित रूप में बनाकर, जिसमें कच्ची ऊन की गेंध भी हो, लंदन की 'बांड स्ट्रीट' में बेचा जाए तो स्काटलैंड की 'ट्वीड' की तरह धड़ाधड़ बिक जाएगी। हां, दो चीजें जो इन लोगों के लिए बहुत उपयोगी रहेंगी और इससे उनकी कला में बिगाड़ भी नहीं आएगा वे हैं धुनाई की कंघियां और ऊन कातने का चर्खा। जिस समय मैंने हिमालय छोड़ा उस समय ये दोनों चीजें इन लोगों के लिए बहुत मंहगी थीं। अतः वे इनका उपयोग नहीं कर पा रहे थे।

सड़क बनाना

यहां सड़कें सैनिक आवश्यकता के कारण बनाई जा रही हैं। लेकिन क्या यही हिमालय-क्षेत्र को रक्षापंक्ति के रूप में खड़ा करने का सर्वोत्तम तरीका है? अगर किसी विशाल पहाड़ी क्षेत्र के किसान संतुष्ट हों और वहां खच्चरों

की संकरी पगडंडियों को छोड़कर कोई और आवागमन के आदान-प्रदान की व्यवस्था न हो, तो संभवतः मोटर चलाने योग्य सड़कों की भरमार की बजाए (विदेशी) आक्रामकों के लिए वह अधिक बाधक सिद्ध होंगी। जब किसी पहाड़ी क्षेत्र में मोटर की सड़कें बन जायें तो असुरक्षित हो जाने के साथ-साथ वह पतन की ओर भी अग्रसर हो जाता है। जिन लोगों को अपने स्वार्थ की सिद्धि से मतलब है वे कहेंगे कि पहाड़ी लोगों के विकास के लिए सबसे बड़ी जरूरत मोटर योग्य सड़कों की है। इनके लिए तो 'पहाड़ी जनता' का अर्थ होता है ठेकेदार, दुकानदार, फल के बगीचों के मालिक आदि और हां-सरकारी कर्मचारी, जिन्हें सड़कों पर पैदल चलने या घोड़े पर बैठकर जाने के बजाए जीपों में घूमने का अधिक शौक होता है, वे ही सड़कों के पक्षधर हैं। सड़कें बनाने में जो बेहिसाब धन खर्च किया जाता है उसका लाभ इन छोटे-छोटे गांवों में रहने वाले निरीह लोगों के लिए नगण्य ही होता है। फिर जिन लोगों के खेतों को काटकर ये सड़कें बनाई जाती हैं उन्हें भारी नुकसान होना तो स्वाभाविक है ही, ठेकेदारों से यह भी नहीं कहा जाता कि वे सड़क बनाने के कारण खिसके हुए पत्थरों और रोड़ी-मलबे को नियंत्रित करें — इसलिए वह उनको बेतरतीव किनारे-किनारे नीचे की तरफ गिरा देते हैं जिससे काफी दूर तक के सीढ़ीनुमा खेतों को गंभीर रूप से क्षति पहुंचती है। इस क्षति के लिए जो हर्जाना मिलता है वह आम तौर पर अपर्याप्त होता है और इन सबसे उन लोगों में, जिनसे सरकार इस इलाके की रक्षा कराना चाहती है, असंतोष फैल जाता है। अगर कोई आक्रामक आक्रमण कर ही दे तो सबसे पहले ये ठेकेदार, दुकानदार आदि ही भाग खड़े होंगे। जिन्हें इन सड़कों से सबसे ज्यादा फायदा हुआ है।

ऊपर मैंने वे ही बातें बताई हैं जिनसे मैं थोड़ा बहुत परिचित हूं।

आत्मा का विकास

मेरी दृष्टि में पुनर्जन्म, अस्तित्व को परिप्रेक्ष्य में लाता है और इसे एक महान वास्तविकता प्रदान करते हैं — भूत, वर्तमान, भविष्य।

हमें पिछले जन्म की याद नहीं रहती, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दुर्घटना आदि से भी तो मूर्च्छित हो जाने की अवधि के बाद व्यक्ति की स्मृति पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। वैसे, हमें अपने अतीत के बारे में ही कितनी स्मृति रह पाती है? गत वर्ष जो कुछ हुआ, उसे पूरी तरह से याद करके देखिये। काफी कुछ याद नहीं आयेगा। केवल छुटपुट तौर पर कुछेक बातें याद आयेंगी। विगत कल की स्मृति भी संपूर्ण नहीं रहती है। पुनर्जन्म में विश्वास का अर्थ यह नहीं है कि अस्तित्व की निरंतरता का एहसास भी हो और बीती हुई कुछेक घटनाएं भी याद आएं।

व्यक्ति के जन्म-जन्म के विकास को ध्यान में रखें तो उसकी विभिन्न अवस्थाओं के विस्तार की बात समझ में आ जाती है। तब यह दुविधा सामने आती है कि विभिन्न स्तर के लोग जो अलग-अलग समय में मरे, उन्हें जीवन-विकास का केवल एक ही अवसर क्यों मिला? हमें इस विचार को मानना होगा कि पुनर्जन्म सबकी प्रतीक्षा कर रहा है और दूसरे जन्म में अधिक उन्नत अस्तित्व को पाना या वैविध्यपूर्ण जन्म-कक्ष में आ पड़ना हम में से प्रत्येक की अपनी मुट्ठी में है। जब अटूट अस्तित्व की धारणा मन में समा जाए तो इससे कुछ अच्छा कर गुजरने को असीम प्रोत्साहन मिलता है और इन सत्य-प्रयासों के माध्यम से व्यक्ति में दृढ़ विश्वास का संचार होता है।

अब तक तो केवल इसी पृथ्वी पर जीवन के प्रमाण मिले हैं। लेकिन विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी के वायुमण्डल के समान ही अन्य ग्रहपुंज भी हो सकते हैं, जो भूमण्डल से परे अंतरिक्ष में घूम रहे हों।

यदि ऐसा है, तो ऐसा कोई कारण नहीं है जिसके रहते कहा जा सके कि वहां पर मानव जाति का निवास नहीं होगा। हम ऐसा क्यों सोचें कि अस्तित्व में केवल हमी लोग हैं और पुनर्जन्म का अर्थ बारम्बार इसी नन्हें से ग्रह पर जन्म लेना है?

हम अनन्त विश्व के निवासी हैं। हमें अपने क्षितिज को तब तक विस्तृत रखना चाहिए, जब तक कि हम विराट में और परमेश्वर की सत्ता में, जो इसमें परिव्याप्त है, स्वयं को समाहित नहीं कर लेते।

चारों ओर परिव्याप्त गगन का यह विस्तार ही ऐसा नहीं है जो इस चिन्तन को जन्म देता है। अनेक बार, गर्मी के दिनों में मैं घास के मैदान पर झुक जाती हूं और देखती हूं, घास के बीच छोटे-छोटे जीवों का एक विश्व वर्तमान है। प्रत्येक जीव रंग-रूप में सम्पूर्ण है और अपने जीवन की आवश्यकता पूरी करने में तल्लीन है। ऐसे क्षणों में, मुझ में सृष्टि की एकरूपता का बोध जागता है, जो नन्हें जीवों से लेकर महाशून्य के महत नक्षत्रों तक में व्याप्त है।

हम सब एक ही परिवार के सदस्य हैं, जिन पर प्रभु की असीम कृपा है।

(मूल - 'ऐवोल्यूशन आफ दि स्प्रिट्स' - हिमालय : मैन एण्ड नेचर के लिए लिखा गया, 24.9.1973 का लेख)

ओक (बांज) के विलुप्त वन

हिमालय के सभी क्षेत्रों में गढ़वाल (टिहरी और पौड़ी गढ़वाल) सम्भवतः सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि गंगा नदी के जल की विशाल ग्रहण घाटी इसी में स्थित है। साथ ही गढ़वाल क्षेत्र सबसे अधिक पवित्र भी है। केदारनाथ और बदरीनाथ के प्रसिद्ध मंदिर इसी हिम-मंडित पर्वत श्रृंखला में हैं। यहीं से भागीरथी, भिलंगना और अलकनंदा निकलती है, जो देवप्रयाग में मिलकर गंगा का नाम धारण कर लेती हैं। लक्ष्मणझूला के नीचे यही नदी बहती है।

हर कोई यह समझता होगा कि ऐसे क्षेत्र को तो स्वतंत्र भारत के गौरव-स्थल के रूप में संजोया गया होगा। लेकिन खेद और महाखेद! यह सबसे अधिक उपेक्षित क्षेत्र है।

मैं टिहरी गढ़वाल में चार वर्ष तक रही — पहले भिलगंना घाटी में, जो टिहरी से 25 मील ऊपर है और फिर चम्बा में। इस समय के दौरान मैं अपने चारों ओर के परिवेश का अध्ययन करती रही और वहां के स्थायी निवासियों से चर्चा करती रही। इसका मुझ पर जो प्रभाव पड़ा वह क्षुब्ध करने वाला है। गांव के आस-पास के जंगलों के बारे में गांव के बड़े-बूढ़ों से बात करने पर यह जानकारी मिलती थी कि किसी समय टिहरी गढ़वाल में बांज के घने जंगल थे। पहाड़ों को ध्यान से देखने पर भी यह पता चल जाता है कि जिन ढालों पर अब केवल छोटी-छोटी झाड़ियां हैं, उन पर किसी बांज, बुरांस और चौड़ी पत्तियों वाले अन्य जाति के वृक्षों के घने जंगल रहे होंगे। यही नहीं, 5000 फुट की ऊंचाई पर चीड़-देवदार के घने जंगल उन पहाड़ों पर भी उग गए हैं, जिन पर पहले

बांज के जंगल थे। गढ़वाली गीतों में, जो संवेदना की गहराई और अभिव्यजंना की सशक्तता दृष्टि गोचर होती है उनमें स्मरणीय यह है कि बांज और बुरांस के वृक्षों के प्रति अनन्य प्रेम प्रदर्शित किया गया है। उन गीतों में मवेशियों का वर्णन है और दूध की बहुतायत का भी। परन्तु आज स्थिति इससे बिलकुल विपरीत है।

यह स्पष्ट दिखाई देता है कि इस क्षेत्र के क्रमिक ह्रास का कारण इन बांज के वृक्षों के विशाल जंगलों का लुप्त हो जाना ही है। साथ ही, ऐसा भी लगता है कि आजकल मैदानी इलाकों में गंगा की विनाशकारी बाढ़ का सबसे बड़ा कारण इन वनों का लुप्त होना ही है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने पर विवश हो जाता है कि अगर गंगा के हिमालय स्थित जल ग्रहण क्षेत्र में बांज के जंगल फिर से लगाने का काम न किया गया तो इस समस्या का कोई समाधान संभव नहीं होगा - भले ही गंगा के मैदानी इलाके में नदी परियोजनाओं पर कितना ही धन क्यों न खर्च किया जाए।

लेकिन बांज के जंगल चीड़-देवदार के उन जंगलों की तुलना में श्रेष्ठ क्यों माने जाते है जिन्होंने सर्वत्र बांज के जंगलों का स्थान घेर लिया है?

बांज के जंगलों में पत्तियों का एक चंदोवा सा बन जाता है और बांज वृक्षों के नीचे झाड़ियां और घास बहुत अधिक परिमाण में उग जाती हैं, जिससे वर्षा का पानी सीधे धरती पर नहीं गिर पाता। दूसरी ओर चीड़-देवदार के जंगलों में पेड़ों के ऊपर न तो चंदोवा सा आवरण होता है और वृक्षों के नीचे झाड़ी-घास भी नहीं उगती, जिससे पहाड़ की वह ढलान, जिसकी मिट्टी पहले से ही नीचे की ओर खिसकती रहती है, वर्षा की ताकत को झेलने के लिए अरक्षित हो जाती है। पाठक देख तो नहीं सकते लेकिन बखूबी समझ सकते हैं कि बांज के जंगल की मिट्टी और पत्ते की खाद बहुत समृद्ध होती है और उसकी जल सोखने की क्षमता काफी अधिक होती है, जबकि चीड़-देवदार के जंगल की मिट्टी क्षरण के कारण घटिया किस्म की हो जाती है — कही कहीं तो उसमें पथरीले कंकड़ और चट्टानें ही रह जाती हैं।

स्पष्ट है कि जहां बांज की जगह चीड़-देवदार उग आए हैं वहां पहाड़ों की ढलानों पर भूमि का क्षरण बहुत अधिक बढ़ गया है और बाढ़ का पानी अवरोधों के अभाव के कारण सीधे घाटियों में पहुंच जाता है।

आर.ओ. व्हाइट और जी.वी. जैक्स ने अपनी पुस्तक 'द रेप आफ अर्थ' में (जो कि भूमि के क्षरण के विषय पर सर्वांगीण अंतर्राष्ट्रीय सर्वेक्षण है) नदियों के पर्वत स्थित ग्रहण-क्षेत्रों की मिट्टी के संरक्षण की महत्ता पर बहुत बल दिया है। लेखक द्वय का कथन है कि - "बाढ़ पर अंतिम रूप से स्थायी नियंत्रण उन्हीं जंगलों और क्षेत्रों में हो सकता है जहां बाढ़ का पानी पैदा होता है" (पृ० 120)। वे इस बात पर भी बल देते हैं कि - "पहाड़ों से आने वाली बाढ़ के अधिकतम खर्च वाले निर्माण कार्य भी वास्तविक जंगलों की तुलना में पूर्णतः अक्षम होते हैं" (पृ० 31)। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी क्षेत्र की अपनी प्राकृतिक नैसर्गिक वनस्पति ही प्रायः भूमि संरक्षण के लिए सबसे अधिक उपयुक्त रहती है — "क्षेत्र विशेष के अपने पौधों की छाजन का प्रायः अपनी मिट्टी या भूमि से ऐसा संबंध रहता है कि पेड़-पौधे और मिट्टी दोनों आपस में मिलकर एक प्राकृतिक क्षरण-हीन तंत्र बन जाते हैं। इस बात पर आराम से भरोसा किया जा सकता है कि किसी क्षेत्र विशेष के जंगली पेड़-पौधे किसी मानवीय सहायता के बिना ही अपने प्राकृतिक परिवेश में खुद-ब-खुद उगते-बढ़ते रहेंगे। इसीलिए उन्हें भूमि संरक्षण की दृष्टि से आदर्श माना जा सकता है"(पृ० 131)। इससे स्पष्ट हो गया होगा कि चीड़-देवदार की तुलना में भूमि संरक्षण के लिए बांज ही कहीं अधिक उपयुक्त था। चीड़-देवदार तो बांज के वृक्षों के क्रमशः लुप्त होने के साथ-साथ

ही कम ऊंचाई वाले अपने स्थलों से ऊपर आए।

एक और महत्वपूर्ण बात जिस पर ये विशेषज्ञ विशेष बल देते हैं, यह है कि —"वन-हीन और क्षरण वाले पहाड़ों के कारण सिंचाई और जल-विद्युत की बड़ी-बड़ी योजनाओं के लिए पानी की पूर्ति बड़ी विकट और अनियमित हो जाती है।" निचली घाटियों में सिंचाई और जल विद्युत की विशाल नई योजनाएं तब तक नहीं बनानी चाहिएं जब तक इस बात की स्पष्ट जानकारी प्राप्त न कर ली जाए कि —"जो पानी इन योजनाओं में प्रयुक्त होगा वह जल विभाजक के ऊपरी भागों में क्षरण ग्रस्त पहाड़ियों और घाटियों का जलाधिक्य वाला प्रवाह है अथवा अनियमित जल प्रवाह है"(पृ० 196)। अध्ययन से मालूम पड़ता है कि भारत की विशाल जल-विद्युत परियोजनाओं को बनाते समय इस विषय पर गहराई से विचार नहीं किया गया था।

उपर्युक्त पहलू के अलावा एक और पहलू है जो जनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। बांज के वृक्षों से मवेशियों को उत्तम किस्म का चारा मिलता है, गांव वालों को बढ़िया किस्म की जलाने की लकड़ी और पीने तथा सिंचाई के लिए पानी मिलता है जब कि चीड़-देवदार से चारा तो मिलता ही नहीं, जलाने की लकड़ी भी घटिया किस्म की मिलती है और उनके कारण पीने के पानी की मात्रा भी लगातार कम होती जाती है। साथ ही उनके कारण जो भू-क्षरण होता है उससे उसका उपजाऊपन भी पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

ऐसी स्थिति में हर कोई यह पूछ सकता है — "तो फिर बांज के जंगल विलुप्त क्यों हो गए"?

वन विभाग तो उसका कारण यह बताएगा कि —" गांव वालों ने चारे और ईंधन के लिए बांज के सारे वृक्ष काट डाले।" पर मैं यह कहूंगी कि इसका मूल कारण यह है कि वन विभाग बांज की रक्षा का कष्ट उठाना ही नहीं चाहता था क्योंकि बांज से उसे कोई आमदनी नहीं होती है। बल्कि वह मन ही मन प्रसन्न है कि इन वृक्षों के स्थान पर चीड़ -देवदार के वृक्ष लगने से इमारती लकड़ी भी मिलेगी और रेज़िन (लीसा) भी।

मैंने बांज या चीड़ देवदार के विषय पर वन विभाग के अधिकारियों से कई बार बात की है। चीड़-देवदार के वृक्षों के विषय में वे जो नकली दलीलें देते हैं उनसे मैं भौंचक्की हो जाती हूं। वे कहते हैं कि चीड़-देवदार के वृक्ष उन्हीं जगहों पर उगते हैं जहां पर कोई और वृक्ष नहीं उगता। इसलिए कुछ न उगाने से उसी को उगाना ठीक है — जबकि तथ्य यह है कि ये वृक्ष अब उस जगह पर उगे हुए हैं जहां पहले बांज उगा करते थे जिसके (बांज के) निशान अभी तक दिखाई देते हैं।

किसी से वे कहेंगे कि बांज ऐसी खड़ी ढलानों पर नहीं उग सकता जहां चीड़-देवदार उग सकता है — जबकि मैंने देखा है कि बांज के वृक्ष पहाड़ी ढलानों पर बिलकुल सीधे खड़े रहते हैं, और क्योंकि उनकी जड़ें अधिक मजबूत और गहरी होती हैं इसलिए वे चीड़ देवदार की अपेक्षा पहाड़ों की बगल की ढलानों को अधिक मजबूती से जकड़े रहते हैं।

किसी से वे यह कहेंगे कि चीड़-देवदार की सुईनुमा पत्तियों से खेती के लिए बढ़िया खाद बनाई जा सकती है — जबकि सच यह है कि किसी भी कंपोस्ट खाद में इन सुईनुमा पत्तियों को मिलाने से ये मिट्टी को बिलकुल बेकार कर देती हैं। मैंने खुद इस प्रकार कंपोस्ट खाद बनाई और काफी धन खर्च करने के बाद मुझे इस बात का अहसास हुआ कि चीड़-देवदार की पत्तियों से खाद नहीं बन सकती।

अंत में वे दो महत्वपूर्ण बातें और भी बताएंगे — पहली यह कि दुनिया में अगर सबसे जल्दी कोई वृक्ष

बढ़-फैल सकता है तो वह है चीड़ और देवदार। यह वृक्ष अपने बीजों से ही नए-नए वृक्ष पैदा करता है और जंगली घास-पात की तरह बड़ी तेजी से बढ़ता है। वन विभाग का काम सिर्फ यह रह जाता है कि इसका बचाव करें और इसकी काट-छांट करें। यह स्वाभाविक ही है कि वन कर्मचारी ऐसी ही आसान और लाभकरी फसल चाहते हैं। दूसरी बात यह बताई जाती है कि चीड़ की सुईनुमा पत्तियों को जलाया नहीं गया तो गांव के मवेशियों के लिए घास की कमी हो जाएगी। इसलिए अगर मवेशियों को जीवित रखना हो तो चीड़ की नुकीली पत्तियों को जला देना चाहिए। वन विभाग जानता है कि यह आग हर बसंत में लगाई जाती है। इसलिए वे अग्नि रेखा के हिसाब से आग लगा देते हैं। लेकिन मैंने चीड़ के जंगल में कोई भी अग्नि रेखा ऐसी नहीं देखी जो नियंत्रण से बाहर न चली गई हो। अतः एक ओर गांव वाले देवदार की पत्तियों को चोरी छिपे आग लगाते रहते हैं और दूसरी ओर वन विभाग अग्नि रेखा के हिसाब से आग लगाता रहता है – परिणाम यह होता है कि हर बसंत में पहाड़ चारों ओर से आग में धधकता दिखाई देता है।

भूमि संरक्षण की योजनाएं बड़े पैमाने पर बनाना आज की अनिवार्य आवश्यकता है। लेकिन क्या ऊपर बताई गई मौजूदा व्यवस्था में ऐसी योजनाओं के लिए कोई आशा शेष रह गई है? इसके लिए एक नया दृष्टिकोण अपना कर नए उत्साह से कार्य करना होगा।

(द हिन्दुस्तान टाइम्स 20.11.1979 - से अनूदित)

संस्मरण और श्रद्धांजलि

अनुक्रम

मीरा बहन - *डा० सुशीला नैयर* 153

वात्सल्य मूर्ति मीरा बहन - *राधाकृष्ण बजाज* 158

भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति-मीरा बहन - *रामकृष्ण बजाज* 160

अलौकिक व्यक्तित्व की पुंज - मीरा बहन - *मदालसा नारायण* 163

मीरा बहन : एक संस्मरण - *जगदीश प्रसाद उनियाल* 166

मीरा बहन और 'बापू राज' - *सूर्यकान्त पारिख* 171

मीरा बहन - *आर० के० पाटिल* 172

मीरा बहन - *निर्मला गांधी* 175

मीरा बहन का नया सेवा मंदिर - *दामोदर दास* 176

मीरा बहन मेरी स्मृति में - *मारजरी साइक्स* 178

ममतामयी मीरा बहन - *सुंदर लाल बहुगुणा* 179

महिमामयी महिला - मीरा बहन - *दादा धर्माधिकारी* 182

मीरा बहन के मार्ग की पुनः खोज - *रोजेटा स्पाल्ट* 184

मीरा बहन

डा० सुशीला नैयर

मीरा बहन (कुमारी मेडेलिन स्लेड) का जन्म 22 नवम्बर 1892 को एक अभिजात अंग्रेज परिवार में हुआ था। ये एडमिरल एडमंड स्लेड की पुत्री थीं और इनका लालन-पालन राजसी ढंग से हुआ था। लेकिन बचपन से ही मेडेलिन को प्रकृति से प्यार था। वह पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के साथ मग्न हो जाती थीं। उसे सादगी पसन्द थी तथा कीमती कपड़ों और गहनों से कोई लगाव नहीं था। उसकी शिक्षा तत्कालीन उच्च्व अंग्रेजी परिवारों के चलन के अनुसार ही हुई थी। उसे संगीत से प्यार था, विशेषकर बिथोवन की 'सिम्फोनियों' से जो कि उसके लिये आध्यात्मिक अनुभूति का स्रोत था।

पिता को लम्बी-लम्बी अवधि के लिए इंग्लैंड से बाहर रहना पड़ता था। तब मां, बच्चों के साथ अपने पिता के घर (देहात में) चली जाती थी। इस कारण, मेडेलिन को प्रकृति, पेड़-पौधों, गायों और घोड़ों के सान्निध्य का अवसर मिलता रहा। नाना मेडेलिन को बहुत प्यार करते थे। वे उसे घुड़सवारी सिखाते और शिकार पर साथ ले जाया करते थे। मेडेलिन को यह बातें बहुत भाती थीं, परन्तु बाद में उसने शिकार करना छोड़ दिया था।

मेडेलिन संवेदनशील लड़की थी। उसे संगीत से अत्यंत प्रेम था। तरुणावस्था में आने पर भी संगीत के प्रति उसका रुझान और आवेग प्रमुख रूप से बना रहा। उसकी विवाह में रुचि नहीं थी। बहुत से इच्छुकों को उसने नम्रता से मना कर दिया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद इंग्लैंड में लोग जर्मनों से घृणा करने लगे थे। इस कारण संभ्रान्त अंग्रेज जर्मन संगीत से वंचित हो गये। युवती मेडेलिन ने लंदन में कई संगीत-समारोह (कन्सर्ट) आयोजित किये और उसमें जर्मन संगीतज्ञों को आमंत्रित किया। संगीत के ये कार्यक्रम अत्यंत लोकप्रिय हुए और इनसे उसके परिवार को मेडेलिन की संगठनात्मक क्षमता का आभास हो गया। मेडेलिन को इन कन्सर्टों पर हुये व्यय का कुछ हिस्सा अपने पास से भी देना पड़ता था।

जब मेडेलिन ने रोमां रोलां की लिखी 'जीन क्रिस्टोफ' पुस्तक पढ़ी, जिसके बारे में कहा जाता है कि यह बिथोवन के जीवन पर आधारित है, तो उसे लगा कि फ्रेंच भाषा में मौलिक रचना को पढ़ना जरूरी है, अतः वह फ्रेंच सीखने पेरिस चली गई। पहले तो वह एक फ्रेंच महिला के साथ पेइंगगेस्ट (अर्थात् अपना खर्चा देने वाली अतिथि के रूप में) रही। बाद में वह एक छोटे एपार्टमेन्ट में चली गई जहां वह अपना काम स्वयं करने लगी। उसने जीन क्रिस्टोफ के लेखक रोमां रोलां से भेंट करनी चाही और उन्हें इसके लिए पत्र लिखा। रोमां रोलां ने भेंट के लिए उसे अपने *विला* (देहात स्थित घर) में बुलाया। रोमां रोलां, स्वीट्जरलैंड में रह रहे थे। वह उनसे मिलने वहीं गई। उस महान दार्शनिक ने उसे अभिभूत कर लिया। उसके प्रति उन्होंने अत्यंत स्नेह और उदारता दिखाई। रोमां रोलां

को इस युवती अतिथि में तीव्र आध्यात्मिक क्षुधा का आभास हुआ । उन्होंने मेडेलिन को गांधीजी के बारे में बताया । रोमां रोलां ने हाल ही में गांधीजी पर एक पुस्तक लिखी थी । उन्होंने उससे यह पुस्तक पढ़ने का आग्रह किया तथा बताया कि 'गांधी तो दूसरे ईसा मसीह' हैं ।

मेडेलिन पेरिस लौट आई और एक दुकान में रोमां रोलां लिखित पुस्तक 'महात्मा गांधी' देखी । उसने एक प्रति खरीदी और पढ़ने लगी । इस पुस्तक ने उस पर गहरा प्रभाव डाला जिससे गांधीजी के सम्पर्क में आने की उसकी इच्छा बलवती हो उठी । यद्यपि जब वह 15 वर्ष की थी तब अपने पिताजी के साथ भारत में रह चुकी थी, फिर भी उसने सोचा कि भारत के लिये उसे अपने आपको तैयार करना चाहिए । उसने निश्चय किया कि अपने आप को गांधीजी के विचारों के अनुरूप स्थिर करने में उसे कम से कम एक वर्ष तो लगेगा ही, अतः उसने इस विषय में गांधीजी को पत्र लिख दिया । वह शाकाहारी हो गई । शिकार करना तो उसने पहले ही छोड़ दिया था । अब उसने वाइन और दूसरी शराब पीनी छोड़ दी, अपने कमरे से सारा फर्नीचर निकाल दिया और जमीन पर सोने लगी । मां को यह देखकर दुख तो होता था, मगर वह जानती थी कि मेडेलिन दृढ़ निश्चय वाली है, अतः उन्होंने उसके कार्य में बाधा नहीं डाली ।

गांधीजी ने मेडेलिन को उत्तर दिया कि यदि वर्ष के अन्त में भी उसे आने की इच्छा बनी रहे तो वह आ सकती है । पत्र पढ़कर वह आनंदित हो गई और भारत का टिकट कटा लिया ।

6 नवम्बर 1925 को वह बम्बई पहुंची । जहाज पर उसका स्वागत करने के लिए गांधीजी ने वल्लभ भाई पटेल को भेजा था । वल्लभ भाई उसे 7 नवम्बर को साबरमती आश्रम में ले आये । आश्रम में आकर वह गांधीजी के चरणों में झुकी और भावविह्वल हो गई । गांधी से मिलने को उसने अपना पुनर्जन्म माना, और तब से उसका जन्म दिन सात नवम्बर को ही मनाया जाता था । बापू ने उसमें अगाध भक्ति देखकर उसे मीरा कह कर पुकारा, और इस प्रकार मेडेलिन स्लेड भारत में 'मीरा बहन' बन गई, साथ ही गांधीजी की बेटी भी । ब्रिटिश सरकार भी मानने लगी थी कि मीरा गांधीजी की उतनी ही सगी-सम्बंधी है जितने उनके अन्य सगे-सम्बंधी जिनसे उनका खून का रिश्ता है । अतः आगे चलकर जेल में उसे गांधीजी से वैसे ही मिलने दिया जाता था जैसे दूसरे परिवारिक जनों को ।

गांधीजी ने आश्रम में उसके लिए अलग से एक कमरे का प्रावधान कर रखा था जिसमें चारपाई, एक मेज और एक कुर्सी थी । मीरा ने सारे फर्नीचर को बाहर निकाल दिया और जमीन पर ही सोना पसन्द किया । वह अपना सारा काम स्वयं करती थी और अब हिन्दी भी सीखने लगी थी । गांधीजी ने उसे सलाह दी कि वह रुई धुनना तथा सूत कातना सीखे तथा दूसरों को भी सिखाए । मीरा ने इसे बहुत उत्साह से किया । मेरे भाई प्यारेलाल जी, स्कूल की छुट्टियों में मुझे सन् 1928 में साबरमती आश्रम ले गये । उन दिनों मुझे मीरा बहन से चर्खा चलाना सीखने को भेजा गया था । मैंने कातना तो सीख लिया लेकिन कार्डिंग नहीं सीख पाई । बाहें दुख जाती थीं, थक जाती थी । सो छोड़ना पड़ा । मीरा बहन ने यह काम आश्रम के बहुत से लोगों और अतिथियों को भी सिखाया ।

सन् 1928 में मीरा बहन खादी के काम को बढ़ावा देने के लिए बिहार गई । गांधी जी की गिरफतारी के बाद से, मीरा बहन ने खादी प्रचार के लिए कई दूसरे प्रदेशों का भी दौरा किया । सन् 1931 में जब गांधीजी दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने लंदन गये तो वह भी साथ गई । वहां वह गांधीजी और दूसरे अंग्रेज महानुभावों के बीच सेतु बन गई । गांधीजी जब रोमां रोलां से मिले, तब भी वह साथ थी । भारत लौटने पर मीरा बहन ने 'असहयोग

आन्दोलन' में भाग लिया और उसे गिरफ्तार कर जेल में बन्द कर दिया गया। जेल से छूटने के बाद बम्बई में उसके प्रवेश पर पाबंदी का उसने उल्लंघन किया और उसे फिर गिरफ्तार कर लिया गया।

सन् 1934 में वह गांधीजी के साथ उड़ीसा में हरिजनों के बीच काम करती रही। उसके बाद वह अमरीका और इंग्लैंड गई जहां उसने हैलिफैक्स, होर, स्मट्स और चर्चिल से भेंट की और उनके सामने गांधीजी के दृष्टिकोण को रखा।

मीरा बहन गांधीजी की दूसरी भ्रमण-यात्राओं में भी उनके साथ रही। वह गांधीजी के कक्ष में बिस्तर वगैरह ठीक करने में और इसी प्रकार की दूसरी तैयारियों में तथा खाना खिलाने में हाथ बंटाती थी। कभी-कभी वह उनके साथ सभाओं में भी जाती थी। उसने इन सभाओं में घटित कार्यकलापों के विस्तृत वर्णन किये हैं कि कैसे जब भी गांधीजी चन्दा मांगते थे तो जवान और बूढ़े जो कुछ भी उनके पास होता था दान कर देते थे। जब जवान स्त्रियां गांधीजी को देने के लिए अपना कंगन खुद नहीं उतार पाती थीं तो मीरा बहन से सहायता लेती थीं। गांधीजी धनी और निर्धन दोनों से क्रमशः जेवरात तथा तांबे का सिक्का, समान स्नेहमयी मुस्कान के साथ ग्रहण करते थे। हर कोई अपनी सामर्थ्य के अनुरूप देते थे।

बापू, साथ के सभी व्यक्तियों से कहा करते थे कि अपने पांव पर खड़े होना सीखो और मेरे ऊपर निर्भर मत रहो। मीरा की भी बारी आई और गांधीजी ने उसे ग्रामीणों की सेवा का कार्य करने को कहा। मीरा ने एक-दो गांवों में रहने की कोशिश भी की परन्तु हर बार बीमार हो जाती थी और उसे आश्रम में बापू के पास लाना पड़ता था। वह बापू के साथ स्वस्थ और प्रसन्न रहती थी। मीरा ने सन् 1935 में वर्धा से करीब 10 किलोमीटर दूर सेगांव नाम का गांव रहने और गांव वालों को स्वास्थ्य रक्षा सम्बंधी शिक्षा और कताई सिखाने के लिये चुना। इस अवसर पर गांधीजी ने चेतावनी दी कि अगर वह इस बार भी बीमार पड़ी तो वह खुद सेगांव में रहने लगेंगे। यही हुआ। मीरा बहन फिर बीमार हो गई और बापू ने सेगांव जाना तय कर लिया। श्री जमनालाल बजाज ने गांव के बाहर जमीन दी, जहां बापू के लिये झोंपड़ी तैयार होने लगी। जिस तारीख से बापू सेगांव में रहने वाले थे, उस तारीख तक झोंपड़ी तैयार नहीं हो सकी। लेकिन उन्होंने अपना कार्यक्रम नहीं बदला। गांधीजी ने नियत तारीख को मगनवाड़ी से पैदल 8-10 किलोमीटर सफर तय किया। यह अप्रैल 1936 की बात है। बापू वहां पहुंचकर कुएं के पास अमरूद के पेड़ के नीचे बैठ गये। रात में जंगली जानवरों से हिफाजत के लिए चारों ओर खाई सी खोद दी गई। झोंपड़ी तेजी से तैयार होने लगी। पहले एक बड़ा हाल तैयार हुआ। उसके एक किनारे गांधीजी ने, दूसरे किनारे बा ने, तीसरे किनारे प्यारेलाल जी और एक किनारे मीरा बहन ने अपने लिए स्थान का चुनाव किया। दल में एक दो और लोग भी थे। उन्हें भी हाल में जगह दे दी गई। बाद में कस्तूरबा और मीरा बहन के लिए दो अलग झोंपड़ियां तैयार की गईं। फिर धीरे-धीरे और भी मकान बन गये और सेगांव का नाम बदलकर सेवाग्राम रख दिया गया। ऐसा इसलिए किया गया कि कई बार शेगांव को सेगांव समझकर डाकघर वाले बापू की डाक वहां भेज दिया करते थे।

मीरा बापू की बकरी को भी दुहती थी। बापू की देखभाल भी करती थी, उसे बापू की सेवा करना अच्छा लगता था। साथ ही गांव वालों के बीच भी उसका काम चलता रहा। वह उन्हें स्वास्थ्य सम्बंधी शिक्षा देती थी तथा चर्खे पर कताई आदि भी सिखाती थी।

जब सन् 1938 में नाजियों ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण कर दिया तो मीरा बहन के मन में वहां जाकर

नाजी जर्मनी के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन करने की इच्छा हुई। लेकिन खान अब्दुल गफ्फार खां ने जिद की कि मीरा बहन उनके साथ उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत में पठानों के बीच काम करे। मीरा ने वही किया। उसके बाद उन्होंने एक वर्ष का मौन व्रत ले लिया और हिमालय में जाकर ऋग्वेद के सूक्तों का अनुवाद किया।

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान मीरा बहन ने उड़ीसा और आसपास के क्षेत्रों का दौरा किया। वह वहां लोगों को संभावित जापानी आक्रमण के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध के लिए संगठित करने गई थी। वहां उसने सम्बन्धित व्यक्तियों और सैनिक अधिकारियों से भी बातचीत की। लौटकर उसने गांधीजी को बहुत ही रुचिकर रिपोर्ट दी।

मीरा बहन ने सन् 1942 के अन्तिम संघर्ष को टालने के लिए बापू और वाइसराय के बीच मध्यस्थता का भी काम किया। लेकिन बात नहीं बनी। गांधीजी को 'भारत छोड़ो आन्दोलन' आरंभ करने के पहले ही नौ अगस्त को गिरफ्तार कर जेल में भेज दिया गया। उन्हें पूना के आगाखां पैलेस में बन्द रखा गया जहां 9 अगस्त 1942 से 6 मई 1944 तक भीतर पुलिस के गार्डों और बाहर सैनिक गार्डों का पहरा लगा रहा।

बापू, मीरा बहन और महादेव देसाई सभी को 9 अगस्त की सुबह-सुबह पकड़ लिया गया था। उसी ट्रेन में जवाहर लाल तथा कांग्रेस कार्यकारिणी के दूसरे सदस्यों को भी ले जाया जा रहा था जिसमें से सरोजनी नायडू को छोड़कर बाकी सभी को अहमदनगर के किले में बन्दी बनाकर रखा गया।

मुझे और बा (कस्तूरबा गांधी) को 9 अगस्त की शाम को गिरफ्तार किया गया था। पहले हमें बम्बई की आर्थर रोड जेल में ले जाया गया। दो दिन बाद हमें बापू, मीरा बहन और महादेव देसांई के साथ ही रखने के लिए आगाखां पैलेस के नजरबन्दी शिविर में ले जाया गया। सरोजनी नायडू को भी बापू के साथ ही रखा गया।

महादेव देसाई को दिल का दौरा पड़ा और नजरबन्दी के छह दिन बाद, 15 अगस्त को उनका निधन हो गया। बा को इससे गहरा आघात लगा।

मीरा बहन ने अपने कमरे के एक कोने में बालकृष्ण का मन्दिर बना रखा था। वह इन्हें फूलों से बड़ी सुन्दरता से सजाती थी। आगाखां पैलेस के बागों में फूलों की भरमार थी। बा को मीरा बहन के बालकृष्ण मन्दिर में बैठना बहुत भाता था। बापू भी जब-तब वहां आ जाते थे।

बापू ने सन् 1943 में 21 दिनों का उपवास किया। बा, मीरा बहन के बालकृष्ण मंदिर में या तुलसी के सम्मुख जिसे उसने बरामदे में रखा हुआ था, प्रार्थना करती रहती थीं। बा, बापू की देखभाल करतीं, जब मिलने वाले आते तो बापू के पास बैठतीं, एक वक्त फल और दूध का आहार लेतीं। बापू जब भी उपवास करते थे, बा ऐसा ही करती थीं।

बापू के उपवास की समाप्ति के बाद बा का स्वास्थ्य खराब हो गया। उन्हें खुश रखने के लिए हम उनके साथ कैरम खेला करते थे। मेरी प्रार्थना पर बापू के उपवास के दौरान डा० गिल्डर को आगाखां पैलेस में ले आया गया था। वह मीरा, बा और जेल अधीक्षक श्री केटले के साथ ताश खेलते। जब इनमें से एक नहीं होता तो मेरे भाई प्यारेलाल जी खेलते, जिन्हें यरवदा जेल से बापू के पास आगाखां पैलेस में महादेव देसाई की मृत्यु के बाद ले आया गया था, या फिर मुझे चौथे खिलाड़ी की जगह बैठना होता था। मीरा बहन कैरम की बहुत अच्छी खिलाड़ी थी।

सरोजनी नायडू को स्वास्थ्य के आधार पर बापू के उपवास के थोड़े ही दिन बाद छोड़ दिया गया।

मीरा बहन ने मुझे पेस्टल रंगों के प्रयोग सिखाए। हमने पास की पहाड़ियों के कई स्केच (रेखाचित्र) बनाये। उसने मुझे बापू का गीत 'ह्वेन आई सर्वे द वन्डरस क्रास' गाना भी सिखाया जिसे गडरिये जब रात में भेड़ों की रखवाली करने जमीन पर बैठे रहते थे, तो गाते थे।

मीरा बहन हमेशा बापू की सांध्य प्रार्थना में बैठा करती थी और वहां भजन गाती थी। बापू जब टहल रहे होते थे तो उनसे चर्चायें किया करती थी। वह अपने प्रश्नों को लिखा करती थी, साथ ही बापू के उत्तरों को भी लिखा करती थी और उन्हें बापू को दिखा लिया करती थी। उसे विश्वास था कि शीघ्र ही भारत स्वतंत्र होकर रहेगा। उसके प्रश्न हमेशा उन्हीं चर्चाओं को लेकर होते थे।

बा की अन्तिम बीमारी के दौरान जिसका अंत 22 फरवरी 1944 को उनके निधन के साथ ही हुआ, मनु, प्रभावती ओर कनु गांधी को भी सेवा सुश्रूषा के लिये नजरबन्दी कैम्प में ले आया गया था। मीरा बहन हम सबके प्रति सदाशयता व दयालुता का व्यवहार करती थी। बापू, प्यारेलाल जी, डा० गिल्डर, मनु, कनु गांधी, प्रभावती और मेरे साथ मीरा बहन को भी 6 मई 1944 को आगाखां पैलेस जेल से रिहा कर दिया गया। अन्य पहले ही छोड़े जा चुके थे।

1944 में आगाखां पैलेस जेल से मुक्ति के थोड़े ही दिन बाद मीरा बहन ने रुड़की और हरिद्वार के बीच 'किसान आश्रम' की स्थापना की। सन् 1946 में उसे उत्तर प्रदेश सरकार ने पशु पालन और कृषि का 'अवैतनिक विशेष सलाहकार' नियुक्त किया। सन् 1947 में मीरा बहन ने ऋषिकेश के पास दूसरा आश्रम स्थापित किया जिसका नाम उसने 'पशुलोक' रखा और यहां पशु विकास की योजनाएं प्रारम्भ कीं।

जून 1948 में अध्ययन के लिये विदेश जाने से पहले मैं पशुलोक में मीरा बहन से मिलने गई थी। हिमालय की तलहटी में पशुओं के बीच मीरा बहन बहुत प्रफुल्लित थी। उसके अनुसार वहां से हिमाच्छादित पर्वत श्रृंगों को देखते रहने से उसे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती थी।

सन् 1952 में उसने टिहरी गढ़वाल की भिलंगना घाटी में 'गोपाल आश्रम' की स्थापना की। सन् 1954 से 1957 तक मीरा बहन कश्मीर में मवेशियों के संकर-प्रजनन के कार्य में लगी रही।

उसने जनवरी 1959 में सदा के लिये भारत छोड़ दिया। कुछ दिन इंग्लैंड में रही, फिर आस्ट्रिया में वियना से 50 मील दूर एक गांव में रहने लगी। मैं उससे वहां 1961 या उसके आसपास मिली थी। आस्ट्रिया स्थित भारतीय राजदूत ने मुझे वहां जाने के लिये कार देने की कृपा की थी। मीलों तक स्थानीय जनता उसे 'भारतीय महिला' ही कहा करती थी। मैं उसके पास एक दिन रही। वह भारत जैसा ही खाना खाती और सलवार कुरता पहनती थी।

मीरा बहन भक्ति की साकार मूर्ति थी। हृदय से वह हिन्दू थी। बापू ने कभी उसे धर्म परिवर्तन नहीं करने दिया। उनका कहना था कि अपने ही धर्म के बुनियादी सिद्धान्तों के अनुरूप जीयो क्योंकि सभी धर्मों में ये सिद्धान्त समान से हैं। ऊपरी आवरण यानि लेबल कुछ महत्व नहीं रखता है।

उसकी स्मृति में मेरी स्नेहसिक्त और आदरभरी श्रद्धांजलि अर्पित है। उसकी स्मृति हमें उसीकी तरह भारत माता और मानवता के प्रति भक्त और निस्वार्थ सेवक बनाये। बापू होते तो हम सभी से वे यही आशा करते।

वात्सल्य मूर्ति मीरा बहन

राधाकृष्ण बजाज

पू० बापूजी के पास मीरा बहन ने जीवन के मौलिक वर्ष बिताये। जेल से छूट कर आने के बाद बापूजी 1935-36 में मगनवाड़ी, (वर्धा) में रहते थे। वहां पर मीरा बहन के हमेशा ही दर्शन होते थे। बापूजी का जीवन अति कठोर व नियमित था। उनके पास रहना भी असिधार व्रत के समान था, पर मीरा बहन को देखा कि वह अपने जीवन को और भी अधिक कठोर बना रही थीं। मगनवाड़ी से करीब 2 किलोमीटर की दूरी पर सिंधी गांव था। इस तथा इससे लगे हुए गांवों में लोग गांव के बाहर रास्तों पर शौच जाते थे। मीरा बहन ने पहले लोगों को समझाया कि रास्तों पर शौच नहीं जाना चाहिये। पीछे वह स्वयं रोज जाकर सफाई का काम करने लगीं। मैले की बाल्टियों का खाद (कम्पोस्ट) बनाया जाता था। पू० बापूजी भी कई बार उनके साथ सफाई अभियान में जाने लगे।

मीरा बहन को गांवों में जाने की बड़ी लगन थी। वर्धा से 6-7 किलोमीटर पर सेगांव नाम का एक ग्राम था जहां स्व० सेठ जमनालाल बजाज की जमीन व जमींदारी थी। एक झोंपड़ी बनाकर मीरा बहन वहां रहने लगीं। उनकी भक्ति के आकर्षण से पू० बापूजी भी वहां रहने आ गये। उन दिनों सेगांव (सेवाग्राम) जाना गढ़ जीतने जैसा था। सड़क तो थी ही नहीं, सीधा रास्ता भी नहीं था। बरसात में तो कीचड़ में ही चलना पड़ता था। कभी-कभी सांप भी तैरते दिखाई देते थे।

मीरा बहन सेवाग्राम से कुछ दूरी पर कुटिया में रहती थीं, जहां पू० बापूजी सुबह घूमते हुए रोजाना जाते थे। मीरा बहन करुणा मूर्ति थीं। उनका हृदय मानव मात्र के लिये ही नहीं, पशु-पक्षियों के लिये भी द्रवित होता था। 1947 में ऋषिकेश के पास पशुलोक में मैंने देखा कि कितने प्रेम से उस जंगल के बीच गायों में वे रम रही हैं। वे जो कुछ करती थीं, सोचती थीं, बोलती थीं, सभी कुछ हृदय से होता था। दिखावा तो उनमें लेश मात्र भी नहीं था। वे पू० बापूजी की सेवा के लिये भगवान की भेजी हुई देवदूत जैसी थीं।

एक बार पू० बापूजी विश्राम के लिये जुहू में ठहरे हुए थे। मीरा बहन भी वहां उनके साथ थीं। एक दिन एक भाई नंदी लेकर आये, कहा यह नंदी प्रश्नों के जबाब देता है। कुतूहल देखने गांधीजी सहित सभी राष्ट्रीय नेता इकट्ठे हो गये, नंदी से अनेक सवाल पूंछे गए तथा उसने सबके जबाब बराबर दिये। उससे पूछा गया, बताओ जिसका कोई बैरी न हो ऐसा यहां पर कोई व्यक्ति है, तो नंदी गांधीजी के सामने जाकर खड़ा हो गया। फिर पूछा गया पशुओं पर किसका सबसे अधिक प्रेम है, तो मीरा बहन के सामने जाकर खड़ा हो गया। मीरा बहन वात्सल्य मूर्ति थीं, इसकी साक्षी नंदी ने भी दी।

मीरा बहन जो कि इंग्लैंड के धनी घराने में पलीं थीं तथा जिन्हें दुनिया भर की सुख सुविधाएं प्राप्त थीं, गांधीजी के सान्निध्य में आकर सुख-सुविधाओं का तो नाम ही भूल गई थीं। किसी भी परिश्रम में उन्हें घबराहट न होकर आनंद ही आता था। वे भारतीय आध्यात्मिक साधना की सच्ची साधक थीं। गांधीजी की योग्य पुत्री के साथ-साथ वे पूर्व जन्म की एक ऐसी जोगन थीं, जिसकी साधना अपूर्ण रह गई हो और उसे पूरा करने के लिए उनका पुनर्जन्म हुआ हो। शुचीनाम् श्रीमतां गेहे योग भ्रष्टोभि जायते। उनके चरणों में शतशः प्रणाम्।

भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति - मीरा बहन

रामकृष्ण बजाज

मीरा बहन की याद आते ही मैं भावविह्वल हो जाता हूं। अपने बाल्यकाल से ही मैं यह जानने लगा था कि उनके व्यक्तित्व से कोई व्यक्ति प्रभावित न हो ऐसा होना नामुमकिन था। उनका व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावकारी तथा आकर्षक था।

नामानुरूप, मोहनदास (बापू) के व्यक्तित्व के कारण अनेक लोग उनकी ओर आकर्षित हुए। उनमें से एक मीरा बहन भी थीं, जो उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर साबरमती आश्रम में रहने के लिए भारत आईं। उनकी आत्मकथा, *द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज* जिसका हिन्दी संस्करण 'एक साधिका की जीवन यात्रा' शीर्षक से हिन्दी में नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ है, एक प्रेरणादायक पुस्तक है।

19 वीं शताब्दी में दूर-दूर सक बर्तानिया साम्राज्य का विस्तार हो गया था, सत्य तो यह है कि उन दिनों यह कहा जाता था कि बर्तानिया साम्राज्य में सूरज नहीं डूबता है। महारानी विक्टोरिया ने 65 वर्षों तक दक्षता के साथ शासन किया और साम्राज्य को स्थिरता प्रदान की।

मीरा बहन का जन्म 22 नवम्बर 1892 को एक बहुत ही सुसंस्कृत तथा धनाड्य परिवार में हुआ था। उनके पिता बर्तानिया की नौसेना में एडमिरल थे जो कि बाद में वैस्ट इंडीज स्टेशन के प्रधान सेनापति नियुक्त हुए। उनके घर में दर्जनों नौकर-चाकर थे। ऐसे परिवार में मीरा बहन (मेडेलीन स्लेड) ने अपना बचपन बहुत ही सुख-सुविधा में व्यतीत किया।

यद्यपि वे शानो-शौकत और समृद्धि के वातावरण में बड़ी हुईं, परन्तु इस आडम्बर युक्त जीवन से वे सदैव ही विमुख रहीं। इसका उन्होंने अपनी आत्मकथा में बहुत ही सुंदर ढंग से वर्णन किया है—

"अभी मैं बहुत छोटी - पांच-छः वर्ष की ही थी और बड़े सुख व प्रेमपूर्ण वातावरण में रहती थी, फिर भी मेरा मन 'अज्ञेय' (Unknowable) के क्षेत्र में खोज करने लग गया था, और श्रद्धायुक्त विस्मय से भर गया था। मैंने अपने बड़ों को दूर गगन में तारों तथा क्षितिज के उस पार की बातें करते सुना था। जब मैंने भी उसी 'अज्ञात' के विषय में सोचना प्रारम्भ किया तो मैं मन को व्यथित करने वाले भय से भयभीत हो जाती थी। और इस भय को दूर भगाने के लिए मैं तत्परता के साथ किसी सांसारिक अभिरुचि के कार्य मैं सलंग्न हो जाती थी।"

मेडेलीन अभी मात्र पंद्रह वर्ष की ही थी कि उनके पिता की नियुक्ति भारत में हो गई। उस अवधि में वे दो वर्ष तक भारत में रहीं। घर के राजसी वातावरण व पिता के पद के अनुरूप उन्हें गवर्नर, सेनापति तथा उच्चपदस्थ

अधिकारियों, राजाओं व ऊंचे घराने के लोगों से मिलना होता था। परन्तु हृदय से वे इस प्रकार के राजसी वैभव के प्रति अनासक्त ही रहीं तथा प्रकृति की निकटता का आनंद लेने के लिए वे श्रीलंका (सीलोन), ईरान, कुवैत, बहरीन, मस्कट आदि देशों का भ्रमण करती रहीं। दो वर्ष व्यतीत होने पर वे इंग्लैण्ड वापस लौट आईं, जब कि उनके पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य कुछ समय और भारत में ही ठहर गए। प्रथम विश्व युद्ध के त्रासदी के दिन उन्होंने इंग्लैण्ड में ही बिताये।

इंग्लैण्ड में बीथोवन की संगीत लहरी के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए उन्होंने जर्मन भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और अपने आपको पूर्णरूप से उसमें डुबो दिया। इसी अवधि में कु० स्लेड की मुलाकात फ्रांस के सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं लेखक रोमां रोलां से हो गई। संगीत तथा साहित्य जगत का यह सुप्रसिद्ध विद्वान गांधी जी की कार्यशैली व चिंतन से परिचित था। उसने 'महात्मा गांधी' शीर्षक से एक पुस्तक भी लिखी है। कु० स्लेड ने उस पुस्तक को चाव से पढ़ा और एक ही दिन में समाप्त कर दिया। उन्हें लगा कि उन्होंने उस 'अज्ञात' को पा लिया है, जिसे वे खोज रही थीं और उसी क्षण उन्होंने निर्णय ले लिया कि वे महात्मा गांधी के पास जाएंगी।

25 नवम्बर, 1925 को वे पी० एण्ड ओ० के जहाज पर सवार हो गईं और 6 नवम्बर को बम्बई पहुंचीं। 7 नवम्बर को वे प्रातः कालीन रेल से अहमदाबाद पहुंच गईं, जहां पर गांधीजी ने महादेव देसाई, सरदार बल्लभभाई पटेल और स्वामी आनंद को उन्हें लेने के लिए भेजा था। उनके सामान को लेकर आने का कार्य अपने दो सहयोगियों के ऊपर छोड़कर, सरदार पटेल कु० स्लेड को मोटर कार में बैठाकर गांधीजी के पास ले गए। इस अनुभव को अपनी आत्मकथा में मीरा बहन ने बहुत ही सुंदर और आत्मविभोर करने वाले शब्दों में व्यक्त किया है—

साबरमती आश्रम में कुछ समय बाद बापूजी ने उनका नामकरण 'मेडेलीन' से 'मीरा' कर दिया। इस आश्रम में मीरा बहन ने सभी नियमों का एक प्रशिक्षित सैनिक (trained soldier) की भांति पालन किया। प्रारम्भ में बापूजी उनके प्रति बहुत कठोर रहे। एक बारे उन्होंने जमनालाल जी को लिखा—"वे (बापूजी) कहते हैं कि मुझे अपना कार्य जितना हो सके तत्परता के साथ करना चाहिए और मुझे तब तक उनकी सेवा नहीं करने दी जाएगी जब तक कि मैं हिन्दी, कताई व खाना बनाना नहीं सीख लूंगी।" परन्तु मीरा बहन ने कुछ ही समय में वह सब कुछ सीख लिया और इस प्रकार बापूजी द्वारा निर्धारित परीक्षा में शानदार सफलता प्राप्त की।

धीरे-धीरे उनका भोजन, रहन-सहन व पहनावा आदि भी पूर्णरूप से भारतीय हो गया और अब उनका समय अधिकतर बापू की सेवा में ही व्यतीत होता था। यद्यपि उनके पहले के और वर्तमान के जीवन स्तर में काफी भिन्नता थी तथापि उन्होंने अपने वर्तमान जीवन को पूर्णरूप से अंगीकार कर लिया था।

उन दिनों में हमारा पूरा परिवार साबरमती में ही रहता था। उस समय तो मैं बच्चा ही था, फिर भी मेरा अधिक समय बापूजी तथा मीरा बहन के सान्निध्य में ही कटता था।

'नमक सत्याग्रह' के पश्चात, 1933 से बापूजी वर्धा में रहने लगे। मीरा बहन भी उन्हीं के साथ वहां रहती थीं। अछूतों से सम्बन्धित देश के दौरे के समय मेरी छोटी (उमा) बहन लगभग नौ महीने तक बापू तथा मीरा बहन के साथ रहीं। उस अवधि में वह मीरा बहन की चहेती और दुलारी बन गई, इससे बापूजी बहुत प्रसन्न हुए और उसकी प्रशंसा भी की।

1934-35 में जब बापूजी मगनवाड़ी में रह रहे थे तो मीरा बहन ने उनके लिए सेवाग्राम का चुनाव किया

जहां पर सर्वप्रथम वे स्वंय एक झोंपड़ी बना कर रहीं।

एक दिन बापूजी मगनवाड़ी से सेगांव (सेवाग्राम) पहुंच गए और एक खेत में अमरूद के पेड़ के नीचे बैठ गए और कुछ दिनों तक वे वहां पर एक कच्ची झोंपड़ी में ही रहे। बापूजी की झोंपड़ी जो कि आज भी सेवाग्राम आश्रम में विद्यमान है उसे मीरा बहन ने ही बनाया था। इस प्रकार भारत में आने के पश्चात मीरा बहन ने पूर्णरूप से बापू के जीवन आदर्शों को आत्मसात कर लिया था। उन्होंने व्यक्तिगत रूप से बापू की सेवा ही नहीं की अपितु भारत के स्वतंत्रता संग्राम में भी पूर्णरूप से भाग लिया। 'भारत छोड़ो आंदोलन' के अवसर पर उन्हें भी बापू के साथ आगाखां महल में नजरबंद रखा गया था।

मेरे पिताजी, जमनालाल जी, के साथ उनके बहुत ही मधुर व आत्मीय सम्बन्ध थे। गांधीजी के लिए मेरे पिताजी और मीरा बहन पुत्र व पुत्री के समान थे। यही कारण था कि पिताजी और मीरा बहन में भाई-बहन जैसा मधुर व्यवहार था। भारत में आने के पश्चात जनवरी 1926 में मीरा बहन ने जमनालाल जी को एक पत्र में लिखा—"क्योंकि हमारे पिता एक हैं अतः कृपा करके मुझे आपको भाई कहने की अनुमति दें।" यह मात्र एक औपचारिकता नहीं थी अपितु एक गहरे प्यार का संकेत था। इसमें कहीं पर भी दिखावे की गुंजाइश नहीं थी। एक दूसरे पत्र में उन्होंने जमनालाल जी को लिखा—"आपके घर मैं प्यार और सौहार्द से घिर जाती हूं।"

आश्रम जीवन में समस्याओं का उत्पन्न होना कोई अनहोनी बात नहीं है। परन्तु पिताजी ने उन सभी समस्याओं को सुलझाने की पूरी कोशिश की जिनमें उन्हें मीरा बहन का सहयोग मिला। जमनालाल जी का पुत्र होने के नाते अथवा जो भी कारण हो, मीरा बहन का प्यार मुझे हमोशा मिला। क्योंकि वे रात-दिन बापू की सेवा में लगी रहती थीं, अतः अपने लिए उनके पास कोई खाली समय नहीं होता था, इस पर भी जब कभी उन्हें अवकाश मिलता, उन क्षणों को वे हमारे साथ प्यार बांटने में गुजारती थीं। स्वाभाविक ही था कि उनके प्रति मेरे भीतर जो आदर और स्नेह की भावना थी वह निरंतर बढ़ती ही गई।

जिन दिनों मीरा बहन वरुड में एक खुले स्थान पर सुंदर सी झोंपड़ी बनाकर उसमें रह रहीं थीं, उस अवधि में उन्होंने वेदों तथा उपनिषदों का गम्भीरता से अध्ययन किया। उन दिनों वे आदिकालिक ऋषियों जैसी एक तपस्विनी दिखती थीं। स्वभाव से भी वे चिंतनशील ही थीं। कहना न होगा कि भारत माता तथा राष्ट्रपिता बापू की सेवा में उन्होंने अपने जीवन को पूर्णरूप से आत्मसात कर लिया था। मीरा बहन भारतीय संस्कृति की प्रतिमूर्ति ही नहीं बल्कि सदैव ही प्रेरणा का स्रोत बनी रहेंगी।

अलौकिक व्यक्तित्व की पुंज - मीरा बहन

मदालसा नारायण

'साबरमती के संत तूने कर दिया कमाल . .' मीरा बहन ने, जिसे गांधीजी ने अपनी पुत्री माना तथा जिसने तन-मन से गांधी जी की सेवा-सुश्रुषा की, तथा सच्चे अर्थों में उनकी अत्यधिक विश्वासपात्र पुत्री एवं शिष्या बन कर दिखाया, उनके सम्बंध में भी यही उक्ति चरितार्थ होती है। गांधी युग की यह एक अलौकिक घटना है। साम्राज्यवादी ग्रेट ब्रिटेन के अभिजात घराने की लाडली बेटी भारत आई और गांधीजी की दत्तक पुत्री बन बैठी। यह एक असाधारण घटना ही तो थी।

सुदर्शन चक्रधारी श्रीकृष्ण को भारत ने 'कृष्णं वंदे जगद्‌गुरुम्' के रूप में माना है। महाभारत में कौरव पांडव युद्ध का बड़ा रोमांचकारी वर्णन किया गया है। शांति और सुलह के सभी प्रयत्नों के बावजूद अकेले दुर्योधन के दुराग्रह के कारण जब युद्ध अनिवार्य हो गया तब 'धर्म क्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' में श्री कृष्ण ने अपने परम प्यारे सखा अर्जुन का बड़े प्रेम से सारथ्य किया और अर्जुन के कहने पर रथ को युद्ध के सुविशाल मैदान के बीचों बीच ले जाकर खड़ा कर दिया। वहां युद्ध के साज से सजी दोनों ओर की बड़ी भारी सेनाएं सुसज्जित खड़ी थीं। उनमें धनुर्धारी वीर योद्धा अर्जुन ने जब दोनों सेनाओं में ज्यादातर अपने ही स्नेही स्वजनों को परस्पर लड़ने-भिड़ने और मरने-मारने के लिये तैयार खड़े देखा तो वह बड़ा दुःखी हुआ। उसने अपने प्यारे सारथी श्रीकृष्ण से कहा कि "इन स्वजनों से मैं नहीं लड़ूंगा, इन्हें मारकर मुझे क्या सुख मिलेगा" तब वहीं पर सर्वहितैषी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उसके जन्मजात स्वभाव के अनुरूप 'स्वधर्म' का सदुपदेश दिया। वही भगवद्‌गीता कहलाई।

इस कथा से यह समझ में आ रहा है कि पू० मीरा बहन अपनी अंतः प्रेरणा से भारत माता की प्यारी राजदुलारी बेटी कैसे बन गई। सर्वव्यापी जगद्‌गुरु श्रीकृष्ण की ही यह जादूगरी है कि उसने सत्य-अहिंसा की सामूहिक साधना पर आधारित भारत के स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने का, लंदन में पैदा हुई एक अभिजात कुल की अंग्रेज कन्या को अवसर प्रदान किया। इससे जागतिक समता सिद्ध हुई जो विश्व शांति की दृष्टि से बड़े महत्व की ऐतिहासिक घटना है।

सन् 1925 से 1929 तक हम सपरिवार बापूजी के साबरमती आश्रम में रहे। वहीं पू० मीरा बहन से हमारा परिचय हुआ। तब मेरी उम्र करीब नौ साल की थी। मुझे वे बहुत प्यारी, बहुत मोहक लगीं। साबरमती नदी के किनारे बापू का निवास 'हृदय कुंज' बना हुआ है। उसी के सामने दाहिनी ओर एकदम नदी के किनारे की ऊंचाई पर दो छोटी कोठरियां बनी हैं। उन्हीं में मीरा बहन रहती थीं। वे लंदन के अभिजात वर्ग से आई थीं। उनका घर का नाम मेडेलिन स्लेड था। बचपन से उन्हें गांधीजी के विचार पसंद थे, जो 'यंग इंडिया' से उन्हें मिलते रहते

थे। उनसे वे प्रभावित और आकर्षित होती रहीं। उसी प्रेरणा से वे बापूजी के पास आ पहुंचीं और बड़ी जल्दी बापूजी की सेवाभावी मानस पुत्री बन गईं। आश्रम के त्यागमय एवं खादीमय सादे जीवन को उन्होंने जी जान से अपनाया। वेदोपनिषूदादि भारतीय श्रेष्ठ ग्रंथों की तात्विक संस्कृति उन्हें भा गई। वे अत्यंत सेवा परायण ग्रामीण महिला जैसी रहने लगीं, तथा आश्रम के नीति-नियमों का कड़ाई से पालन करने लगीं। उन्होंने कपास धुनना तथा चरखा चलाना शीघ्र ही सीख लिया था।

मुझे जब समय मिलता मैं दौड़कर पू० मीरा बहन के पास जा बैठती। तकली कातना उन्होंने ही मुझे सिखाया। मेरी गर्दन में बड़ा दर्द रहता था, जिसे मालिश करके उन्होंने कम कर दिया। उन्होंने कुछ व्यायाम भी सिखाये जिनके करने से गर्दन का दर्द कम हो सकता था, साथ ही यह भी समझाया कि यदि मैंने अभी से इसकी रोक थाम नहीं की तो यह बड़े होने पर 'स्पोंडिलाइटिस' हो सकता है। वैसा ही हुआ तथा मीरा बहन की बताई व्यायाम क्रिया से ही वह ठीक हुआ।

1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के समय पू० माता कस्तूरबा और पूज्य बापूजी आगाखां पैलेस में नजरबंद थे। वहां बापूजी ने 21 दिन का उपवास भी किया था। उस समय पू० माता जानकी देवी, प्रिय कमलनयन भाई को और मुझको उपवास के 10 वें दिन से 21 वें दिन तक रोज शाम को 4 बजे से करीब छः-सात बजे तक बापूजी के पास रहने की इजाजत मिली थी। तब पू० मीरा बहन बड़ी सावधानी से बापूजी की सेवा में तल्लीन रहती थीं। उसके पहले और बाद में भी मैंने मीरा बहन को बापूजी की दैहिक, वैचारिक, सैद्धांतिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार की सेवा-सुश्रूषा में बड़ी लगन व तत्परता से कार्यरत देखा था।

1930 के 'नमक सत्याग्रह' के बाद जेल से छूटकर बापूजी वर्धा आ गये। यहां से हरिजनोद्धार के लिए धन इकट्ठा करने के लिये करीब 10 महीने तक बापूजी ने रेल तथा कार से भारत भ्रमण किया था। इस अवधि में मीरा बहन सतत उनके साथ रहीं। बापूजी की पार्टी में सबसे छोटी अवस्था की मेरी बहन- उमा अग्रवाल थी। उसने सभी का स्नेह पा लिया था, विशेषकर पू० मीरा बहन का अगाध स्नेह तथा विश्वास। रात हो या दिन जब जो काम कहो उमा बड़ी कुशलता से करती थी। कपड़े धोने का हो, या बर्तन मांजने का, साफ-सफाई का हो या बकरी के दूध का मावा बनाने का, बहन उमा बड़ी तत्परता व सावधानी से इन सब कामों को पूरा करती थी। ट्रेन में या कार में, बापू जी उमा को जब कहते 'सो जाओ' तो वह तुरंत सो जाती थी। आधी रात को भी कहो 'उठ जाओ' तो तुरंत उठ कर काम में लग जाती थी। इस तरह पूरे दस महीने बापूजी के पूरे प्रवास में उमा साथ रही और सदा सबको खुश करती रही। उन सबमें भी मीरा बहन को सबसे ज्यादा खुश रखा। पू० बापूजी ने बहन उमा को 'सोती सुंदरी' और 'जागती जोगन' के संबोधन से संबोधित किया है।

बापूजी आते-जाते जब भी सेवाग्राम में रहते तब मीरा बहन छाया की तरह उनकी सेवा में व्यस्त रहती थीं। उनकी प्रखर बुद्धि और कार्य करने की क्षमता को देखकर बापूजी उनकी सलाह / सूचना को बड़ा सम्मान देते थे। 1936 में मगनवाड़ी से सेगांव में रहने के लिये मीरा बहन की सलाह से ही बापू गये थे। वही सेगांव सेवाग्राम नाम से बापू का साधना-धाम बना और अब तो वह राष्ट्रीय तीर्थधाम बन गया है।

वहां 1945 में पू० बापूजी ने मुझे बड़े आग्रह पूर्वक अपने पास रखा था, जैसे पीहर में बेटी मां के पास आकर रहती है। तब मीरा बहन वरूड ग्राम में एक बड़ी साफ सुथरी तथा अत्यंत सादी और सुंदर कुटिया बनाकर रह रही थीं। वहां शांत एकांत में उन्होंने भारतीय धर्म ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया। इसीलिये एकदम अकेले

वहां पूरे स्वावलंबन से रहीं। अपना खाना भी वे स्वयं बनाती थीं। तब एक दिन सेवाग्राम से बापूजी की इजाजत लेकर उन्होंने मुझे दोपहर को खाना खाने के लिये बुलाया और बातचीत करते हुए बड़ी सुघड़ता से खुद खाना बनाया। वह अद्भुत अनुभव था। उस दिन के सात्विक भोजन की खुशबू और स्वाद तो आज भी मुझे मुग्ध करता है।

पू० बापूजी के बलिदान के बाद मीराबहन विदेश चली गईं। वियना के पास के गांवों में ज्यादा दिन रहीं। वहां से प्यार भरे पत्र और शुभ संदेश मुझे मिलते रहे।

अब उनकी जन्म शताब्दी मनाई जा रही है। यही वर्ष श्रद्धेय कुमारप्पाजी, पू० किशोरलाल भाई और पू० महादेव भाई का भी शताब्दी वर्ष है। एक प्रकार से ये बीसवीं शताब्दी के गांधीयुग की 'स्वतंत्रता संग्रामी शताब्दी' ही समझी जानी चाहिये। इस अवसर पर बापू के इन राष्ट्र-भक्त स्नेही स्वजनों की शताब्दी में हमें भारत के नवनिर्माण में समर्पित होने की श्रद्धा दृढ़ करनी होगी।

मीरा बहन : एक संस्मरण

जगदीश प्रसाद उनियाल

मीरा बहन के साथ मेरा सम्पर्क सन् 1952 की शरद ऋतु में हुआ जब श्री कृष्णमूर्ति गुप्ता के दिल्ली आ जाने के बाद मैं उनके साथ काम करने के लिये गया। उन दिनों वे टिहरी गढ़वाल के भीतरी इलाके में भिलंगना घाटी के ऊंचे विस्तारों में स्थित गोपाल आश्रम में रह रही थीं। यह चीड़ के पेड़ों से घिरा, केदारनाथ की बर्फीली चोटियों के मनोरम दृश्य वाला 5000 फुट की ऊंचाई पर स्थित एक जंगल जैसा एकान्त स्थान था। इस स्थान तक पहुंचने के लिए टिहरी से 26 मील की दूरी तय करनी होती थी, कुछ दूर तक तो हाल ही में बनी, धूल भरी मोटर चल सकने वाली सड़क के साथ-साथ और फिर एक चढ़ाई वाले, खच्चर मार्ग पर चढ़कर, जो कहीं-कहीं ढलान वाला भी था। अपनी यात्रा के आखिरी चरण में जब मैं चट्टानी रास्ते पर धर्मपाल के पीछे-पीछे चल रहा था तब मैंने पहली बार आश्रम और मीरा बहन के दर्शन किए जो अपने भगवे कपड़ों में, उस खुले स्थान में इधर से उधर घूमते हुए ऐसी लग रहीं थीं मानो झुटपुटे में कोई दीपशिखा चल रही हो।

जब हम उनकी ओर बढ़े और आदरपूर्वक उन्हें नमन किया तो उन्होंने चमचमाती मुस्कराहट के साथ हमें आशीर्वाद दिया। मैने देखा कि वे लम्बी और भव्य थीं, बिल्कुल सीधी खड़ी चाल से चल रही थीं, और उनके चेहरे से एक ऐसा तेज टपक रहा था जो हर मिलने वाले पर छा जाता था।

वे हमें अपनी कुटिया में ले गईं, जो 12x10 का एक सुसज्जित कमरा था, जिसके बीच में बानों से बुनी एक चारपाई बिछी हुई थी, जो दिन में उनके बैठने और रात में सोने के काम आती थी। दो या तीन लकड़ी की अलमारियां, जिनमें कुछ किताबें और छोटी-मोटी चीजें थीं और आगंतुकों के लिए फर्श पर दो-एक बांस की चटाइयां बिछी थीं। वे अपने बिस्तर पर बैठीं और हम बांस की चटाई पर बैठे। ब्रह्मचारी जी, जो मीरा बहन के लिए खाना बनाते थे और उनकी व्यक्तिगत जरूरतों का ध्यान रखते थे, हमारे लिए सस्ते किस्म के चीनी मिट्टी के बर्तन में चाय लेकर आए और हमने खांड युक्त वह चाय चुस्की ले ले कर पी। धर्मपाल ने मेरा परिचय कराया। वे नम्रतापूर्वक मुस्कराईं और आशा व्यक्त की कि शायद मुझे काम पसंद आएगा। मैंने कहा — मैं इसका इंतजार कर रहा हूं।

जैसा कि बाद में पता चला उनके व्यक्तिगत सचिव के रूप में करने के लिए कुछ ज्यादा काम नहीं था। मीरा बहन प्रतिदिन औसतन 6 पत्र लिखाती थीं, जो मैं साधारण लिपि में ही लिख लेता था और फिर एक पुराने पोर्टेबल टाइपराइटर पर दो उंगलियों से टाइप कर लेता था। मैंने मीरा बहन को एक स्पष्टवादी व्यक्ति पाया। कविता, संगीत और अन्य कई सामाजिक प्रसंगों पर उनके विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति उच्च कोटि की थी।

उनकी अपनी दिनचर्या काफी व्यस्त थी। सुबह मेरे साथ बैठक में कुछ पत्र निकालकर, पिछले दिन के समाचारपत्र पर चर्चा करके, जिसके बीच में मैं हल्की चाय पीता था और वे गाय के दूध के साथ रात भर भिगोकर रखी गई 20 किशमिश लेती थीं। इसके बाद वे पशुओं के बीच में चली जाती थीं। पहले तो दो तीन गायों, जिनसे वे प्यार से बोलतीं, दुलारतीं, थपथपातीं और उनकी पीठ और पेट से कीचड़े हटातीं और फिर उन्हें चरने के लिए बाहर भेज देती थीं। उसके बाद घोड़े को खरहरा करतीं, कुत्तों को दुलारतीं और अस्तबल के सहायकों को उचित हिदायतें देतीं। पशुओं से निपटने के बाद वे खाद के गड्ढे पर जातीं। सही खाद (कम्पोस्ट) प्राप्त करने के लिए वे गोबर और कूड़ा मिलाने में भी कुछ समय लगातीं। उसके बाद बारी आती सब्जी के उद्यान की, जहां वे एक घंटा या इससे भी अधिक समय लगाकर पत्थर उखाड़तीं, खरपतवार हटातीं और पौधों को पानी देकर उनकी देखभाल करतीं।

बहन जी के दोपहर के खाने में और शाम के खाने में भी, ब्रह्मचारी जी द्वारा चक्की से पीसे गए गेहूं के मोटे आटे से बनी दो चपाती, एक गिलास दूध, एक कटोरी मूंग का सूप, एक सब्जी और एक चम्मच गाय का घी होता था। खाने में थोड़े से नमक के अलावा और कोई मसाला नहीं होता था।

दोपहर के खाने के बाद कुछ घंटे के आराम के बाद उनका दोपहर बाद का कार्यक्रम शुरू होता था। मैं उनकी कुटिया में पहुंचकर चटाई पर बैठ जाता और फिर काम शुरू होता। कुछ पत्र पड़े होते, जिनका बहनजी जबाब लिखवातीं।

कभी-कभी यह बैठक लम्बी हो जाती, तो मैं बेचैन हो उठता था और मेरी यह बेचैनी स्पष्ट हो जाती थी। अधिकतर ऐसा होता था कि मैं एक ही ढंग से ज्यादा देर नहीं बैठ पाता, तो वे कहतीं, "झुको मत, सीधे बैठो। मालूम है सीधे बैठना कितना महत्वपूर्ण है।"

शाम के खाने के बाद हम लोग दिन की आखिरी बैठक अर्थात्(पढ़ाई के सत्र के लिए) फिर इकट्ठे हो जाते थे। मीरा बहन के पास कुछ चुनिंदा किताबें थीं। कुछ शीर्षक, जो मुझे याद हैं, वे थे—सेंट फ्रांसिसको, द लिटिल फ्लावर्स, नेहरू की डिस्कवरी आफ इंडिया, विलियम वोत की रोड टु सर्वाइवल, वेस्टन प्राइस की न्यूट्रिशन एण्ड फिजिकल डिजनेरेशन, और यांत्रिक खेती पर अनेक पुस्तकें। मीराबहन पारस्थितिक संतुलन, जैविक खेती, उथला हल चलाना, खाद मिट्टी के परीक्षण के लिए खाद और केंचुओं का प्रयोग व ऐसे ही अन्य कई मामलों की कट्टर पक्षधर थीं। गहरा हल चलाने और कृत्रिम उर्वरकों की वे घोर विरोधी थीं और इन मसलों पर पश्चिमीय देशों के समान विचार वाले व्यक्तियों के साथ उनकी परिचर्चा चिट्ठी-पत्री के द्वारा लगातार चलती रहती थी। वे किसी भी किस्म की चीड़ की प्रजाति के खिलाफ थीं, क्योंकि उसके नीचे कुछ भी उग नहीं सकता और उसके शूल बरसात का पानी जमीन तक पहुंचने से रोकते हैं।

मीरा बहन ढीली सी सलवार और लम्बा व ढीला-ढाला कुर्ता पहनती थीं। उनकी जान-पहचान की महिलाएं, जैसे कि राजकुमारी अमृत कौर, विजय लक्ष्मी पंडित, इंदिरा गांधी व कुछ अन्य, जो पहनी हुई खादी की साड़ियां उन्हें देतीं थीं, उनसे वे अपने लिए कुर्ता बनाती थीं। सलवार बनाने के लिए वे उस कपड़े का इस्तेमाल करती थीं, जो वे अपने काते हुए सूत से बुनवा लेती थीं। कपड़ा तैयार हो जाने के बाद सलवार तो स्थानीय दर्जी से सिलवाकर और कुर्ता स्वयं सीकर वे उसे भगवे रंग में रंगती थीं, जिसके लिए वे एक विशेष प्रकार की मिट्टी का इस्तेमाल करती थीं।

जब मैं उनकी सेवा में गया तब वे एक ग्राम विकास योजना की रूपरेखा पर काम कर रही थीं। अनेक मिलने वाले आए और गए, उनमें से कुछ तो तत्कालीन टिहरी गढ़वाल राज्य के सेवानिवृत अधिकारी और कुछ स्थानीय राजनीतिक कार्यकर्ता थे जो यह जानना चाहते थे कि वे उनके (मीराबहन) के लिए क्या कर सकते है। मिलने वालों में अपेक्षाकृत सम्पन्न ग्रामीण भाई भी थे। योजना के सम्बन्ध में सभी अपने-अपने सुझाव प्रस्तुत करते थे। इस समय साफ-साफ याद नहीं आ रहा है कि वह योजना कैसी चली। यह निश्चित है कि उसका संबंध पशुओं और भेड़ों के प्रजनन और पोषण, गांव वालों को जैविक खेती व खाद बनाने और सिंचाई जैसे कामों की तकनीक सिखाने से सम्बन्धित था। अपने अंतिम रूप में इसे 'भिलंगना परियोजना' कहा गया, जिसमें पैसा लगाने के लिए मीरा बहन को सरकारी अनुदान मिलने की आशा थी।

मीरा बहन ने अपनी 'स्पिरिट्स पिलग्रिमेज' (एक साधिका की जीवन यात्रा) में इस काम के लिए अपनी लखनऊ और दिल्ली की अनेक यात्राओं तथा राजनेताओं और अधिकारियों के साथ हुई अनेक बैठकों का जिक्र किया है। लेकिन परिणाम कुछ नहीं निकला। अधिकारी वर्ग भिलंगना घाटी में सामुदायिक विकास परियोजना की स्वीकृति देने के तो इच्छुक थे - और उन्होंने ऐसा किया भी, लेकिन मीरा बहन और उनके साथी कार्यकर्ता उसे चलाएं, इसके लिए वे तैयार नहीं थे। संक्षेप में वे इस बात की स्वीकृति देने को भी तैयार नहीं थे कि सरकारी पैसे से चलाई जाने वाली योजना, स्वतंत्र रूप से चलाई जाए। वे चाहते थे कि इसका प्रबन्ध सरकार द्वारा नियुक्त किए गए अधिकारी के हाथ में हो, तथा वही उनके विभागों के प्रति उत्तरदायी हो।

इससे मीरा बहन उत्तेजित हो उठीं। नेहरू, नंदा और पं० पंत जैसे राजनीतिक नेताओं की सारी मीठी-मीठी बातों का फल कुछ नहीं निकला। वे वापस गोपाल आश्रम आ गईं, लेकिन अब वहां भी उनके लिए कोई आकर्षण नहीं रह गया था। उन्होंने वहां से चले जाने का निर्णय किया। जब वे दिल्ली गई थीं, तो अचानक उनकी भेंट बख्शी गुलाम मुहम्मद से हो गई जो उस समय कश्मीर के प्रधानमंत्री थे। उन्होंने उन्हें कश्मीर में आकर काम करने का निमंत्रण दिया, जिसे मीरा बहन ने स्वीकार कर लिया।

गाय, घोड़ा, कुत्ता, खेती के औजार और घरेलू सामान, जो वे अपने साथ नहीं ले जा सकती थीं, वहीं के कार्यकर्ताओं और गांव वालों को सौंपकर वे उस जमीन के टुकड़े और उस पर बने भवन का त्याग कर चली गईं।

1954 की गर्मी में जब वे, रामेश्वर दत्त, मेरी पत्नी और मुझको साथ लेकर कश्मीर के लिए रवाना हुईं तो उनके पास बैंक में कहने को भी पैसा नहीं था, बस अगर कुछ था तो परमात्मा में अटूट विश्वास।

बख्शी गुलाम मुहम्मद और उनका वादा दोनों ही सच्चे थे। मीरा बहन ने कश्मीर के अधिकारियों को, ढोरों (पशुओं) के विकास के सम्बन्ध में अपनी योजना के बारे में बताया। उन्होंने बताया कि कश्मीर जैसे पहाड़ी इलाके के लिए पशुओं की ऐसी नस्ल चाहिए जो सूखे को सहने की ताकत रखती हो; दूध ज्यादा दें; और बहुत ज्यादा बड़े और भारी न हों। ऐसे पशुओं के प्रजनन के लिए शुरू में वे एक केंद्र चलाएंगीं। अधिकारी वर्ग सहमत हो गया। कुछ ही समय में, श्रीनगर-सोनमर्ग मार्ग पर, श्रीनगर से लगभग 25 मील दूर, बारावाला नाम की जगह पर खेती-बाड़ी वाली कुछ जमीन ले ली गई और उस पर भवन बनाये गये। पशु चिकित्सकों का छोटा सा दल भी नियुक्त किया गया और स्थानीय बीमार ग्रामीण भाइयों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए एक डिस्पेंसरी भी शुरू की गई।

अब रही बात पशुओं की। लाल सिंधी, थरपारकर, साहिवाल, हरियाणवी जैसी कई जानी पहचानी भारतीय नस्लों पर विचार किया गया और उन्हें रद्द कर दिया गया। वे या तो सूखा सहन करने लायक नहीं थीं या

फिर ज्यादा दूध नहीं देती थीं। अंत में मीरा बहन ने अंग्रेजी पशुओं की एक छोटी, तगड़ी नस्ल 'डेक्स्टर' को चुना। इस नस्ल का लाभ यह था कि इसके पशु छरहरे बदन के होते थे और स्थानीय गायों की अपेक्षा अधिक दूध देते थे। उन्होंने इंग्लैंड में प्रजनन करने वालों से सम्पर्क किया और एक क्वेकर से सौदा तय कर लिया। कुछ समय बाद एक सांड और 6 गायों का झुंड पानी के जहाज से बम्बई पहुंचा और वहां रो कश्मीर लाने के लिए मीरा बहन स्वयं पशुओं के ट्रकों में उनके साथ सारे रास्ते रहीं।

पशुओं के आ जाने से, सारा काम ठीक-ठाक चलता रहा। हमने गांव वालों तक यह बात पहुंचा दी कि वे अपनी गायों को गर्भस्थापन के लिए हमारे केंद्र में भेज सकते हैं। इसका कोई खास असर नहीं हुआ, लेकिन तब हमने सोचा कि ऐसा तो होना ही था।

सब कुछ ठीक-ठाक सा चलता लग रहा था। पशु अपने-अपने बाड़ों में थे, दो घोड़े अपने अस्तबल में, मुर्गियां अपने जालीदार दड़बे में, कुत्ते अपने कुत्ताघरों में और डिस्पेंसरी में लगने वाली लाइन प्रति दिन लम्बी होती जा रही थी। कई लोग इस केंद्र को देखने भी आए जिनमें कुछ अति विशिष्ट व्यक्ति भी थे, जैसे पं० गोविन्द बल्लभ पंत, यू०एन०ढेबर, युवराज कर्ण सिंह (जो तब मात्र 22 वर्ष के थे), और संयुक्त राष्ट्र द्वारा नियुक्त जनमत संग्रह प्रशासक एडमिरल पाइजी। उन सबको मीरा बहन के शट्कोणी कमरे में रखी इकलौती चीड़ की बैंच पर बैठाया जाता, बिस्कुट और मिट्टी के चौड़े मुंह वाले बर्तनों में हल्की चाय नाश्ते में दी जाती और फिर मीरा बहन उन को बतातीं कि इस काम से क्या-क्या उपलब्धियां होंगी। देखने से ही लगता था कि वे सब प्रभावित होते थे।

अफसोस, यह अच्छा काम अधिक दिन नहीं चल पाया। हमारी जानकारी के बगैर, तूफानी बादल घिर आए। जम्मू व कश्मीर की सरकार ने पशु विकास के बारे में सरकार को सलाह देने के लिए सरदार दातार सिंह को नियुक्त किया और दातार सिंह के रवैये से जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि इस मामले में उनके अपने कुछ विचार थे। उसकी सलाह पर, चश्मा शाही में एक पशु केंद्र शुरू किया गया, जहां दूध के उत्पादन पर अधिक जोर था और इस काम के लिए साहीवाल प्रजाति के पशु चुने गए, अर्थात भारी भरकम शरीर वाले, जिन्हें खाने के लिए भी ढेरों चारा चाहिए था। मीरा बहन ने दातार सिंह से भेंट करके उन्हें समझाने की कोशिश की, लेकिन वह अपनी ही बात पर अड़े रहे।

मीरा बहन ने अपने प्रयास छोड़ दिए। यदि सरकार ही कश्मीर में भारी भरकम शरीर वाले लम्बे हाथ पैर वाले पशु लाकर तबाही का रास्ता अपनाने पर तुली है तो वे कम से कम इसमें न तो शामिल ही होंगीं और न ही इसकी साक्षी होंगीं। उन्होंने जल्दी से जल्दी उस स्थान से जाने के बारे में तय कर लिया। लेकिन पहले डेक्स्टरों के झुंड से मुक्ति पानी थी।

इसमें कठिनाई नहीं हुई। मीरा बहन के अनुरोध पर हिमाचल प्रदेश सरकार उनसे उनके पशु लेने के लिए तैयार हो गई। बड़े प्यार से उन्होंने अपने पशुओं को बिदा किया और खड़ी-खड़ी यह सब तब तक देखती रहीं, जब तक कि उन्हें ले जाने वाले ट्रक मोड़ से मुड़कर आंखों से ओझल नहीं हो गए।

मीरा बहन, अपने परिवार के साथ, जिसमें अब एक और लड़का शामिल हो गया था, जिसे रामेश्वर दत्त की सहायता के लिए रखा गया था, एक बार फिर सड़क पर थीं। यह 1957 की गर्मियों की बात थी। यह पूरा दल देहरादून के आस-पास मसूरी, राजपुर, चकराता के पहाड़ी इलाकों में अपना ठिकाना ढूंढ़ने के लिए घूमता फिरा। कई महीने की खोज के बाद भी नतीजा कुछ नहीं निकला। अंत में मीरा बहन ने एक बार फिर टिहरी-गढ़वाल के

भीतरी इलाकों में स्थान खोजने का निर्णय लिया और आखिरकार ऋषिकेश - टिहरी राजमार्ग पर चम्मा के पास 5,500 फुट की ऊंचाई पर एक जगह ढूंढ़ निकाली, जो जंगलों से घिरी थी और जहां से बर्फीली चोटियां दिखाई देती थीं। जो कुछ थोड़ा-बहुत पैसा उनके पास बचा था, उससे उन्होंने वहां एक कुटिया बनाई और उसका नाम रखा 'पक्षी कुंज'।

इस नए शांत स्थान पर वे मात्र दो साल ही रहीं। पहाड़ी ऊंचाइयों का असर उनके स्वास्थ्य पर होने लगा था। अपनी शक्ति को किसी ठोस काम में न लगा पाने के कारण वे बेचैन भी होने लगी थीं। अब उन्होंने भारत छोड़ने का निर्णय किया, विशेष कर इसलिए, क्योंकि लंदन में उनके प्रकाशक 'स्पिरिट्स पिलग्रिमेज' का काम देख रहे उनके साहित्यिक एजेंट, कर्टिस ब्राउन का विचार था कि यदि वे व्यक्तिगत रूप से वहां मौजूद होंगी तो बातचीत में सहूलियत रहेगी। वे भी यही महसूस करती थीं कि उनके दिल की हालत और बढ़े हुए रक्त चाप के लिए शायद इंग्लैण्ड की जलवायु ठीक रहेगी।

एक बार फिर उन्होंने अपना सारा घरेलू सामान स्थानीय कार्यकताओं में बांट दिया तथा जमीन और कुटिया वहां के गांव वालों के आसरे छोड़कर मुझे साथ लेकर इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गईं। इंग्लैण्ड में थोड़े-थोड़े समय के लिए हम उनके मित्रों और प्रशंसकों के मेहमान बन कर रहे। यहां आकर मीरा बहन अनेक कारणों से अनमनी सी रहीं और वे एक ऐसे अंधे मोड़ पर पहुंच गईं, जहां कुछ करने को नहीं था। अब उन्हें मेरी सहायता की भी कोई आवश्यकता नहीं रही और जब मैं अक्टूबर 1959 में इंग्लैण्ड से वापस लौटा तो वे वहीं पर रहने का दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं। अब फिर कभी मेरी उनसे भेंट नहीं हो पाएगी, ऐसा मेरे मन में एक विचार कौंधा।

अब बहन जी, बापू, बीथोवन और रोमां रोलां के साथ के लिए, ब्रह्म में लीन हो चुकी हैं। इस संसार के मतभेद और असंगतियां उस परम मौन को, जिसका अब वे एक हिस्सा बन गयी हैं, कभी विक्षिप्त नहीं करेंगीं। लेकिन वे सभी, जो उन्हें जानते थे, काफी समय तक उन्हें सौंदर्य और अच्छाई के अवतार के रूप में याद रखेंगे। अंत में शायद यही कहना उचित होगा कि "भगवान उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें"।

मीरा बहन और 'बापूराज'

सूर्यकान्त पारिख

सूर्यकान्त पारिख एक सक्रिय कार्यकर्ता हैं। उन्हें सन् 1952-53 में लगभग एक वर्ष 'पशुलोक' तथा टिहरी गढ़वाल क्षेत्र में मीरा बहन के साथ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ था।

भारत के साथ मीरा बहन का गहरा आध्यात्मिक सम्बन्ध था। उन्होंने जीवन का सुख-चैन त्यागकर गांधीजी के नेतृत्व में देश के गरीब लोगों की सेवा की। 1945 में मीरा बहन उत्तर प्रदेश के देहरादून और टिहरी गढ़वाल क्षेत्र में किसानों और पर्वतीय जनता के बीच रचनात्मक कार्य करने के उद्देश्य से उधर पहुंची। उन्होंने 'किसान आश्रम' फिर 'पशुलोक' स्थापित किया। बाद में अन्य कामों के साथ-साथ उन्होंने 'बापूराज' पत्रिका के माध्यम से गांधी दर्शन का प्रचार-प्रसार किया। यह पत्रिका भारत के भविष्य के लिए गांधीवादी व्यक्तियों का घोषणा-पत्र बनी।

मीरा बहन को प्रकृति और संगीत से तो प्रेम था ही, वे हमारी पारिस्थितिकी के बारे में भी कम चिन्तित नहीं थीं। उन्होंने वनों की कटाई से उभरने वाले खतरों के बारे में उन दिनों जो लिखा था वह आज सच हो रहा है।

उन्होंने यह चेतावनी भी दी थी कि हम गांधीजी की शिक्षा को न भूलें। आजकल हमारी राजनीति में जो कुछ हो रहा है उससे यह सिद्ध होता है कि उनका यह कहना कितना सही था कि भारत के करोड़ों लोगों के लिए केवल गांधीजी द्वारा प्रतिपादित मार्ग ही सत्य है।

'बापूराज' पत्रिका के उद्देश्यों की व्याख्या करते हुए मीरा बहन ने लिखा था — "इसका उद्देश्य ग्रामवासियों को आत्मनिर्भरता वाली ऐसी अर्थव्यवस्था के बारे में समझाना है जिसकी कल्पना गांधीजी ने की थी। साथ ही ग्रामवासियों से यह अनुरोध भी करना है कि वे एक सरल विकेन्द्रित समाज के लिए सामूहिक मांग करने में एकजुट हों।" लेकिन वे इस पत्रिका को लम्बे अरसे तक जारी नहीं रख सकीं। 1953 के प्रारम्भ में उन्हें इस पत्रिका का प्रकाशन रोकना पड़ा।

मेरा सौभाग्य था कि उनके मार्ग दर्शन में मुझे भी हिमालय के क्षेत्र में कुछ सेवा कार्य करने का मौका मिला।

मीरा बहन

आर०के० पाटिल

मीरा बहन से मेरी भेंट मात्र दो बार हुई। पहली भेंट स्वतंत्रता से पहले सेवाग्राम आश्रम में हुई थी और दूसरी सन् 1950 में पशुलोक में हुई। इस कारण विशेष उल्लेखनीय तो कोई संस्मरण नहीं है, लेकिन मैं उनके अद्भुत व्यक्तित्व से अत्यंत प्रभावित हूं। ध्येय के प्रति पूर्ण निष्ठा और समर्पण, अपनी आत्मा के निर्देश पर सहज जीवन त्यागकर दूसरी तरह का जीवन जीने की तीव्र उत्कंठा आदि को देखते हुए यदि मैं भारतीय ग्रामीण विकास में उनके योगदान की भूरि-भूरि प्रशंसा नहीं करूं तो शायद भारतीय के नाते मैं अपने कर्तव्य से वंचित रह जाऊंगा। एनी बेसेंट, चार्ल्स एंड्रूयूज, लार्ड पैथिक लारेंस, सर स्टैफोर्ड क्रिप्स, जार्ज लान्सबरी आदि अनेक अंग्रेज भारतीय स्वाधीनता के पक्षधर रहे हैं। मीरा बहन भी उनमें से एक हैं, परन्तु इससे भी अधिक उनकी अन्तर्रात्मा के भीतर एक आध्यात्मिक प्रेरणा थी जिसने उन्हें पहले रोमां रोलां के पास और फिर महात्मा गांधी के सान्निध्य में लाकर खड़ा कर दिया। अपने पीछे वे अपनी आत्मकथा छोड़ गई हैं जिसका नाम 'एक साधिका की जीवन यात्रा' है। इस ग्रंथ में स्पष्ट है कि किस प्रकार उनका ब्रिटिश नौसेना के एडमिरल की सन्तान के रूप में राजसी पालन पोषण हुआ और किस प्रकार बेचैन आत्मा के संकेत पर उसने स्वयं को इस काल के महानतम व्यक्तित्व —महात्मा गांधी को समर्पित कर दिया।

मैंने जब मीरा बहन की जीवनी पढ़ी तो लौंगफैलो की कविता 'ए साम आफ लाइफ' का स्मरण हो आया कि उसी कविता के अनुरूप मीरा बहन ने भी समय की छाती पर अपने पदचिन्ह छोड़े हैं। ऐसा कौन सा कारण था जिससे प्रेरित होकर उसने उस मार्ग को अपनाया जिस पर सामान्य व्यक्ति भी चलने का साहस नहीं जुटा सकता। सादगी और सेवा का जीवन व्यतीत करने के लिए उसने अपने नैसर्गिक स्त्री-बोध का, उस सुखोपभोग और राजसी जीवन का त्याग कर दिया जो कि एडमिरल की बेटी होने के नाते उसे सहज उपलब्ध था। यही प्रेरणा उसे पहले रोमां रोलां के पास फिर महात्मा गांधी के पास खींच लाई थी और स्वतंत्रता के बाद उसे उत्तर प्रदेश सरकार की 'अवैतनिक विशेष सलाहकार' बनने को भी प्रेरित किया। कैसी विचित्र बात है? कैसा परिवर्तन है?

मीरा बहन को बीथोवन के संगीत से लगाव था। प्रकृति, पर्वत, वन और पक्षियों में उनका मन रमता था। वह गांधी जी के लिए हिमालय की तलहटी में झोंपड़ी डालना चाहती थी। वह गाय और घोड़ा पालती थी। खुद गायों का दूध बहुत कौशल से दुहती थी। उनकी ऐसी तूफानी जिन्दगी के अनेक रंग थे। वह झोंपड़ियों का डिजाइन बनाती और स्थानीय सामग्रियों से ही झोपड़ियों का निर्माण कर लेती थी। उसमें अद्भुत नेतृत्व क्षमता थी

जिसने ग्रामीण विकास कार्य में अनेक युवकों को आकर्षित किया।

गांधी जी की मृत्यु के बाद कृतज्ञ भारत ने उसे आस्ट्रिया में बसने में सहायता दी। वहीं उन्होंने इहलीला समाप्त की।

जिन दिनों मीरा बहन महात्मा गांधी के साथ आगाखां पैलेस में कैद थीं, उन्हीं दिनों उसके मन में ग्रामीण विकास कार्य स्वतंत्र रूप से करने की इच्छा जागी। गांधी जी ने उसे प्रोत्साहित किया। इस तरह हिमालय की तलहटी में 'किसान आश्रम' की स्थापना हुई। गांधी जी ने इसका दूसरा नाम 'मजदूर आश्रम' भी सुझाया था। जब वह उत्तर प्रदेश सरकार के 'ग्रामीण विकास विभाग' में 'अवैतनिक विशेष सलाहकार' हो गई तो उन्होंने किसान आश्रम तो सरकारी विभाग को सौंप दिया और पशुपालन विभाग की ओर से ऋषिकेश के पास 2000 एकड़ के वन क्षेत्र में पशुलोक की स्थापना की जहां पशु-प्रजनन, पालन और विभाग के अन्य कार्य सम्पादित होने लगे। किसान आश्रम और पशुलोक दोनों स्थानों पर उन्हें कटु अनुभव भी हुए।

आर्थिक कठिनाइयां और लालफीताशाही,समस्यायें खड़ी करती रहीं। उनका अनुभव भी कुछ सीमा तक अन्य गांधीवादी कार्यकर्त्ताओं जैसा ही कड़वा रहा। किसान आश्रम, पशुलोक और दो अन्य आश्रम— गोपाल आश्रम और गौबल भी असफल रहे। मीरा बहन का निष्कर्ष था कि अन्य सरकारी परियोजनाओं को हाथ में नहीं लेना है।

जिन दिनों वे पशुलोक में थीं उन्होंने दिल्ली में गांधी जी की हत्या का समाचार सुना। लोग उन्हें दिल्ली जे जाना चाहते थे। लेकिन वे नहीं गईं। बापू के वे शब्द, "ईश्वर के प्रति निष्ठा रखो और जहां जो कर रही हो वही करती रहो" साथ ही सात वर्ष पूर्व उन्होंने लिखा था "मृत्यु के बाद अन्तिम दर्शन करने का कोई अर्थ नहीं है तुम जिस आत्मा को प्यार करती हो, वह सदा तुम्हारे साथ रहेगी" उनके कानों में गूंजते रहे। इसलिए कई साथियों के आग्रह के बाद भी उन्होंने दिल्ली जाने का विचार त्याग दिया। दूसरे दिन प्रातः काल से ही वे पहले की तरह काम-धन्धे में लग गईं।

लेकिन बार-बार यह ख्याल कि "अब गांधी जी से पत्राचार नहीं हो सकेगा, अब गांधी जी के लिए झोंपड़ी बनाने की कोई जरूरत नहीं होगी, जिसमें वे आकर रहते", उन्हें मथता रहा और नये परिवेश में सामंजस्य स्थापित करना कठिन हो चला।

मीरा बहन के जीवन पर दृष्टि डालने से सहज ही मन में यह प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य अपने भविष्य का निर्णय करने को स्वतंत्र है या वह जो करता है वह अदृश्य नियति का निर्णय होता है? स्वतंत्र मनोकामना और नियत भाग्य के बीच का यह विवाद प्राचीन है। इस दार्शनिक प्रश्न का अभी तक कोई दो टूक उत्तर किसी के पास नहीं है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है और वह वही करता है जो तर्क संगत होता है। किन्तु अन्तिम विश्लेषण के रूप में देखा जाए तो क्या वह उस प्रकार के निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र है जिन्हें वह लेता है? मीरा बहन का जीवन यह दर्शाता है कि मानव की मूक और प्रबल प्रेरणा ही उसके सारे चयनों को प्रभावित करती है और इस प्रकार उसके भूत और भविष्य दोनों को ही शासित कर डालती है। हिन्दू दर्शन इसे पिछले जन्म के कर्मों का फल मानता है तथा इसे नियतिवाद के सिद्धान्त की ओर धकेलता है। जो भी हो, मीरा बहन का सम्पूर्ण जीवन ध्रुव तारे की भांति आने वाली पीढ़ियों के लिए सदा दमकता रहेगा जो यह बताता रहेगा कि जब मनुष्य अपने विवेक के निर्देशों का स्वतंत्र

रूप से पालन करता है और उसी अनुरूप जीवन को ढालने का प्रयास करता है तो वास्तव में क्या उपलब्धि होती है। लौंगफैलो की 'साम आफ लाइफ'. (Psalm of Life) कविता से इसकी समाप्ति करना उचित होगा :

श्रेष्ठ पुरुषों का जीवन
हमें याद दिलाता है
कि हम अपने जीवन को
दिव्य बना सकते हैं।

और संसार छोड़ने के बाद
समय की रेत पर पद चिन्ह छोड़ सकते हैं।

ऐसे पद चिन्ह जो कोई दूसरा
जीवन धारा में बहता हुआ,
टूटे जहाज पर सवार
और एकाकी बन्धु देखे
तो उसके भग्न हृदय में
फिर नयी आशा संचारित हो जाए।

(मूल अंग्रेजी से अनूदित)

मीरा बहन

निर्मला गांधी

मेडेलिन स्लेड 1925 में भारत आई। आते ही उसने ब्रिटिश परिधान उतार फेंका और खुरदरी मोटी खादी पहनने लगी। थोड़े ही दिनों में हिन्दी पढ़ना, लिखना, बोलना सीख गई। वह लम्बी और देखने में शालीन लगती थी। महज 33 वर्ष की आयु में वह आश्रम में आई और आते ही कपड़ों की धुलाई, पाखाने की सफाई आदि जैसे काम भी उत्साह से करने लगी। घंमंड तो उसे छू ही नहीं गया था।

उसका तापसी जीवन देखकर बापू ने उसे मीरा बहन नाम दिया और तब से साबरमती आश्रम में हर कोई उसे इसी नाम से बुलाने लगा।

उसे अनेक शिल्पों में प्रवीणता थी। कागज की कटाई का बहुत चाव था। वह कैंची से कागज काट-काटकर अपने पशु-पक्षियों की आकृति बच्चों के मनोरंजन के लिए बनाती थी। उसे संगीत से गहरा लगाव था। वह बांसुरी भी बहुत अच्छा बजाती थी।

बापू से उसे गहरा लगाव था। वह उन्हें अपना गुरु मानती थी। वह बापू के लिये कपड़े धोने, सफ़ाई करने, खाना बनाने आदि सब काम करती थी। बापू उसे समझाने की कोशिश करते थे कि तुमने अपना देश छोड़ा है, इतने बलिदान किये हैं, वे इसलिए तो नहीं कि तुम मेरी चाकरी करो। तुम्हें समाज के लिए काम करना चाहिए।

मीरा बहन अपनी घोड़ी 'सजीली' पर सवार होकर सेवाग्राम के आस-पास के गांवों में निकल जाती थी और वहां लोगों से मिलती और उनकी समस्याओं को सुनती थी। वह बीमारों को दवा देती और ग्रामीणों को कताई सिखाती थी। बापू ने उसकी हिन्दी प्रांजल बनाने के लिए गुरुकुल में भेजा। वह शुद्ध और प्रांजल हिन्दी बोलती थी और हिन्दी बोलते समय अंग्रेजी का एक शब्द भी उसके मुंह से नहीं निकलता था।

जब बापू कुछ दिन सन् 1935 में मगनवाड़ी में रहे तो मीरा बहन भी बापू के साथ टूटे पेड़ों के तने पर चबूतरे पर बनी झोंपड़ी में रहीं।

सन् 1930-1932 में मीरा बहन ब्रिटेन और अमरीका के अपने मित्रों को अंग्रेजी सरकार द्वारा भारतीयों पर जो जुल्म होता था, उसका विवरण भेजा करती थी। इससे भारत के प्रति विश्व जनमत को अनुकूल बनाने की दिशा में बहुत मदद मिली।

मीरा बहन के लिए मैं क्या लिखूं? हमारे देश के आधुनिक भारतीय इतिहास में उनका स्थान बेजोड़ है। कोई विश्वास नहीं कर सके, उतना उनका जीवन उज्ज्वल और त्यागमय था।

मीरा बहन का नया सेवा-मन्दिर

दामोदर दास

"मीरा बहन, इस मिट्टी के तवे पर दलिया बनेगा क्या?" "मैं दलिया वहां खाऊंगी ही नहीं" श्री महावीर प्रसाद पोद्दार को जबाब देते हुए मीरा बहन ने कहा, "लेकिन आप लोग कभी मेरी पहुनई स्वीकार करें, तो आपको दलिया भी खिला सकूंगी।"

उस दिन सवेरे के पहर खूब ठंड में मीरा बहन अपना नया 'सेवा-मन्दिर' बनाने जा रही थीं। साथ में श्री जमनालाल बजाज, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, श्री पोद्दार जी, आचार्य धर्माधिकारी तथा अन्य सज्जन थे। मीरा बहन ने अपने साथ उतना ही सामान लिया था, जितना एक आदमी आसानी से लेकर चल सकता है। गृहस्थी के इस सरंजाम में मिट्टी के तीन तवे भी थे। यह ग्राम्य मनोवृति की पहचान थी।

मीरा बहन का यह नया घर या सेवा-मन्दिर वर्धा से लगभग चार मील दूर 'सेगांव'नामक एक छोटे से ग्राम में बनने वाला है। यहां 150 घरों की बस्ती है, और जनसंख्या 550 है। हरिजन भी यहां काफी संख्या में हैं।

हम लोग गरम-गरम जुवार का हलवा खा रहे थे और इधर महार आदि हरिजन भाई सभा के लिए जमा होते जाते थे। सभापति बनाये गये थे बाबा साहेब देशमुख, जिन्हें हरिजनों से बहुत प्रेम था तथा जो काका कालेलकर के मेहमानों में से एक थे। मीरा बहन का परिचय देते हुए जमनालाल जी ने कहा -- "मीरा बहन आप लागों के गांव में रहने के लिए आई हैं। यह एक अंग्रेज महिला हैं और यह बड़े सुख व आराम में पली हैं। आज आप लोगों के गांव में रहने आ रही हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि आप लोग यह समझने लग जाएं, कि अब हमारे तमाम दुखों का अन्त हो गया, हमें अच्छी नौकरी मिल जायेगी और खूब आराम से रहेंगे। मीरा बहन के पास रूपया-पैसा नहीं है। वे तो फकीरी बाना धारण करके आपकी सेवा करने आई हैं। अभी दो-तीन महीने तो यहां का अध्ययन करेंगी। अध्ययन के पश्चात ही विचार कर सकेंगी कि वे यहां रहकर आप लोगों की क्या सेवा कर सकती हैं। मीरा बहन को आप उनके काम में सहायता दें। आपका सहयोग और प्रेम पाकर ही वे आपकी सेवा कर सकेंगी।"

जमनालाल जी व बाबा साहब देशमुख वाढोनावाले इस गांव के मालगुजार हैं। अतः अपने बारे में भी इस सिलसिले में जमनालाल जी ने दो शब्द कह दिये, बोले -- "मीरा बहन इस गांव में रहें यह तो हमारे लिये प्रसन्नता की बात है। हमें खूब सावधानी रखनी पड़ेगी। क्योंकि अगर अब हमारे गांव वालों ने जरा भी गलती की तो मीरा बहन पूज्य बापूजी के पास वह शिकायत ले जायेंगी, लेकिन मैं तो यह सोचता हूं कि यह आप लोगों की सेवा करने

के लिए इतना कष्ट उठाकर यहां रहना चाहती हैं तो हमें खुशी ही होगी अगर वे हमारी त्रुटियां हमें सुझा सकेंगी। मुझे यदि यह मालूम हो जाए कि यहां के लोग मुझसे असन्तुष्ट हैं तो मैं अपनी मालगुजारी दूसरे को देने के लिये सदा तैयार हूं।"

प्रार्थना के बाद श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने कहा - "मैं इसी तरह अपनी मीरा बहन का घर देखने फिर कभी आऊंगी। उस वक्त मैं देखूंगी कि ये बच्चे आज की भांति गन्दे नहीं होंगे और आपके गांव की ये गलियां भी साफ होंगी, आपके घर और आंगन भी स्वच्छ होंगे। लेकिन यह तभी हो सकता है जब आप लोग मीरा बहन को उनके सेवा कार्य में पूरा-पूरा सहयोग दें।" उपस्थित हरिजनों और अन्य लोगों ने बड़े प्रेम और शान्ति से अपने पाहुनों की हितभरी बातें सुनीं।

मीरा बहन मेरी स्मृति में

मारजरी साइक्स

मीरा बहन की प्रमुख स्मृति मेरे मन में तब की है जब उनसे पहली बार और अन्तिम बार भेंट हुई थी।

पहली भेंट तब हुई जब मैं 1938 के दिसम्बर में सेवाग्राम गई। मीरा बहन गांधी जी की कुटिया की पिछली दीवार पर चर्खे के चक्र और पवित्र चिन्ह 'ॐ' को गुंथी हुई मिट्टी से अंकित करने में लगी हुई थी। बहुत तल्लीन और मग्न थी। वह मेरी तरफ देखकर मुस्करायीं।

अन्तिम भेंट लंदन में हुई। मीरा बहन आस्ट्रिया में बसने जा रही थी, जहां वह अपने दूसरे जीवन नायक बिथोवन के संगीत में खो जाना चाहती थी। मित्र समाज (क्वेकर्स) की सालाना बैठक हो रही थी। वहां शाकाहार में रुचि रखने वाले कुछ लोगों को आमंत्रित किया गया था और मीरा बहन उस बैठक में भाषण देने वाली थीं। उस बैठक में मैं खासतौर से मीरा बहन से ही मिलने गयी थी।

श्रोताओं में से किसी ने पूछा कि अंडों के बारे में आपके क्या विचार हैं? अलैंगिक रूप से उत्पन्न अंडे खाना ठीक रहेगा? मीरा बहन विनोदपूर्वक बोली-"मैं एक अंग्रेजी फार्म में ही बड़ी हुई। मैं जानती हूं कि मुर्गियों को मुर्गों का सान्निध्य पसन्द है। उन्हें इस सुख से क्यों वंचित किया जाए?" इसके बाद उन्होंने क्या कहा पूरा तो याद नहीं है, मगर सार यह था कि अंडे खाओ या अंडे मत खाओ, लेकिन मुर्गे-मुर्गियों के सहज जीवन में दखलन्दाजी मत करो। उन्हें अपनी जिन्दगी अपने ढंग से जीने दो।

यह एक ऐसा संदेश है कि जिसे आज के उदंड और स्वार्थी मनुष्यों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए।

ममतामयी मीरा बहन

सुन्दरलाल बहुगुणा

मुझे जीवन की दिशा, खास तौर से पर्वतीय गांवों की सेवा करने की दिशा, स्व० मीरा बहन जी से मिली। वे सन् 1949 की बरसात में अपने घोड़े ‘माना’ पर सवार होकर टिहरी आई थीं और सिमलासू की लाल कोठी में टिकी थीं। उनके साथ प्रथम साक्षात्कार में मुझे मां की ममता मिली थी। इसलिए कुछ वर्षों के बाद जब उन्होंने गेंवली गांव में गोपाल आश्रम की स्थापना की तो मैं टिहरी से 40 किलोमीटर की पैदल यात्रा कर अक्सर उनके पास चला जाता था। वे वहां से ‘बापूराज पत्रिका’ का सम्पादन करती थीं। इस कार्य में उनकी सहायता करने के अलावा हम उनके साथ सब्जी की क्यारियों में काम करते और गायों की सेवा करते थे। उनका प्रेम मनुष्य और पशु—चाहे आश्रम के कुत्ते ‘भोलानाथ’ और ‘शक्ति’ हों और चाहे ‘बालगंगा’ और ‘धौली’ गायें — समान था, लेकिन सबसे अधिक आश्चर्यजनक तो चूहों के लिए भी उनका प्यार था।

एक दिन मक्का के खेत में गोडाई करते-करते दीवाल से एक चूहा बाहर आया। हम तो इसे मारने के लिए बिल्ली लेकर आये थे लेकिन बहन जी उसे मक्की का भुना हुआ भुट्टा खिला रही थीं। चिड़ियायें उनके पास किशमिश खाने के लिए आती थीं।

एक बार इस इलाके में बाघ ने उत्पात मचाया। गांव के लोगों ने कहा “बहिनजी यह तो गायों को मार रहा है। इसे फन्दा बना कर मारना चाहिए।” फन्दा बनाया गया, उसके अन्दर बकरी बांधी गई। सबको आशा थी कि अब तो जालिम बाघ पकड़ा जाएगा। सुबह हुई, फन्दे का दरवाजा बन्द था। पर वहां बाघ नहीं, बकरी थी। बहन जी ने लोगों से कहा - “मुझे रात को नींद नहीं आई। मैंने सोचा बाघ को धोखे से क्यों मारा जाए। इसलिये मैंने फन्दे का दरवाजा बन्द कर दिया था।”

मीरा बहन जन्मी तो थीं ब्रिटेन के नौसेनाध्यक्ष स्लेड के घर, लेकिन राजसी ठाठ-बाट के बीच पली यह युवती, रोमां रोलां द्वारा लिखित गांधीजी की जीवनी को पढ़कर अपने साम्राज्यवादी देश की जड़ों को उखाड़ने वाले गांधी के साथ शामिल होने के लिए नवम्बर सन् 1925 में भारत आ गईं। एक सच्चे भक्त की तरह उसने गरीब लोगों जैसा जीवन अपना लिया। लंकाशायर के सूती मिलों को चुनौती देने वाला चर्खा उनका शस्त्र बन गया। उन्होंने धुनाई, कताई और बुनाई सीख ली। गुरूकुल में जाकर हिन्दी सीखी। आश्रम की सब प्रवृत्तियों में एक सामान्य कार्यकर्ता की तरह जुट गईं।

जब वे गोलमेज सम्मेलन में गांधीजी के साथ गईं तो इंग्लैण्डवासी, साम्राज्यवाद की शत्रु, मीरा को देखकर स्तब्ध रह गये। वे स्वराज्य की लड़ाई में जेल भी गईं और अन्तिम बार आगाखां महल में गांधीजी के साथ जेल में रहीं।

मीरा बहन के लिए यह सब कुछ जीवन की एक साधना थी, इसलिये जब स्वराज्य का सूर्योदय होने वाला था तो उन्होंने सहारनपुर जिले के मूलदासपुर गांव के निकट 'किसान आश्रम' की स्थापना कर सेवा कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद उन्होंने ऋषिकेश के निकट वीरभद्र में 'पशुलोक' की स्थापना कर गोसेवा कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु उनका हृदय तो हिमालय में बसा था, अतः सन् 1951 में उन्होंने टिहरी-गढ़वाल जिले के गैंवली गांव में 'गोपाल-आश्रम' की स्थापना की।

आजादी के बाद सब शीर्षस्थ नेता तो सरकार में चले गये तब मीरा बहन ने महसूस किया कि उनका जनता से सम्पर्क टूट रहा है। इसी बीच अमेरिका के नमूने पर सामुदायिक विकास योजनाओं का श्रीगणेश हुआ। वे इसे भारतीय गावों के लिए अव्यवहारिक मानती थीं। उन्होंने गोपाल आश्रम के आसपास भिलंगना घाटी के गांवों के विकास के लिए बापू जी के सिद्धान्तों पर आधारित ग्राम-विकास की एक योजना चलाने का प्रस्ताव रखा, जिसे नेहरूजी ने तत्काल स्वीकार कर लिया।

परन्तु जब योजना के वास्तविक कार्यान्वयन की बात आई तो नौकरशाही इसमें बाधक बन गई। वे गोपाल-आश्रम बन्द कर काश्मीर चली गईं और वहां पर गायों की सेवा के लिए कंगन के निकट 'गोबल' की स्थापना की।

भारत में मीरा बहन सन् 1958 तक रहीं, यहां पर उनका अन्तिम कार्य टिहरी गढ़वाल में राणीचौरी के निकट 'पक्षीकुंज' में 'एक साधिका की आत्मकथा' के नाम से अपनी आत्मकथा का लेखन था, जिसका अंग्रेजी मूल 'द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज' लौंगमैन्स ने तथा हिन्दी में नवजीवन प्रकाशन ने प्रकाशित किया। वे एक उच्चकोटि की लेखिका थीं। आत्मकथा के अतिरिक्त उन्होंने 'बापू के पत्र मीरा के नाम', 'चयनिका', आदि के संग्रह को संपादित किया है। उनकी अंतिम पुस्तक 'बिथोवन का आध्यात्मिक दर्शन' अभी प्रकाशित होनी है। उन्होंने अपनी हृदयस्पर्शी सरल भाषा में भारतीय संस्कृति के सन्देश को पश्चिम में भी फैलाया। उनकी कलम में ऐसा जादू था कि पढ़ने वाले सम्मोहित हो जाते थे।

जन समस्याओं की तह में जाने की उनकी प्रवृत्ति रही है। 1946-47 में जब वे पहले-पहल हिमालय में आई थीं तो उन्होंने व्यापारिक वानिकी के फलस्वरूप होने वाली तबाही को महसूस कर लिया था। उन्होंने उसी समय अपने लेखों द्वारा बांज (ओक) वृक्षों का विनाश कर चीड़ फैलाने के घातक परिणामों, गूजरों द्वारा ऊंचाई के क्षेत्रों में होने वाले विनाश तथा मोटर सड़कों के विस्तार से पहाड़ों की तबाही के प्रति चेतावनी दी थी। उन्होंने सुझाव दिया था कि खेती और सुरक्षित वनों के बीच चौड़ी पत्तियों वाले पेड़ों की एक पट्टी बनाई जानी चाहिए।

वे अन्त तक हिमालय में पैदा हुए पारिस्थितिकीय असन्तुलन से बेचैन थीं और सरकार व समाज को बांज के वनों को बढ़ाने की सलाह देती रहीं। अपने देहावसान से पूर्व उन्होंने स्व० प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी को लिखा कि वे हिमालय को बचायें। अन्तिम बार उनके दर्शन वियना के निकट उनके निवास स्थान पर 8 जुलाई 1982 को

कर सका था। वे अचेत अवस्था में पड़ी थीं। जब वियना स्थित भारतीय राजदूत उनके पास इन्दिराजी का यह सन्देश लेकर गये कि उनकी इच्छा पूरी होगी, तब उन्होंने क्षीण स्वर में कहा, "उनकी बड़ी कृपा।"

चिपको आन्दोलन का समाचार पाकर वे बहुत खुश हुईं। पहाड़ों को बचाने के लिए जो आवाज उन्होंने कई वर्ष पहले उठाई थी, वही जनता के मुख से मुखरित हो उठी थी। मैंने उनसे अगस्त 1981 में कई वर्षों बाद आस्ट्रिया में मिलने पर कहा था, "बहन जी ! जब आपने हमें जगाया तो हम सोये रहे। अब जागे हैं तो आप इतनी दूर हैं।" उन्होंने कहा, "प्रकृति के पास जाओ, वह हिमालय के पुराने वैभव को लौटायेगी।"

महिमामयी महिला - मीरा बहन

दादा धर्माधिकारी

संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिनका व्यक्तित्व व्यापक चराचर विश्व में शेष रह जाता है। किसी राज्य, देश या सम्प्रदाय की सीमाएं उन्हें बांध नहीं सकतीं। भगवद् कृपा से हमारे देश में, इधर कई वर्षों से ऐसे व्यक्ति आए हैं। ईसाई धर्म की एक विशेषता है कि उसमें मानव-सेवा को ईश्वर भक्ति का साधन माना गया है। ऐसे विश्व मानवों में ईसाइयों की संख्या काफी है।

ऐसे व्यक्तियों में जब प्रमुख महिलाओं की याद आती है तो सबसे पहले याद आती है अम्मा एनी बेसेन्ट की। अन्य ईसाई तो यहां धर्म -प्रचार के लिए आए, लेकिन बेसेन्ट यहां धर्म की दीक्षा लेने आईं। उन्होंने जो अद्भुत कार्य किया वह इतिहास में संस्मरणीय है।

दूसरी जिस महान महिला का स्मरण होता है, वे हैं भगिनी निवेदिता। स्वामी विवेकानन्द की शिष्या बनकर वे भारत आईं और यहां के दर्शन तथा संस्कृति में तल्लीन हो गईं। एनी बेसेन्ट की तो पुस्तकें अनगिनत हैं। भगिनी निवेदिता ने दो-तीन पुस्तकें ही लिखी हैं। वे भी अद्भुत हैं।

इसी परंपरा में एक तीसरी महिमामयी महिला थीं —मीरा बहन (मिस मेडेलिन स्लेड)।

1926 के आस-पास की बात है। बापू, विनोबा के वर्धा आश्रम में अटारी पर रहते थे। उस जमाने में मैं नागपुर में था। बीच-बीच में दर्शनों के लिए आ जाता था। असल में तो मैं विनोबा के लिए आता था। मेरे लिए बापू मेरी पहुंच से बाहर थे। लेकिन उनकी पहुंच से बाहर मैं कैसे रह सकता था। एक दिन उनके कमरे में गया तो देखा कि एक गोरी-गोरी स्त्री सिर मुड़वा कर सफेद साड़ी पहने हुए कुछ लिख रही थी। बापू कातते भी जाते थे और लिखाते भी जाते थे। यह दृश्य देखकर मैं दंग रह गया। प्यारेलाल जी मुझे जानते नहीं थे लेकिन महादेव भाई जानते थे। उन्होंने बतलाया कि यही मीरा बहन हैं, बापू के साथ रहने के लिए यहां आई हैं। साथ ही यह भी मालूम हुआ कि मीरा बहन छाया की तरह बापू के साथ रहती हैं। उनका यह केवल सत्संग नहीं था — जीवन-साधना थी। बापू का खाना-पीना, मल-मूत्र जांचना आदि कई सेवाएं, बड़े भक्ति-भाव से करती थीं। सच्चे अर्थ में वे 'मीरा' ही थीं। बाद में बापू जब सेवाग्राम आये, तो उससे पहले मीरा बहन सेवाग्राम स्टेशन के पीछे पहाड़ी की कोख में रहने लगी थीं- मामूली सी झोंपड़ी में। मिट्टी के ही बर्तनों में पकाती थीं और खाती थीं। एक तरह से सेवाग्राम की बस्ती, अर्थात आश्रम की बस्ती का आरंभ मीरा बहन ने ही किया। असल में सेवाग्राम 'मीराग्राम' ही है। लेकिन वह सब वातावरण अब बदल चुका है।

बापू की मृत्यु के समय वे ऋषिकेश (पशुलोक) में थीं। वहां पर उन्होंने एक 'पशुलोक आश्रम' बसाया था। ऋषिकेश के बाद टिहरी के नजदीक चम्बा में जाकर कुछ दिन रहीं। ईसा की तरह गडरिये का काम करती थीं। जानवरों से बहुत प्रेम था। हमारी परंपरावादी और साम्प्रदायिक जीव दया से मीरा बहन की जीव दया कहीं अधिक व्यापक और सहज थी। एक बार बापू जी के दौरे में वे एक शहर से दूसरे शहर जा रही थीं। तब मोटर के नीचे कोई जानवर दब गया। कई दिनों के लिए उन्होंने मोटर की यात्रा ही छोड़ दी। व्रत के रूप में नहीं, उनसे रहा नहीं गया — ऐसा नवनीत समान मृदुल था उनका हृदय। हर घटना का बहुत गहरा परिणाम उनके जीवन पर होता था। परन्तु हमारा देश उनको रख नहीं पाया। अध्यात्म की डींग जरूर है, लेकिन जीवन निपट व्यवहारी है। दोनों जगहों में मैं गया तो लोग उस साध्वी का गुणगान तो करते हैं, मीरा बहन उनको प्यार करती थीं, लेकिन पहाड़ के लोग उनकी केवल भक्ति ही कर सके, अपना प्यार उन्हें वे नहीं दे सके।

बहु
आत
ईसा

या और
ती में प्या अन्तर
। निन्दा

यूरोप जाने से पहले मीरा बहन ने अपने जीवन की पवित्र गाथा लिखी है, उसे नाम दिया है-'एक साधिका की जीवन यात्रा (द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज)'।

जॉन बैनियन की 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' जगद् विख्यात कृति है। बापू ने आत्मा की कथा नहीं लिखी-'सत्य के प्रयोगों की कहानी' लिखी। लेकिन मीरा बहन ने अपनी आत्मा की जीवन-यात्रा का बड़ा प्रांजल, सरस और सुंदर विवेचन किया है। ऐनी बेसेन्ट की आत्मकथा दूसरी तरह की है, लेकिन मीरा बहन की वह आत्मकथा अद्भुत है, रम्य है, रोचक है, उद्बोधक भी है। मीरा बहन का व्यक्तित्व क्षितिज के भी पार निकल गया। उनकी स्मृति को मेरा नम्र प्रणाम।

मीरा बहन के मार्ग की पुनः खोज

रोजेटा स्पाल्ट

मीरा बहन से मेरी प्रथम भेंट वियना के सीमावर्ती गांव 'शुल्ज' में हुई थी जहां वे एक छोटी सी कुटिया में रह रही थीं। आस्ट्रिया में अपने प्रवास के समय भी वे ऐसी ही कुटिया में रहा करती थीं। उनके विषय में मैंने अपने एक मित्र से, जो उनसे नियमित रूप से मिलता रहता था, सुन रखा था। मैं चूंकि संयुक्त राष्ट्र की एक गोष्ठी में भाग लेने के लिए भारत जाने वाली थी, अतः मैंने उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की।

बिड़ला भवन के एक कक्ष में गांधी जी और उनके अनुयायियों के छाया चित्रों का संग्रह है। एक छाया चित्र में मैंने लन्दन में गोलमेज सम्मेलन के लिए प्रस्थान करते हुए बापू के पास खड़ी खादी के वस्त्र पहने सुन्दर सौम्य मीरा बहन को पहचान लिया। अपने बापू के साथ जा पाने के कारण वे गौरवान्वित तथा प्रसन्न दिखाई दे रही थीं। वियना लौटने के पश्चात उनके साहस, अदम्य उत्साह, स्वाभिमान तथा दयालुता के प्रति मुझ में लगाव और आदर की भावना उत्पन्न हो गई। वे बहुत ही सादगी से दो कमरों और एक रसोई के छोटे से घर में रहती थीं जिसे लकड़ी के चूल्हे से गर्म किया जाता था (आस्ट्रिया की सर्दियां बहुत ठण्डी होती हैं) और उनकी सेवा एक बहुत शर्मीला और सीधा-सादा व्यक्ति करता था जो भारत से उनकी और उनके घर बार की देखभाल करने के लिए आया था। उनके मित्र उसे 'ब्रह्मचारी जी' अथवा 'दत्त' कहते थे। वे आगन्तुकों से एक लम्बी बाजू वाली कुर्सी पर बैठकर मिलती थीं जो विशेष रूप से उनके लिए बनाई गई थी। वे सदा चाय के रंग वाली भारतीय खादी की कमीज पहने रहती थीं, एक शाल उनके घुटनों पर पड़ा रहता था और उनके चारों तरफ पुस्तकें और पाण्डुलिपियां होती थीं।

मीरा यद्यपि अस्सी वर्ष से ऊपर की थीं तथापि वे नित्य प्रति अपने लिए सुनिश्चित किए गए कार्य को करती थीं और वह कार्य था बिथोवन के बारे में अध्ययन करना और लिखना। वह जर्मन संगीतकार था और उसने जीवन का अधिकांश भाग वियना और उसके सीमावर्ती क्षेत्र में ही बिताया था। अपनी किशोरावस्था में उन्हें उसके संगीत को सुनने से एक गहन आध्यात्मिक, सम्भवतः रहस्यात्मक अनुभूति होती थी। उन्हें ऐसा लगता था मानों उनका सम्पर्क बिथोवन की आत्मा से हो रहा है जो ध्वनि के माध्यम से बोल रही है।

जब मैं उनसे मिलने जाया करती थी तब दत्त के प्रसिद्ध बिस्कुटों के साथ चाय-पान करने के बाद हम उनके कार्य के विषय में चर्चा करते थे और यदि मौसम सुहाना हुआ तो कभी कभी हम मोटर कार में जंगल की ओर निकल जाते जो उनकी कुटिया से बहुत दूर नहीं था। यह बर्च के लम्बे-लम्बे वृक्षों का जंगल था। कुछ दूर जाने के बाद वह एक वृक्ष के लट्ठे पर बैठ जाती थीं और वृक्ष की चोटियों तथा उसके ऊपर आकाश की ओर देखा करती थीं। उस क्षण ऐसा लगता था मानों वे सीधे खड़े एवं ऊंचे वृक्षों से शक्ति प्राप्त करते हुए प्रकृति से साक्षात्कार कर

रही हों। उन्होंने आस्ट्रिया के उस भाग में रहने का निर्णय किया था जहां बिथोवन अक्सर अपने संगीत के लिए प्रेरणा और अपनी व्यथित आत्मा के लिए शान्ति की खोज में खेतों और जंगलों में घन्टों घूमा करता था। और शायद प्रकृति के माध्यम से ही मीरा बिथोवन से तादात्म्य स्थापित करती थीं।

इन्हीं दिनों सर रिर्चड एटनबरो, गांधीजी पर अपनी फिल्म बना रहे थे और वे गांधीजी की निजी विशिष्टताओं तथा चरित्र के विषय में परामर्श करने के लिए मीरा से मिलने आए थे। बातचीत के दौरान मीरा ने निश्चय किया कि सम्भवतः वे (सर एटनबरो) इंग्लैण्ड में बी०बी०सी० के द्वारा बिथोवन पर उनकी टेलीविजन स्क्रिप्ट को स्वीकार कराने में सहायता कर सकेंगे, इसलिए उनका इंग्लैण्ड में रहना जरूरी है। उनके मित्रों के लिए इस बात की व्यवस्था करना आसान नहीं था। उन्हें पहले ही चलने-फिरने में काफी कठिनाई होती थी और उनके हृदय को 'पेसमेकर' द्वारा आंशिक लाभ ही हो पाता था। लन्दन से आस्ट्रिया आने पर उनका फर्नीचर बेचना पड़ा था, तथा उनका सामान बांधकर जहाज से आस्ट्रिया भेजा गया। किन्तु वे अपने निश्चय पर अडिग थीं। इंग्लैण्ड में उन्हें देहात में कुटिया किराए पर मिलने की आशा थी। यद्यपि कई मित्रों ने सहायता की फिर भी यह व्यवहार्य सिद्ध नहीं हुआ। अतएव वे तथा दत्त केन्ट में एक सामुदायिक भवन में रहे जहां उन्होंने पहली मंजिल पर दो कमरे ले लिए। मैं वहां 1977 में उनके पास गई। उन्होंने शिकायत भरे शब्दों में कहा कि वे उद्यान का वैसा आनन्द नहीं उठा सकती थीं जैसा कि वे चाहती थीं। उनके लिए सीढ़ियां चढ़ना बहुत कठिन था और समुदाय भवन में रहना भी सुखकर नहीं था।

बिथोवन पर फिल्म बनाने के लिए बी०बी० सी० को तैयार करने की उनकी आशाएं फलीभूत न हो सकीं। उन्होंने आस्ट्रिया में जो मित्र बनाये थे उनकी उन्हें बहुत याद आती थी, जब मैं उन्हें छोड़कर आई तो उनके अन्तिम शब्द थे, "मैं घर वापस आना चाहती हूं, आस्ट्रिया आना चाहती हूं।" बाद में जब वे आस्ट्रिया वापस आईं तब उन्होंने कहा कि उनके इस कार्य के पीछे एक उद्देश्य था। केन्ट में एक मित्र ने उनका परिचय ताओवाद से करावाया था जो एक चीनी दर्शन है और जिसका सम्बन्ध मुख्यतः प्रकृति के अवलोकन तथा समस्त वस्तुओं व घटनाओं के बीच एकता और पारस्परिक सम्बन्ध से है। ताओ से प्रेरणा पाकर उन्होंने 'दि मिस्टिक विजन आफ बिथोवन सिपरिट' नामक पुस्तक को लिखने का निश्चय किया था जो उनकी अन्तिम रचना थी। इसी पुस्तक में भारत में उनके जीवन तथा गांधी जी के बीच सम्बन्ध तथा बाद में उनके बिथोवन के साथ सम्बन्ध को अच्छी तरह से व्यक्त किया गया है। अतएव, उनके जीवन की यही चरमोपलब्धि और आध्यात्मिक वसीयत (टेस्टामेन्ट) है। उन्होंने एक मित्र को लिखा था—"और अब मुझे ऐसी प्रेरणा हो रही है जिसके आधार पर मेरे द्वारा लिखी गई बिथोवन की सन्दर्भ युक्त जीवनी से एक ऐसी संक्षिप्त पुस्तक तैयार की जानी चाहिए जो बिल्कुल अलग ढंग से लिखी गई हो और इसे आत्मा के ऐसे क्षेत्र में ले जाया जाए जिसका सम्बन्ध आज की मानवता के आध्यात्मिक प्रयत्नों से हो और जो बिथोवन तक ही सीमित न रहे। ईश्वर ने चाहा तो मुझे ऐसी शक्ति मिलेगी और मैं इसी तरह की गांधीजी के ऊपर एक छोटी सी पुस्तक लिख सकूंगी जो गांधीजी के कार्यकलापों तक ही सीमित न रहे।"

उनकी यह अन्तिम इच्छा पूरी नहीं हो सकी। 'मिस्टिक विजन' में वे हमारा परिचय पौरवात्य विचारधारा के साथ-साथ बिथोवन से भी कराती हैं, जिसने उनके विचारों के अनुसार, बिथोवन की रहस्यवादी प्रकृति को अत्यधिक प्रभावित किया था। मीरा के अनुसार आध्यात्मिक खोज, सृजन के प्रति प्रेम, सर्जक से प्राप्त होने वाली प्रेरणा, मानव जाति और ब्रह्माण्डीय नियमों तथा प्रकृति के बीच सामंजस्य की आवश्यकता एक ऐसा मौलिक सत्य है जिसने धार्मिक, राजनीतिज्ञ गांधी और संगीतकार बिथोवन, दोनों को ही प्रेरणा दी और जिसके प्रति निष्ठा,

मानव मूल्यों और संसार से मुक्ति के लिए आधारभूत सत्य है। इस सत्य में उनके अपने दृढ़ विश्वास ने तथा व्यावहारिक स्तर पर उसको कार्यान्वित करने की आवश्यकता ने, उन्हें हिमालय के वनों के विनाश जैसी पारिस्थितिक समस्याओं में सक्रिय रुचि लेने के लिए प्रेरित किया।

वियना के निकट अपनी छोटी सी कुटिया में मीरा पढ़ती लिखती थीं, बिथोवन का संगीत सुनती थीं तथा संसार की राजनीतिक गतिविधियों में गहरी रुचि लेती थीं, किन्तु इसमें सदा ही विनोद तथा दयालुता का पुट रहता था। मृत्युपर्यन्त वे इन्दिरा गांधी के साथ पत्र-व्यवहार करती रहीं, जिनके साथ उनका परिचय इन्दिरा के बचपन के समय से था जब वे नेहरू के साथ गांधीजी के आश्रम में आती थीं और गांधी जी की खाट पर बैठती थीं। इन्दिराजी मीरा के जीवन के अन्तिम वर्षों में उनके प्रति बहुत उदार और संरक्षणात्मक रहीं।

मीरा का पुस्तक संग्रह उनकी रुचि के व्यापक आयामों को दर्शाता है। उनके पुस्तक संग्रह में, व्यक्तिगत समर्पण के साथ "मीरा को सप्रेम, जवाहर लाल नेहरू, मार्च 1949," नेहरू की डिस्कवरी आफ इण्डिया, महात्मा गांधी की चुनी हुई कृतियों के खण्ड, शिष्य के नाम गांधी के पत्र, होमर की ओडिसी, ड्राइडन द्वारा अनूदित प्लुटार्क कृत लाइव्ज, राबर्ट बर्न्स कृत पोइटिकल वर्क्स, प्लेटो की रिपब्लिक, डब्लू० वोग्ट कृत रोड टु सर्वाइवल, एफ०कप्रा कृत दि ताओ आफ फिजिक्स, शामिल हैं। सभी पुस्तकों में उनके हाथ से पेंसिल के निशान लगे हुए हैं जिससे स्पष्ट है कि उनका अच्छी तरह से अध्ययन किया गया है। इन पुस्तकों में से कुछ पुस्तकें उन चार सौ अच्छी पुस्तकों में शामिल थीं जिन्हें उन्होंने गांधीजी के साथ रहने का निश्चय करने के बाद इंग्लैण्ड से अपने अध्ययन के लिए जहाज द्वारा भारत भिजवाया था। और जो भारत में जगह-जगह जाने पर और बाद में आस्ट्रिया में उनके साथ रही थीं। आस्ट्रिया में रहते समय मीरा को उनके वे भारतीय मित्र नहीं भूले थे जो स्वतन्त्रता संग्राम में उनके साथी रहे थे। मुझे धर्मपाल का उनके पास आना अभी तक याद है जिसने ग्रामीण विकास में अपनी रुचि के कारण किसान आश्रम में उनसे पहले पहल एक नवयुवक के रूप में भेंट की थी और जो उनसे निरन्तर सम्पर्क बनाए रहा। हाथ के बुने वस्त्रों में आकर्षक व्यक्तित्व वाले चिपको आन्दोलन के सुन्दरलाल बहुगुणा उनसे दो बार मिले थे। मीरा नियमित रूप से कृष्ण मूर्ति गुप्ता के साथ पत्र-व्यवहार करती थीं जो किसान आश्रम और पशुलोक में उनके साथ रहे और जो वर्षों से 'हिमालय सेवा संघ' के सचिव थे और अब भी हैं। फरवरी 1982 में मृत्यु से कुछ पूर्व ही उन्हें 'पद्मविभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया गया था और प्रधान मन्त्री इंदिरा गांधी के सन्देशवाहक के रूप में आस्ट्रिया में भारत के राजदूत और उनकी पत्नी ने इसे उन्हें समर्पित किया था। हालांकि उस समय तक वे बिस्तर पकड़ चुकी थीं परन्तु इस अलंकरण की प्राप्ति पर वे गद्गद् हो गईं।

कभी-कभी मीरा अपने बचपन और युवावस्था के बारे में बताया करती थीं। शुरू से ही उनका झुकाव एक मुक्त और स्वतन्त्र जीवन के प्रति था और इसमें उनकी मां का भी पूरा सहयोग रहा। उनकी मां ने उन्हें स्कूल जाने के लिए कभी बाध्य नहीं किया बल्कि उनके लिए घर पर ही अध्यापकों का प्रबन्ध कर दिया और उन्हें सैद्धांतिक संकल्पनाओं के स्थान पर अनुभव से सीखने के लिए उनके नाना के विस्तृत भू-क्षेत्र में इधर-उधर घूमते हुए, औजारों का इस्तेमाल करना सीखते हुए, परिवार की गायों को दुहते हुए तथा सवारी के घोड़ों को सधाते हुए, मुक्त छोड़ दिया। प्रथम महायुद्ध के दौरान, युद्धरत पुरुषों का कार्य स्वेच्छा से करने वाली अन्य उच्चवर्गीय महिलाओं की तरह ही मीरा भी कृषि कार्य में लग गई। बिथोवन के संगीत के प्रति प्रेम ने मीरा को इंग्लैण्ड में उस समय जर्मन संगीत के समारोह आयोजित करने के लिए प्रेरित किया जिस समय (युद्ध के पश्चात्) प्रत्येक जर्मन वस्तु को घृणा से देखा जाता था। किसी भी अंग्रेज महिला के लिए ऐसी गतिविधि में क्रियाशील होना बहुत ही असामान्य बात थी। इसके

बाद उन्होंने यात्राएं कीं और वे अपने समय की कुछ प्रमुख हस्तियों से मिलीं। वे बेल्जियम में 'द स्टोरी आफ सैन मिशेल' के रचयिता एक्सेल मुन्ठे से भी मिलीं।

उनकी आकुलता तथा जीवन के ध्येय के प्रति उनकी खोज ने उन्हें रोमां रोलां से मिलने के लिए प्रेरित किया, जिन्होंने बिथोवन के विषय में लिखा था, किन्तु उन्होंने बिथोवन के विषय में बात न करके गांधीजी के विषय में बात की और महात्मा के बारे में अपनी प्रकाशनाधीन पुस्तक 'महात्मा गांधी' का उल्लेख करते हुए कहा — "तुमने कभी गांधी के बारे में नहीं सुना? वे दूसरे क्राइस्ट हैं।" इस पुस्तक को पढ़ने पर मीरा को उच्चादर्शों तथा निस्वार्थ सेवा के समर्पित जीवन की अपनी आकांक्षा का उत्तर मिल गया तथा उन्होंने सहज ही इस शताब्दी के यदि सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति नहीं तो सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्तियों में से एक के साथ रहने का निर्णय कर लिया।

मैं अक्सर सोचती हूं कि आश्रम का जीवन उन्हें कैसा लगा होगा। आश्रम के जीवन में एकान्त का अभाव था, भोजन अजीबोगरीब था जिस पर गांधीजी के विचित्र प्रयोग जैसे सामान्य रसोईघर, दूध का परिहार, कोई रोटी नहीं — बस अंकुरित अन्न, एकदम कच्चा खाना जिसके कारण प्रत्येक के स्वास्थ्य की स्वच्छता के आधारभूत सिद्धान्त समझाने जैसे छोटे-मोटे काम सौंपे गए। उन्हें हिन्दी सीखने और धुनाई तथा कताई सीखने के लिए घोर परिश्रम करना पड़ा। उन्होंने स्वयं लिखा है —

"इससे पहले कभी भी किसी संस्था में न रहने के कारण तथा स्कूल और कॉलेज के झंझट से दूर रहने के कारण मेरे लिए सामुदायिक जीवन एक दुष्कर कार्य था किन्तु बापू के प्रति निष्ठा होने के कारण मैंने अपनी अरुचि को दबा दिया। वस्तुतः मैंने स्वयं को पूरी तरह से नियन्त्रित कर लिया था कि मैं वास्तव में इसे पसन्द करती हूं।"

"मैं उन क्षणों की तलाश में रहती थी जब मैं बापू को निहार सकूं क्योंकि बापू के सान्निध्य में होने का अर्थ था अपने अस्तित्व से ऊपर उठ जाना।"

जिस जीवन को उन्होंने स्वीकार किया था उससे फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा, और अपने मन में किसी प्रकार की शंका को नहीं आने दिया। यदि कोई सन्देह था भी तो वह बापू की आशाओं के अनुरूप अपने को ढालने के सामर्थ्य के प्रति ही था — बापू चाहते थे कि वे एक पूर्ण स्त्री बनें। जब कभी मीरा को बापू के साथ रहने या दौरे पर जाने का अवसर मिलता था तो वे बापू की निजी आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखती थीं। "गहमागहमी के बीच बापू के दैनिक कार्य सुचारू रूप से तथा निश्चित समय पर चलते रहें, यह देखना मेरा कार्य था।

उदाहरण के लिए 1931 में 'गोलमेज सम्मेलन' के समय उनकी दिनचर्या का वर्णन बड़ा विनोदपूर्ण और सरस है, किन्तु उन पर कितना दबाव रहा होगा यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है। वे 'ईस्ट एण्ड' में एकदम सादे घर में रहते थे। गांधीजी सारे दिन बैठकों में व्यस्त रहते थे और कभी-कभी तो रात के ग्यारह बज जाते थे। प्रातः 3 बजे प्रार्थना होती थी क्योंकि गांधीजी ने ग्रेट ब्रिटेन के समय के साथ अपनी घड़ी को मिलाना एकदम मना कर दिया था और इस प्रकार सोने का समय और भी कम हो गया था और दबाव बढ़ गया था। मीरा उनकी सेवा करती थीं, कपड़े धोती थीं, खाना पकाती थीं, और अपने सादे खादी के वस्त्रों में ही शहर में होने वाली बैठकों और सम्मेलनों में खाना ले जाती थीं और साथ ही आक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज तथा लंकाशायर की मिलों में भी जाया करती थीं।

बापू के पास रहने, उनकी सेवा करने तथा यात्राओं के दौरान उनके साथ जाने में मीरा बहन को सब से अधिक खुशी मिलती थी। बापू से दूर रहना, जिस पर वे अधिक बल देते थे, आसान नहीं था, इससे मीरा बहन को बहुत दुख होता था। ऐसे अवसरों पर गांधीजी उसे लगभग हर रोज पत्र लिखते जो अपनापन लिए होते थे। उनमें वह उनके स्वास्थ्य, भोजन आदि के बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए अपनी कई छोटी-मोटी समस्याओं के लिए उनसे परामर्श पूछते, जैसे ऊनी कम्बल धोने के लिए कौन सा साबुन इस्तेमाल करना चाहिए, आदि आदि। कई बार उन्हें उनकी 'बेचैनी के लिए' अथवा 'मेरे भीतर जुड़े रहने' के लिए डांट-डपट भी करते। परन्तु ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करते जिनसे उनका मन उत्साह से भर जाता जैसे कि "—- ढेरों प्यार के साथ।" ऐसे सैंकड़ों पत्र हैं जिनमें एक पुत्री तथा पिता समान गुरू के बीच के गहन सम्बन्ध झलकते हैं जो उसे आत्मपरक प्रशिक्षण, शारीरिक कष्टों तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं से जूझने की शिक्षा देते रहे। उनके द्वारा इसे 'आत्मा की यात्रा' कहा जाना समीचीन ही है। 'गांधीजी मीरा बहन को डांटते और डपट देते थे, परन्तु साथ ही उसे "अपनी विधि के अनुसार आगे बढ़ने" जैसे वाक्यों से प्रोत्साहित भी करते थे। वह उसे बहुधा स्मरण कराते रहते थे कि "वह एक उद्देश्य" की पूर्ति में लगी है न कि उनके (गांधीजी) व्यक्तिगत कार्य की देख-रेख में। जब कभी वह दूसरे आश्रमों अथवा गांवों में अकेली होती थी, तभी वह वहां रहने वाले लाखों लोगों की गरीबी और दुर्दशा को देख पाती और तभी उसे पता चलता कि बापू के मन में निरन्तर जलती रहने वाली आग का क्या अर्थ था।

मीरा बहन ने भारत को बापू की आंखों से देखा। उनकी अनुभूतियों के माध्यम से उसका अनुभव किया। उनकी गतिविधियां गांधीजी के सिद्धान्तों पर भारतीय राष्ट्र को एक स्वतन्त्र एवं शान्ति प्रिय राष्ट्र का स्वरूप प्रदान करने से प्रेरित होती थीं। अपनी सुदृढ़ प्रकृति और व्यक्तित्व को कुचल कर, बापू के सान्निध्य में उनके यहां-वहां बापू के साथ बिताए वर्षों के दौरान, उन पर मीरा बहन की पूर्ण निर्भरता की झलक उनकी आत्मकथा में मिलती है। एक बार उसने स्वीकार किया "भारत छोड़ने के उपरान्त ही मैं स्वतन्त्र हो पाई।"

गांधीजी की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण तथा उनके लिए उसकी भक्ति और प्रेम कितने अर्थवान थे, यह उसका एक उदाहरण है। उनकी वर्ष 1938 की एक डायरी है जिस में रोज का विवरण दिया हुआ है। इस में गांधीजी के अथक कार्यक्रमों का लेखा-जोखा है। इससे आश्रम में गांधीजी के काम का वृतान्त ज्ञात होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार भांति-भांति के लोगों का एक छोटा सा संसार गांधीजी के कार्यकलापों पर पूरा विश्वास रखते हुए भारत के भविष्य के निर्माण में लगा हुआ था। जब मीरा ने गांधीजी से शिकायत की कि कई आश्रमवासी उनके सिद्धान्तों का पूरा पालन नहीं कर रहे हैं और उन्हें पत्र में लिखा, "मुझे प्रतीत होता है कि आश्रम के रहने वालों में बहुत से ऐसे हैं जो आपके द्वारा प्रतिपादित कई सिद्धान्तों को निभाने की परवाह नहीं करते," तो गांधी जी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "इस सब के बावजूद तुम्हें मानवता से प्रेम करना है। मेरे विचार में उनमें से अधिकतर अपने काम के प्रति सचमुच प्रयत्नशील थे और हैं।"

बीस से अधिक वर्षों तक वह गांधीजी के साथ रही, कई संकटों में से गुजरी और फिर विशेष रूप से दुःखदायी घटना (जीवन-साथी को पाने तथा विवाह की आशा का अन्त) के पश्चात् पन्द्रह महीनें का मौन धारण कर वह पहाड़ों पर एक कुटिया में रहने चली गईं। वहां पर उन्होंने वह समय शास्त्रों के अध्ययन तथा ऋग्वेद की ऋचाओं का अनुवाद करने में बिताए। मृत्यु से पूर्व उसने इस अनुवाद की प्रतियां आस्ट्रिया में अपने मित्रों को दीं।

कालान्तर में गांधीजी स्वयं भी उसकी निर्णय शक्ति तथा राजनयिक योग्यताओं पर निर्भर रहने लगे। उन्होंने उसे वायसराय तथा इंग्लैण्ड में राजनीतिज्ञों (लॉयड जार्ज, सर सैमुयल होर, लार्ड हैलिफैक्स, जनरल स्मट्स) के पास कठिन तथा नाजुक सन्देश पहुंचाने का काम सौंपा। उसने उन सब को भारत की स्वतन्त्रता के लिए गांधीजी के प्रयास में उनके उद्देश्यों को समझाने का प्रयास किया। वह निश्चय ही इस कार्य में सफल रहीं, क्योंकि चर्चिल ने उनसे कहा था, "उन्हें बताना कि उनके सुधार-कार्यों का मैं बहुत बड़ा प्रशंसक हूं।" गांधीजी के व्यवहारात्मक आदर्शवाद, जिसमें अमूर्त विचारों तथा मतों की अपेक्षा मानवमात्र के प्रति निष्ठा सम्मिलित थी, से वह पूर्णतया सहमत थी। अपनी अतिश्रेष्ठ राजनीतिक सूझ-बूझ के कारण वह अपने कार्य में सफलता प्राप्त कर लेते थे और उन्हें शीघ्र ही यह आभास भी हो गया कि वह मीरा बहन की ऐसी ही खूबियों पर निर्भर रह सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, उन्होंने उसे उड़ीसा, जहां जापानी आक्रमण की सम्भावना थी भेजा, ताकि वह लोगों को अहिंसात्मक एवं असहयोगपूर्ण प्रतिरोध के लिए तैयार कर सके। वहां उसने उस क्षेत्र में बर्तानवी सैनिकों को गांधीजी के काम के ठोस तरीकों के बारे में भी बताया।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर गांधी जी ने उसे स्वतंत्र रूप से इधर-उधर घूमने के लिए उत्साहित किया और ग्रामीण विकास की उन परियोजनाओं को कार्यरूप देने का सुझाव दिया, जो कि उन्हें (मीरा बहन) बहुत प्यारी थीं। 'पशुलोक' में जैसे ही उन्होंने बूढ़ी और असहाय गायों के स्वच्छन्द रूप से विचरण करने के लिए विश्राम-स्थल का नियोजन किया तभी उनके पास गांधीजी की हत्या का समाचार पहुंचा। विचलित हृदय की एक सशक्त लहर ने सारे देशवासियों को झकझोर दिया, और प्रत्येक व्यक्ति जो जा सकता था गांधीजी के दाह-संस्कार में सम्मिलित होने के लिए राजधानी की ओर दौड़ पड़ा। इस अवसर पर मीरा बहन को गांधीजी के बहुत पहले कहे हुए शब्द याद हो आए-"ईश्वर पर भरोसा रखो, और वहीं रहो जहां पर हो" तथा "अंतिम दर्शन का कोई अर्थ नहीं है, आत्मा जिससे तुम प्यार करती हो हमेशा तुम्हारे साथ है।" इस स्थिति का वर्णन उन्होंने (मीरा बहन) इन शब्दों में किया है-"मैं निश्चेष्ट और निस्तब्ध सी खड़ी रही। एक बहुत बड़े मनोवेग ने मुझे जकड़ लिया —, मैंने आकाश की ओर देखा। पेड़ों की शाखाओं के बीच से अति दूरी पर दिखाई दे रहे तारे शांत और भव्य रूप से चमक रहे थे। उन्होंने मुझे बापू की आत्मा के मुक्त होने और शांतिपूर्वक विश्राम करने के विषय में बताया, और जैसे जैसे मैं उन्हें देखती रही, मुझे वहां 'बापू' दिखाई देने लगे। हां —सचमुच वे वहां भी थे और मेरे साथ भी।"

उनकी मृत्यु के पश्चात वह हिमालय की तराई में पशुपालन तथा वनीकरण की अपनी योजनाओं में लग गईं। परन्तु नौकरशाही के कारण बढ़ती हुई जटिलताएं उनके स्वभाद के अनुकूल नहीं थीं, जिसके कारण अब भारत में रहना, उनके लिए अर्थहीन हो गया था, इसके फलस्वरूप युवावस्था के उनके असाधारण अनुभवों की स्मृति और बाद में एक बार फिर वैसे ही अल्पकालिक अनुभव ने उन्हें वर्तमान जन्म के तीसरे तथा अंतिम अध्याय की ओर मुड़ जाने को प्रेरित किया —

"परन्तु अब दृष्टि की नूतनता तथा अदृश्य प्रेरणा के फलस्वरूप मैंने सुना और महसूस किया कि यह उसी की आत्मा की पुकार थी, जिसके संगीत से मुझे पिछले 30 वर्षों से अलग रखा गया था। अब मैं आत्मा की सच्चाई को जान लेने के लिए सचेत हो गई थी।"

वह आस्ट्रिया में वियना के उस बाहरी हिस्से में रहने के लिए गईं, जहां बीथोवन अक्सर आया करते थे तथा उन्हें वह स्थान प्रिय था। वहां वे, अपनी पुस्तकों व पांडुलिपियों के साथ अपने प्रथम प्यार (बीथोवन) को

अपनी शक्ति तथा कार्य समर्पित करते हुए, मृत्यु पर्यन्त तक रहीं।

मृत्यु होने पर मीरा का दाह संस्कार वियना में किया गया। उनकी अस्थियों का कुछ भाग हेलनतल की घाटी में बिखेरा गया, जहां पर बीथोवन की ऊर्ध्वकाय प्रतिमा स्थापित है, जो राहगीरों (वहां से गुजरने वालों) को स्मरण कराती है कि यह स्थान, संगीतकार बीथोवन की सैरगाहों में से एक मनपसंद सैरगाह था। भस्मी का शेष अंश भारत लाया गया, जिसे समारोह पूर्वक ऋषिकेश में, जो कि उनके प्रिय 'पशुलोक' के पास ही है, गंगा की धारा में विसर्जित किया गया। इस स्थान पर गंगा अपने शुद्ध रूप में पहाड़ों से उतर कर दौड़ती हुई भारत के मैदानी भागों में प्रवेश करती है।

मीरा से मुलाकात करने पर कभी-कभी मैं पूछ लेती थी कि उनके विचार में गांधीजी का ऐसा कौन सा अति अमूल्य योगदान था जो उन्होंने अपने समय की व भावी पीढ़ी (मानव-जाति) को प्रदान किया। उसका अति सादा जीवन, पूर्ण निरामिष भोजन तथा पूरे विश्व के कल्याण की चिंता, गांधी जी के आधारभूत दर्शन का व्यावहारिक रूप दर्शाते थे। इस पर भी उनका सोचना था कि अर्थनीति, धर्म, चरित्र, राजनीति तथा व्यवहारिक मामलों सम्बन्धी उनके विचार ही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी। गांधीजी की भांति मीरा बहन का भी विश्वास था कि भारत की शक्ति गांवों में विकेंद्रीकृत आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था, सरकार के नियंत्रण से स्वतंत्र, जनवादी लोकतंत्र के समाज के सबसे कमजोर वर्ग को ध्यान में रखते हुए, सामाजिक न्याय तथा संसार के संसाधनों के प्रति, आदर को बढ़ावा देने में निहित है। गांधीजी का मत, जो आज भी उतना ही सार्थक है जितना तब था, उन्हीं के इस एक वाक्य से स्पष्ट है– "सभ्यता, वास्तव में अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाने में नहीं, अपितु निष्ठापूर्वक तथा स्वैच्छिकता से काग करने में है।"

अपने जीवन के अंतिम दिनों तक मीरा बहन, गांधीजी के आध्यात्मिक संदेश का पालन करती रहीं। यह एक ऐसा संदेश था जिसमें पूर्व तथा पश्चिम दोनों की आध्यात्मिक सत्यता गहराई तक जुड़ी हुई थी। भारत में उन्होंने, स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए, भारतीयों में एकत्व तथा चारित्रिक दृढ़ता का संचार करने के लिए गांधीजी के चारित्रिक तथा धार्मिक जागृति के प्रयासों में साथ दिया। दूसरी ओर, बीथोवन के जीवन दर्शन को समझने, उसके संगीत को सुनने, उसके पत्रों को पढ़ने पर, मीरा का मानना था कि अपनी खोज के आधार पर वह कह सकती है कि उसे (बीथोवन) भी पूर्वी विचारों और दर्शन में सत्य की खोज के लिए उसी प्रकार की एक अज्ञात प्रेरणा हुई थी जैसी कि मुझे (मीरा बहन)। इस प्रकार से उनके (मीरा बहन) जीवन की व्याख्या करते हुए हम कह सकते हैं कि वह पूर्व और पश्चिम की उस गहरे आध्यात्मिक विस्तार का जीता-जागता अनुभव थी जो कि गांधी और बीथोवन जैसी दो महान आत्माओं के जीवन, मान्यताओं और उपलब्धियों की देन थी।

उद्धरण निम्नलिखित से लिए गए हैं–

मीरा बहन रचित - दि स्पिरिट्स पिल्ग्रिमेज, लौंगमैन्स, ग्रीन एंड कम्पनी लि० १९६० (मूल अंग्रेजी)

बापू के पत्र मीरा बहन के नाम

(अत्यन्त महत्वपूर्ण 100 पत्रों के विशिष्ट अंश)

अनुक्रम

गांधीजी के पत्रों के विषय में 193
पत्र 194

गांधीजी के पत्रों के विषय में

गांधीजी ने 1924-1948 की अवधि में मीरा बहन को 650 पत्र लिखे थे। पहला पत्र उन्होंने मीरा बहन को इंग्लैण्ड के पते पर 31.12.1924 को लिखा था —"— मुझे सचमुच खुशी है कि आपने अपनी प्रथम प्रेरणा को न मानकर यहां के जीवन की तैयारी करने के लिए समय लेने का निश्चय किया। अगर साल भर की कसौटी के बाद भी आपको यहां आने की प्रेरणा हो तो शायद आपका हिन्दुस्तान आना उचित होगा," और अंतिम पत्र बिड़ला भवन, नई दिल्ली से 19.1.1948 को।

इन 650 पत्रों में से मीरा बहन ने बापू की सहमति से 386 पत्रों को प्रकाशनार्थ माना, जो नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद द्वारा 'बापूज लेटर्स टु मीरा' (Bapu's letters to Mira) 1949 में प्रकाशित हुए। इन्हीं पत्रों का हिन्दी अनुवाद 'बापू के पत्र मीरा के नाम' से 1951 में प्रकाशित हुआ।

ये पत्र एक पिता (और माता भी) द्वारा अपनी बेटी को लिखे गये मात्र पत्र ही नहीं हैं, अपितु एक महान दार्शनिक के एक महान साधिका को दिए गए वे उपदेश हैं जिनमें ज्ञान, कर्म व भक्ति की त्रिवेणी अथवा सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् रूपी ज्ञान गंगा प्रवाहित होती है। मीरा बहन ने पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट किया है—"इन पत्रों में बापू के जीवन के पिछले बाईस वर्षों का प्रतिबिम्ब है। सबको दिखाई देने वाला भव्य और नाटकीय बाह्यजीवन नहीं, बल्कि वह भीतरी व्यक्तिगत जीवन, जो बाहरी दुनिया के तमाम बखेड़ों से प्रभावित हुए बिना आध्यात्मिक खोज के अपने संतुलित और सीधे रास्ते पर चलता रहा। —यद्यपि आध्यात्मिक विचार और मार्गदर्शन का यह भंडार एक ही व्यक्ति को मिला है, फिर भी वह सभी को प्राप्त होना चाहिए।"

अपनी परिसीमाओं को देखते हुए मीरा बहन की पुण्य स्मृति में 'बापू के पत्र मीरा के नाम' पुस्तक से 100 अत्यन्त महत्वपूर्ण पत्रों के चुने हुए विशिष्ट अंशों को ही यहां पर प्रस्तुत कर रहे हैं। इन्हीं पत्रों को अलग से DROPS OF DEW - REFLECTIONS OF DEVOTION पुस्तक में प्रकाशित किया गया है।

कृष्ण मूर्ति गुप्ता

पत्र संख्या 4 15.5.1926

—-यह थोड़े दिन का वियोग उस लम्बे वियोग की तैयारी है, जिसे मृत्यु लाती है। असल में वियोग ऊपरी ही है। मृत्यु से हम ज्यादा नजदीक आते हैं। क्या शरीर बाधा नहीं है — यद्यपि वह परिचय का साधन भी है?

पत्र संख्या 9 27.12.1926

—- खर्च के बारे में क्षमा याचना क्यों? हम किफायत जरूर करना चाहते हैं। मगर हम अपने को उन चीजों से वंचित नहीं रखना चाहते, जिनकी हमें अपने को सेवा के योग्य बनाये रखने के लिये जरूरत है—-।

पत्र संख्या 11 3.1.1927

—- मनुष्य कुछ भी करें तुम्हें तो उनसे प्रेम करना ही है। अन्ततः आश्रम साबरमती में नहीं है, परन्तु अपने आप में है। बुरे से बुरे आदमी को भी हमें शुद्ध मानकर चलना चाहिये। सब के साथ समान व्यवहार करने का, और विरोधी चीजों के इस विश्व में पानी में कमल की तरह अलिप्त रहने का यही अर्थ है—-।

पत्र संख्या 12 10.1.1927

—- तुम्हें जो तरह-तरह के अनुभव हो रहे हैं उन सब से मुझे खुशी है। जब तक तुम अपना स्वास्थ्य और मानसिक संतुलन बनाये रखोगी, मैं तुमसे नाराज नहीं होऊंगा। वैसे तो हम भूलें करके ही सीखते हैं। मुझे मालूम नहीं कि तुमने कोई भूल की है। परन्तु जहां भूल होने का ज्ञान हो, वहां अधिकांश मामलों में सुधार कर लेने की तैयारी ही काफी प्रायश्चित और इलाज है —-।

पत्र संख्या 14 24.1.1927

—- तुम्हें चिन्ता न हो, इसलिये जान लो कि मैं तुम्हें कम से कम हर सोमवार को जरूर लिखा करूंगा। डाक तुम्हारे पास कब पहुंचेगी, यह इस पर निर्भर है कि मैं कहां हूं —-।

पत्र संख्या 20 22.3.1927

—-घबराहट को जरूर निकाल डालो। तुम्हें मेरे शरीर से मोह हरगिज नहीं होना चाहिए। शरीर-रहित आत्मा तो हमेशा तुम्हारे साथ ही है। और वह उस शरीरबद्ध दुर्बल जीवात्मा से अधिक है, जिनके साथ शरीर की सारी मर्यादायें लगी हुई हैं। शरीर रहित आत्मा सम्पूर्ण है और उसी की हमें आवश्यकता है। यह हम तभी अनुभव कर सकते हैं, जब हमें अनासक्ति का अभ्यास हो। इसे प्राप्त करने का अब तुम्हें प्रयत्न करना चाहिये।—- मैं नहीं चाहता कि तुम यह समझो कि मुझ से कभी भूल हो ही नहीं सकती।

पत्र संख्या 22

1.4.1927

—- तुम्हें घबराना हरगिज नहीं चाहिये। किसी न किसी दिन तो शरीर टूटने ही वाला था। तुम मेरे शरीर को भूल ही जाओ। वह तुम्हारे लिये सदा नहीं रह सकता। तुम्हें अपने सामने पड़ा हुआ काम करना चाहिये—-।

पत्र संख्या 24

11.4.1927

—- तुम्हारे काम के लिये हिन्दी का ज्ञान आवश्यक है। इसलिए उसे जानने और बोलने का हर मौका ढूंढते रहना। तुम्हारे आस-पास जो कुछ हो रहा हो, उस सबको समझने का आग्रह रखना।

पत्र संख्या 25

13.4.1927

—- तुम्हें भूल जाना चाहिए कि तुम क्या थीं। तुम्हें यही समझ लेना चाहिए कि तुम क्या हो। ये बेचारे सरकारी कर्मचारी सचमुच नहीं जानते कि जब वे तुम से मिलते हैं, तब वे कहां खड़े हैं। वे तुम्हारी पिछली बातों को भूल नहीं सकते और कुदरती तौर पर घबरा जाते हैं। तुम्हें उन्हें निश्चिंत कर देना पड़ेगा।—-

पत्र संख्या 29

27.4.1927

—- हम सचमुच अपने कार्य के द्वारा और कार्य में ही जीते हैं। अगर हम अपने नाशवान शरीरों का अस्थायी साधनों के तौर पर उपयोग न करके अपने को उनके साथ एक रूप कर देते हैं, तो उन्हीं के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।—-

—- मैं जितना ही अधिक वस्तुओं को देखता और अध्ययन करता हूं, उतना ही मेरा यह ख्याल पक्का होता जाता है कि वियोग और मृत्यु का शोक शायद सबसे बड़ा भ्रम है। यह समझ लेना ही कि यह भ्रम है, उससे मुक्त होना है। आत्मा की न मृत्यु है और न वियोग। लेकिन दुःख की बात तो यह है कि यद्यपि हम अपने मित्रों से उनके भीतर रहने वाली आत्मा के कारण ही प्रेम करते हैं, फिर भी आत्मा पर जो क्षणभंगुर आवरण रहता है उसके नाश पर हमें दुःख होता है। होना यह चाहिये कि सच्ची मित्रता का उपयोग पिंड द्वारा ब्रह्माण्ड को प्राप्त करने के लिये किया जाए। अभी तो ऐसा लगता है कि तुमने सत्य को देख लिया है। वह सदा के लिये कायम रहे।

पत्र संख्या 33

8.5.1927

—-तुम मेरे पास मेरी खातिर नहीं, बल्कि मेरे उन आदर्शों की खातिर आई हो, जिन पर मैं यथाशक्ति अमल करता हूं। तुम अब तो जान गई हो कि मैंने जो आदर्श रखे हैं, उन पर मैं कहां तक चलता हूं। अब यह तुम्हारा काम है कि उन आदर्शों का हिसाब लगा लो और जितनी पूर्णता से उनका पालन करने की शक्ति ईश्वर ने मुझे दी है उससे अधिक पूर्णता के साथ उनका पालन करो। जो ऐसा करेगा वही मेरा प्रथम वारिस और प्रतिनिधि होगा। मैं चाहता हूं कि तुम प्रथम रहो। इसका और नहीं तो यही कारण है कि तुमने दूर से मेरा अध्ययन करके मुझे अपनाया है—-।

पत्र संख्या 35 *12.5.1927*

—-मुझे सबसे ज्यादा चिन्ता इसकी है कि तुम जैसी नहीं हो वैसी दीखने की कोशिश न करो। तुम जैसी हो वैसी ही स्वीकार करना और तुम्हें जैसी बनना चाहिए वैसी बनने में मदद देना मेरा धर्म है। यह तभी हो सकता है तब तुम्हें मेरी तरफ से डरने का कोई कारण न मिले। इसलिए मैंने तुमसे एक बार कहा था कि मैं तुम्हारे लिये केवल *पिता* का स्थान ही नहीं, बल्कि *मां* का स्थान भी लेना चाहता हूं —- ।

पत्र संख्या 36 *16.5.1927*

—- मालूम नहीं तुम्हें किसी ने बताया है या नहीं कि कुछ समय से साबरमती में हम लोगों पर चोरों की बहुत अधिक कृपा रहने लगी है। एक बार तो उनसे उलझकर हमारे चौकीदार ने बुरी तरह चोटें खाई हैं। इससे जाग्रत होकर मुझे हमारे कर्तव्य का भान हुआ। और मैंने सोचा कि यह पहरा देने का काम उतना ही बड़ा कर्तव्य है जितना कि सम्मिलित भोजनालय का। इसलिये मैंने सुझाया कि हमें स्वयं ही अपने चौकीदार और चौकिदारिनें बन जाना चाहिये और यह कोशिश करनी चाहिये कि चोरों को मार-पीट कर आश्रम से निकाल देने के बजाय, अगर वे हमारे हाथों में पड़ जायें तो, उनसे यह गलत रास्ता छुड़वायें, और ऐसा हम उनसे मार खाने की जोखिम उठा कर भी करें। यह सुझाव मान लिया गया है और आजकल तीस से अधिक स्वयंसेवक यह काम कर रहे हैं, जिनमें पांच स्त्रियां भी हैं। यह अच्छा प्रारंभ है।—-

पत्र संख्या 41 *9.7.1927*

—- अगर हमें कुदरत के सारे कानून मालूम हो जाएं या मालूम हो जाने के बाद हम में उनका मन, वचन और कर्म से पालन करने की शक्ति आ जाए, तो हम स्वयं ईश्वर बन जाएं और अन्य कुछ भी करने की आवश्यकता न रह जाए। स्थिति यह है कि हम उन कानूनों को शायद ही जानते हैं और उन पर चलने की ताकत भी हम में कम ही होती है। इसीलिये रोग और उसके सारे परिणाम होते हैं। अतः हमारे लिये इतना काफी है कि हम समझ लें कि हर रोग कुदरत के किसी अज्ञात कानून के भंग का ही परिणाम है और हम उन कानूनों को जानने की कोशिश करें और उन पर चलने की शक्ति के लिए प्रार्थना करें। इसलिये रोग के समय हृदय से प्रार्थना करना काम भी है और दवा भी है —- ।

पत्र संख्या 42 *17.7.1927*

—- हमें उस वक्त कड़ी से कड़ी आलोचना करने का अधिकार मिल जाता है, जब हमारे पड़ोसियों को हमारे प्रेम का और हमारी ठीक रायों का विश्वास हो जाता है और जब हमें यह यकीन हो जाता है कि हमारी राय न मानी गई या उस पर अमल नहीं किया गया तो हमें जरा भी अशान्ति नहीं होगी। दूसरे शब्दों में आलोचना करने के अधिकार के लिये हम में स्पष्ट समझ और पूरी सहिष्णुता की प्रेम-शक्ति होनी चाहिए।

पत्र संख्या 58 *24.12.1928*

—- अगर *क्रिसमस* तुम्हारे लिये कोई विशेष स्मृति और विशेष अर्थ रखता हो, तो भगवान करे तुम्हें

उस दिन जीवन की वास्तविकताओं का शुद्ध और अधिक ज्ञान हो। तुम्हारा हृदय मजबूत है और इसलिये तुम्हारा सब तरह से भला ही होगा —-।

पत्र संख्या 62

4.2.1929

—-मैंने फिर तीसरे दर्जे में सफर किया। कोई दुर्घटना नहीं हुई और न कोई उल्लेखनीय असुविधा हुई। और मेरी मानसिक शान्ति भी बढ़ी। दूसरे दर्जे में सफर करते हुए मेरे जी को कभी शान्ति नहीं रहती —-।

—- अवश्य ही तुम शरीर का लाड़-प्यार न करो। उसे अपने विकास के लिए ईश्वर की तरफ से मिली हुई थाती समझो और उसकी प्रारम्भिक आवश्यकताएं पूरी करना उचित ही नहीं, बल्कि तुम्हारा फर्ज होगा।

पत्र संख्या 68

16.3.1929

—- जो तालीम और अनुभव तुम प्राप्त कर रही हो, वे मेरे चल बसने के बाद अमूल्य साबित होंगे —-।

पत्र संख्या 71

1.4.1929

—- जब हाजमे में जरा सी भी गड़बड़ हो तो हमेशा भोजन छोड़ दो। कमजोरी की हरगिज परवाह न करो। जब तुम भोजन कर सकोगी, तो फिर शक्ति आ जायेगी। परन्तु जब शरीर पचा नहीं सकता, तब तो भोजन से ही कमजोरी हो जायेगी।

पत्र संख्या 74

8.4.1929

—- मुझे खुद आश्चर्य है कि अभी तक मेरा शरीर टूट क्यों नहीं गया। अलबत्ता, मैं बीच-बीच में खूब आराम ले लेता हूं और जब जी में आये तभी नींद ले लेने की बढ़िया तरकीब मुझे बचा रही है। सच तो यह है कि जब तक ईश्वर मेरे शरीर की रक्षा करना चाहता है, तब तक वह मुझे बचाता है। जिस क्षण उसकी जरूरत पूरी हो जायेगी, उस क्षण मेरी कोई सावधानी मुझे नहीं बचा सकेगी —-।

पत्र संख्या 86

20.11.1929

—- चूंकि अब तुम मुझ से दूर हो, इसलिये तुम्हें दुःख पहुंचाने का मुझे और भी अधिक दुःख हो रहा है। कोई अत्याचारी आज तक ऐसा नहीं हुआ, जिसे दूसरों को दिये गये कष्ट का मूल्य न चुकाना पड़ा हो। किसी प्रेमी ने कभी पीड़ा पहुंचाकर उससे कम पीड़ा नहीं सही है। मेरा यही हाल है। मैंने जो कुछ किया वह अनिवार्य था। इतना ही है कि मुझे क्रोध न आता हो अच्छा होता। लेकिन जिनसे मुझे सबसे ज्यादा प्यार होता है, उसके प्रति मेरी कठोरता ऐसी ही है —-।

पत्र संख्या 88

13.3.1930

—- तुम धीरज रखना, किसी बात की चिन्ता न करना और उन लोगों के प्रति उदार बनना जो तुम्हारी इच्छा के अनुसार कार्य न करें। तुम्हारा मुख्य काम स्त्रियों और बच्चों में है —- ।

पत्र संख्या 112

28.9.1930

—- सेवा भाव से आराम क्यों नहीं लेना चाहिये? अलबत्ता इसका दुरूपयोग आसानी से किया जा सकता है और अकसर किया जाता है। लेकिन यह कोई कारण नहीं कि ईमानदार लोग ईमानदारी से आराम क्यों न लें, ताकि वे अधिक सेवा के योग्य रह सकें। मैं इसे ज्यादा बुरा नहीं तो आत्मप्रवंचना जरूर मानता हूं, जब कोई शख्स यह कहता है कि मैं सेवा में अपने को मिटा रहा हूं। क्या ईश्वर ऐसी सेवा को स्थिरता और अनासक्ति के साथ की गई सेवा से ज्यादा अच्छी समझता है? शरीर एक यंत्र की तरह है, जिसे पूरा काम देने के लिये अच्छी तरह रखने की आवश्यकता है —- ।

पत्र संख्या 124

13.12.1930

—- मेरे ख्याल से मानसिक काबू सब से कठिन है। इसके लिए उत्तम उपाय *गीता* का अभ्यास है। जब-जब मन को आघात लगता है, तभी अभ्यास में असफलता रहती है। अच्छी और बुरी खबर दोनों ही तुम पर से इसी तरह गुजर जानी चाहियें, जैसे बतख की पीठ पर पानी। जब हम कोई समाचार सुनें तब हमारा कर्त्तव्य इतना ही पता लगा लेना है कि किसी कार्यवाही की जरूरत है या नहीं; और अगर है तो परिणाम से प्रभावित या उसके प्रति आसक्त हुए बिना प्रकृति के हाथों में साधन बनकर कर्म करें —-।

—- जब कभी हमें बीमारी होती है, तब आम तौर पर खाने-पीने की ही भूल नहीं होती बल्कि दिमाग भी ठीक तरह से काम नहीं करता। स्पष्ट है कि गीता-कार ने यह बात समझ ली थी। और उसने संसार को रामबाण औषधि यथा सम्भव स्पष्ट भाषा में बता दी। इसलिये जब कभी कोई चीज तुम्हारे मन को कुतरने लगे, तो तुम्हें *गीता* के मुख्य उपदेश पर ध्यान लगाना चाहिये और उस बोझ को उतार फेंकना चाहिये —- ।

पत्र संख्या 125

20.12.1930

—- सन्त फ्रांसिस अपने शरीर को गधा कहते थे, फिर भी उसकी कुछ सम्भाल रखते थे। और आखिर तो गधा बहुत ही उपयोगी और धीरज वाला जानवर है। यह गधा भाई भी अगर ठीक ढंग से रखा जाए और उसका लाड़-प्यार किया जाए और लापरवाही न की जाए, तो अधिक उपयोगी हो सकता है —।

पत्र संख्या 128

12.1.1931

—- गुप्तता के बारे में तुम्हारे प्रकट किये हुए विचारों में कुछ गड़बड़ मालूम होती है। अगर कोई कसाई

मुझसे पूछे कि गाय किधर गई है, तो उसे बता देना हरगिज मेरा धर्म नहीं है। मैं उसे गलत रास्ता भी न बताऊं और न यह बताऊं कि गाय कहां गई। इतना ही नहीं, मैं गाय को छिपा भी सकता हूं। ऐसा करना सचमुच मेरा धर्म होगा। इस दृष्टान्त से हम परिस्थिति के अनुसार अपना आचरण निश्चित कर सकते हैं।

पत्र संख्या 130

25.1.1931

—- पुनर्जन्म के बारे में तुमने जो लिखा है, सही है। यह प्रकृति की कृपा है कि हमें पूर्वजन्मों का स्मरण नहीं है। हमने जो असंख्य जन्म लिये हैं, उनकी तफसील जानने से फायदा भी क्या है? अगर हम स्मृतियों का ऐसा भयंकर भार ढोते रहें, तो जीना दूभर हो जाए। ज्ञानवान मनुष्य बहुत सी बातें जान बूझकर भूल जाता है, ठीक उसी तरह जैसे एक वकील मुकदमों और उनकी तफसील को मुकदमों के खतम होते ही भूल जाता है। हां, मृत्यु केवल 'निद्रा और विस्मृति है' —- ।

पत्र संख्या 132

24.6.1931

—- तुमने अपना घर, अपने प्रियतम और संसार की प्रिय से प्रिय वस्तुएं छोड़ी हैं। इसलिये नहीं कि मेरे शरीर की सेवा करो, परन्तु इसलिये कि मैं जिस काम में लगा हूं उसमें सहायक बनो। जब तक तुम अपना प्रेम मेरे शरीर पर व्यर्थ खर्च कर रही थीं, मुझे महसूस होता था कि मैं गबन कर रहा हूं। और मैं जरा से बहाने पर उबल पड़ता था। अब जब तुम मेरे पास नहीं हो तो तुम्हें इस तरह भयंकर झिड़कियां लगाने के लिये मेरा गुस्सा अपने आप पर निकल रहा है। लेकिन मैं जब तुम से सेवा लेता था, तब क्रोध से जल रहा था। तुम मेरे कार्य की प्रसन्नता पूर्वक सेवा करके मेरी सच्ची सेवा करोगी। 'बच्चो, खुश रहो। बेकार अफसोस न करो।'

पत्र संख्या 133

6.7.1931

—- माताजी धीरे-धीरे जा रही हैं। अन्त जल्दी ही हो जाए तो अच्छा है। शरीर काम का न रह गया हो, तो उसे छोड़ देना बेहतर है। अपने प्रियजनों को अधिक से अधिक समय तक भौतिक शरीर में देखने की इच्छा स्वार्थपूर्ण इच्छा है और वह कमजोरी से या शरीर के नष्ट हो जाने के बाद आत्मा के अस्तित्व पर श्रद्धा न होने से पैदा होती है। रूप सदा बदलता रहता है, सदा नष्ट होता रहता है; उसके भीतर रहने वाली आत्मा न कभी बदलती है न नष्ट होती है —- ।

पत्र संख्या 134

—- तो माताजी चल बसीं। तुम्हारे पत्र की हर पंक्ति में छिपे हुए शोक को मैंने पहचान लिया। आखिर तो हम इन्सान ही हैं। शोक को छिपाने का सामर्थ्य उसे मिटाने की पहली सीढ़ी है। भगवान तुम्हें वह शक्ति दे। जहां तक खुद माताजी का सम्बन्ध है, तुम्हारे कहने के अनुसार यह अच्छी खबर है। जिनसे तुम्हें इतना प्रेम था उनकी मृत्यु से भविष्य के प्रति और सब प्राणियों की एकता के प्रति तुम्हारी श्रद्धा

बढ़नी चाहिये। अगर यह एकता सत्य न होती, तो हमें अपने प्रियजनों की मौत को भूल जाने की ताकत न मिली होती। इस अवसान से तुम्हें सेवा के लिये आत्मसमर्पण करने की अधिक प्रेरणा भी मिलनी चाहिये —- ।

पत्र संख्या 135

19.7.1931

—- जो अपने जीवन को गीता की शिक्षा पर चलाना चाहे, उसे अक्षरशः इस सिद्धान्त पर चलना पड़ेगा कि 'कल का विचार ही न करो' —- ।

—- आशा है अब तुम्हें बिलकुल शान्ति हो गई होगी और तुमने समझ लिया होगा कि शरीर के नष्ट होने पर प्रियजन अधिक सच्चे रूप में जीवित रहते हैं और हमारे प्रेम को भी ज्यादा सच्चा बना देते हैं, क्योंकि तब वह निःस्वार्थ होता है और सारे प्राणियों में बंट जाता है। किसी भी मित्र या रिश्तेदार की मृत्यु से हमारा विश्व प्रेम बढ़ना चाहिये।

पत्र संख्या 145

4.2.1932

—- एक कैदी और उसके इष्ट-मित्रों के लिये संयम ही उत्तम वस्तु है। परन्तु संयम वही है, जिससें शक्ति मिले। जिससे अशक्ति या उदासी आती हो, तो वह यांत्रिक या ऊपर से लादा हुआ बन जाता है। अगर तुम संयम के सौन्दर्य को समझ लो और समझने के बाद उसका स्वाभाविक रूप में पालन करो, तो तुम यहां कम आओगी। अगर इससे तुम में उदासी आती है, तो समझ लो कि यह प्रयत्न तुम्हारे लिये भार स्वरूप और अस्वाभाविक है। उस सूरत में तुम्हें जरा भी संकोच न रखकर, आना ही चाहिये—- ।

पत्र संख्या 146

11.2.1932

—- जिनका ईश्वर के पथ प्रदर्शन में विश्वास है, वे जो अच्छे से अच्छा हो सकता है वही करते हैं और फिर चिन्ता नहीं रखते। सूर्य को कभी अधिक परिश्रम से थकावट नहीं होती और सूर्य के बराबर अद्वितीय नियमितता के साथ कौन बेगार करता है? और हम यह क्यों समझें कि सूर्य जड़ पदार्थ है? उसके और हमारे बीच यह अन्तर हो सकता है कि उसे आजादी नहीं है और हमें थोड़ी बहुत है, भले ही वह कितनी ही अनिश्चित हो। लेकिन इस तरह की अटकलों में क्या धरा है? हमारे लिये इतना काफी है कि अथक शक्ति के मामले में हमारे सामने उसका उज्जवल उदाहरण मौजूद है। अगर हम अपने को पूरी तरह उसकी मरजी पर छोड़ दें और सचमुच शून्य बन जाएं, तो हम स्वेच्छा से चुनाव का अपना अधिकार छोड़ दें और फिर हमें किसी बात की चिंता नहीं करनी चाहिए —- ।

पत्र संख्या 150

8.4.1932

—- अगर मैंने शरीर को केवल सेवा के साधन और भगवान के मन्दिर के तौर पर इस्तेमाल करना सीखा होता, तो बुढ़ापा एक ऐसे सुन्दर पके हुए फल की तरह होता, जिसमें उसकी जाति के तमाम गुण पूर्ण रूप में होते हैं —- ।

पत्र संख्या 151

22.4.1932

—- हमें रहन-सहन सम्बन्धी गरीबों की कला सीखनी चाहिये —- ।

पत्र संख्या 152

6.5.1932

—- स्वेच्छापूर्वक अपनायी हुई दरिद्रता का आदर्श बहुत आकर्षक है। हमने प्रगति की है, मगर चूंकि मैं अपने खुद के जीवन में उस आदर्श पर बिलकुल नहीं चल सका हूं, इसलिये आश्रम में और लोगों के लिये बहुत प्रगति करना कठिन हो गया है। उनकी इच्छा तो है, परन्तु उनके सामने पूरा प्रत्यक्ष उदाहरण नहीं है —- ।

पत्र संख्या 155

26.5.1932

—- तुलसीदास जी की रामायण मेरी नजर में महान धार्मिक गुणों वाली पुस्तक है —- ।

पत्र संख्या 158

16.6.1932

—- सर जेम्स जीन की पुस्तक में एक बढ़िया वाक्य है, 'जीवन मृत्यु की ओर बढ़ने का एक मार्ग है'। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि जिन्दगी मौत की तैयारी है। पता नहीं क्यों हम उस अनिवार्य और महान घटना के विचार से ही कांपने लगते हैं। उसे पहले से बेहतर जिन्दगी की तैयारी समझें, तो भी वह महान है। और जो ईश्वर से डर कर जीने की कोशिश करता है, उसके लिये ऐसा ही होना चाहिये।

पत्र संख्या 159

22.6.1932

—- मेरे ख्याल से तुमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि 'शूरवीर एक ही बार मरते हैं' का गहरा अर्थ है और उसमें मोक्ष की हिन्दू कल्पना के अनुसार पूर्ण सत्य समाया हुआ है। इसका मतलब है जन्म-मरण के चक्कर से छूटना। अगर 'शूरवीर' शब्द का अर्थ उन लोगों के लिये लिया जाये, जो ईश्वर की खोज में दृढ़ हैं, तो वे एक ही बार मरते हैं। क्योंकि उन्हें फिर जन्म लेने और यह नाशवान चोला धारण करने की ज़रूरत नहीं होती —- ।

पत्र संख्या 161

14.7.1932

—- जहां तक मेरे पत्र व्यवहार का सम्बन्ध है, अभी तो सब बातें अस्तव्यस्त हैं। सारे पत्र सरकार के पास जाते हैं। बाद में क्या होता है, सो मुझे मालूम नहीं। मैं जांच कर रहा हूं। जेल जीवन ऐसा ही होता है। इसमें धीरज की अच्छी तालीम मिलती है —- ।

पत्र संख्या 162

21.7.1932

—- शरीर अपना भाड़ा लेगा। हमें कभी मालूम नहीं होता कि शरीर पर लागू होने वाले कानूनों को हम कब भंग कर बैठते हैं। और मानवी कानून की तरह प्रकृति भी अज्ञान का बहाना नहीं मानती। इसलिये

तुम्हारे ज्वर पर मुझे आश्चर्य नहीं होता —- ।

पत्र संख्या 168

23.8.1932

—- बेशक, हम अपनी गल्तियों से ही बीमार होते हैं। परन्तु कठिनाई यह होती है कि हमें सदा पहले से ही अपनी भूलों का ज्ञान नहीं हो सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि ज्ञान हो जाए तब भी हम हमेशा उनसे बच नहीं सकते। इसलिये यह सचाई जान लेना काफी है कि हम अपनी गल्तियों से ही बीमार होते हैं; और जब हम बीमार पड़ ही जाएं, तो सदा अपने को झिड़कते ही न रहें —- ।

पत्र संख्या 170

15.9.1932

—- मुझे मालूम है कि तुम्हें स्वभावतः वृक्षों और पशुओं को मित्र बनाने की कला याद है। मैं चाहता था कि तुम इस विचार का विस्तार इस तरह कर लो कि तुम्हें बाहरी मित्रों का अभाव न खटके। इसीलिये मैंने परायों को भी उसी श्रेणी में रखा था। यानी हमें निश्चित रूप से अनुभव होना चाहिये कि निजी मित्र और सम्बन्धी लोग अन्य व्यक्तियों, पशु-पक्षियों और पेड़ों से अधिक मित्र नहीं होते। वे सब एक ही हैं और अगर हम केवल महसूस कर सकें, तो वे सब ईश्वर की ही प्रतिच्छाया हैं। जब हम जेल की दीवारों में बन्द होते हैं, उस वक्त ऐसा निश्चित अनुभव होने से बाहर के मित्रों से मिलने की सारी लालसा मिट जाती है —- ।

पत्र संख्या 171

20.9.1932

—- जरा सोचो और समझो कि अन्तिम दर्शन करने में कोई अर्थ नहीं है। जिस आत्मा से तुम्हें प्रेम है, वह सदा तुम्हारे साथ है। जिस शरीर के द्वारा तुमने इस आत्मा से प्रेम करना सीखा, उसकी अब उस प्रेम को कायम रखने के लिये जरूरत नहीं है। जब तक उसका उपयोग है, तब तक वह बना रहे तो अच्छा है; जब उसका कोई उपयोग न रहे तब उसका नष्ट हो जाना भी उतना ही अच्छा है। और चूंकि हमें यह नहीं मालूम है कि उसका उपयोग कब समाप्त हो जायेगा, इसलिये हम यह नतीजा निकालते हैं कि मृत्यु किसी भी कारण से हो, उसका अर्थ यही है कि अब इस शरीर का उपयोग नहीं रह गया है —- ।

पत्र संख्या 176

27.9.1932

ईश्वर महान और दयालु है। वह अपने सेवकों की सहनशक्ति से बाहर परीक्षा नहीं लेता। इसलिये सरकार का जवाब समयं पर आ गया, जिससे मैं कल शाम के पांच बजे उपवास तोड़ सका —- ।

पत्र संख्या 178

29.9.1932

—- आशा है तुम सब अब पूर्णतया शांति से होगे। अछूतों ने सदियों से जो कष्ट सहन किये हैं, उनकी तुलना में यह उपवास दरअसल कुछ नहीं था।

पत्र संख्या 182

19.10.1932

—- तुमने लिखा है कि आजकल अपराधिनें तुम्हारे साथ हैं। हमारे कोष से अपराधी शब्द निकल जाना चाहिये। अन्यथा हम सब अपराधी हैं। "तुम में जो भी निष्पाप हों, वे पहला पत्थर मारें।" मगर पापिनी वेश्या पर पत्थर फेंकने की किसी की हिम्मत नहीं हुई। जैसा एक जेलर ने एक बार कहा था-'अन्दर से सब अपराधी हैं'। यह कहा तो गया था आधे मजाक में, मगर इसमें गहरा सत्य भरा है। इसलिये उन्हें अच्छे साथी मानो। मैं जानता हूं कि ऐसा कहना आसान और करना कठिन है। लेकिन *गीता* और सच तो यह है कि सारे धर्म हमें ऐसा की करने की शिक्षा देते हैं —-।

पत्र संख्या 183

26.10..1932

—- सात साल सपने की तरह निकल गये। जब मैं उन भयंकर झिड़कियों को याद करता हूं, तो कांप उठता हूं। और सिर्फ यही गानकर थोड़ा सा सन्तोष कर लेता हूं कि झिड़कियां प्रेम ही दिलवाता था। परन्तु मैं जानता हूं कि इससे बेहतर तरीका भी था। जब मुझे पिछली बातें याद आती हैं, तब अनुभव करता हूं कि मेरे प्रेम में अधीरता थी। उस हद तक उसमें अज्ञान था। ज्ञानपूर्ण प्रेम में सदा धैर्य होता है। अज्ञानपूर्ण प्रेम संस्कृत के मोह शब्द का अधूरा अनुवाद है। मैं धीरज रखना सीखूंगा। जब मैं अपनी छोटी-छोटी बातों की ओर देखता हूं, तो मालूम होता है कि अभी तक मुझ में उतना धैर्य नहीं आया है जितना सच्चा प्रेम चाहता है। वह धीरज भी आयेगा —-।

पत्र संख्या 184

3.11.1932

—- पैगम्बर के जीवन पर कई पुस्तकें हैं। पहला स्थान तो अमीर अली की "स्पिरिट आफ इस्लाम" को देना पड़ेगा। फिर वाशिंग्टन इरविंग की लिखी हुई "मुहम्मद एण्ड हिज सक्सेसस" भी बड़ी अच्छी पुस्तक है। कार्लाइल का "मोहम्मद ऐज ए हीरो" भी पढ़ने लायक ग्रन्थ है —-।

पत्र संख्या 188

1.12.1932

—- कोई मुझे बता न देता, तो मैं तुम्हें हरगिज 40 साल की नहीं मानता। आशा है तुम एक साल की बच्ची थीं, तब से अब कम से कम 40 गुनी ज्ञानवान हो, और अगर हर क्षण हमारे ज्ञान की वृद्धि हो, तो यह वृद्धि असीम न सही, बेहिसाब तो हो ही जाय। भगवान करे तुम्हारी ज्ञान-वृद्धि असीम हो! —-।

पत्र संख्या 191

8.12.1932

—- लेकिन उपवास तो मेरा साधारण जीवनक्रम बन गया है। यह वह आध्यात्मिक औषधि है, जो समय-समय पर ऐसे रोगों पर इस्तेमाल की जाती है, जो किसी विशेष चिकित्सा से ही अच्छे होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अचानक यह सामर्थ्य नहीं पा सकता। मैंने प्राप्त की है, तो बड़ी लम्बी तालीम के बाद प्राप्त की है —-।

पत्र संख्या 193 22.12.1932

—- तुम कहती हो कि हमारे भय का कारण ईश्वर में श्रद्धा न होना नहीं है, बल्कि अपने पर विश्वास न होना है। लेकिन ये दोनों एक ही चीज है। ईश्वर में श्रद्धा न होने से ही आत्मविश्वास का अभाव होता है, इससे ईश्वर क्या है इसके प्रति अज्ञानता प्रकट होती है। फिर तुम यह भी कहती हो कि श्रद्धा का अभाव हमारे असंयम से पैदा होता है। यह सच है परन्तु इसका अर्थ भी वही है। गीता के दूसरे अध्याय का 59 वां श्लोक पढ़ो। इन्द्रियों के विषय ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन से, या दूसरे शब्दों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा होने से ही नष्ट होते हैं —-।

पत्र संख्या 194 29.12.1932

—- किसी विपत्ति का (अर्थात् किसी घटना का जिसे हम विपत्ति मान लें लेकिन दरअसल जो वरदान (Blessing) हो) पहले से ही अभिनय करना और हमारी जो भावनायें होने वाली हों उन्हें पहले ही दोहराना उचित नहीं है। इतना काफी है कि हम बुरे से बुरे के लिये अपने को तैयार रखें। यह होता है ईश्वर में दिन प्रतिदिन श्रद्धा बढ़ाने से - वह ईश्वर, जो नेक है, न्यायपरायण है, दयालु है, उदार है, रोजी देने वाला है, निःसहायकों का सहायक है, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सदा जागरूक और पूर्ण सत्य है —-।

पत्र संख्या 195 5.1.1933

—- अभी तो तुम्हें उपवास का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। जब तक कोई चीज, अच्छी या बुरी, सामने ही न आ खड़ी तो, तब तक उसकी कल्पना कभी न करो। पूर्ण समर्पण का अर्थ है सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाना। बच्चा कभी किसी बात की चिन्ता नहीं करता। उसे कुदरती तौर पर मालूम रहता है कि मां-बाप उसकी चिन्ता रखते हैं। यह बात हम बड़े लोगों के लिये कितनी अधिक सच होनी चाहिये? इसी में श्रद्धा या यों कह लो कि गीता की अनासक्ति की परीक्षा है —-।

पत्र संख्या 197 19.1.1933

—- किसी चेतन प्राणी के लिये यंत्र की तरह बन जाना सबसे कठिन होता है। फिर भी किसी को शून्य बनना हो, तो पूर्णता की इच्छा रखने वाले को ठीक ऐसा ही बनना होगा। यंत्र और मनुष्य में बड़ा भारी भेद यह है कि यंत्र जड़ है और मनुष्य पूरी तरह चेतन है और उस महान कारीगर के हाथ में जान-बूझकर यंत्र बनता है। कृष्ण तो साफ शब्दों में कहते हैं कि सब प्राणी मशीन के पुर्जों की तरह ईश्वर के चलाये चलते हैं —-।

पत्र संख्या 198 26.1.1933

—- "उपवास के बिना प्रार्थना नहीं हो सकती," यह वचन बिलकुल ठीक है यहां उपवास का अर्थ अधिक से अधिक व्यापक करना होगा। शरीर के उपवास के साथ समस्त इन्द्रियों का भी उपवास करना पड़ेगा। और गीता का अल्पाहार भी शरीर का एक उपवास ही है। गीता भोजन के संयम की बात नहीं करती,

पर 'अल्पाहार' की करती है, अल्पाहार हमेशा का उपवास है। अल्पाहार का अर्थ यह है कि जिस सेवा के लिये शरीर बनाया गया है, सिर्फ उसके लिये शरीर को कायम रखने लायक ही खाया जाय। दूसरी परीक्षा यों हो सकती है कि भोजन भी औषधि की तरह नपी हुई मात्रा में, निश्चित समय पर और स्वाद के लिये नहीं परन्तु शरीर के हित के लिये लिया जाय —- ।

पत्र संख्या 200

9.2.1933

किसी कैदी को अपनी जेल-बदली की मांग करने का अधिकार नहीं होता। असाधारण परिस्थिति के सिवाय उसे जिस हालात में रखा जाय, उसी में रहना पड़ता है। जब मैं हावर्ड के जमाने के जेल जीवन का विचार करता हूं और आजकल के जेल जीवन को देखता हूं, तो स्थिति में सुधार देखकर चकित हो जाता हूं। फिर भी जिन कैदियों को अन्तःकरण की खातिर जेल की हवा खानी पड़ती है, उनके लिए इस जीवन और उस जीवन में कुछ फर्क नहीं होना चाहिए।

—- खैर, अब मामला सरकार के हाथ में है और उससे भी ज्यादा ईश्वर के हाथ में है। "उसकी मरजी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता"—- ।

—- गीता के जिस अंश को तुमने उद्धृत किया है, वह संयमपूर्ण आदतों से सम्बंध रखता है। मेरे दिमाग में यह चीज नहीं थी। जो अंश मेरे ध्यान में था वह अन्तिम अध्याय के 52वें श्लोक का है। मैं उसका अनुवाद यों करूंगा-"जिसे एकान्त प्रिय है, जो अल्पाहार करता है, जिसका मन, वचन और कर्म पर काबू है, जो ध्यान में लगा रहता है और आसक्तियों से सदा मुक्त है —- ।

पत्र संख्या 201

17.2.1933

—- तुम्हारे लिये जिस उत्तम भोजन की जरूरत है, वह है तमाम दिन और तमाम रात ताजी हवा। जैसा मुझे मालूम हुआ है, अगर तुम्हारे चौक में बहुत से नीम के पेड़ हैं तो तुम्हें दिनभर खुले में काम करना चाहिये। ओस पड़े या न पड़े, रातभर तुम्हें पेड़ों की छाया में भी नहीं, परन्तु सीधे आकाश के नीचे सोना चाहिये। तारों के साथ अत्यन्त सीधा सम्पर्क निहायत जरूरी है —- ।

—- जो स्वच्छ वायु सेवन करते हैं, शुद्ध पानी पीते हैं, ठीक तरह का भोजन ठीक मात्रा में और ठीक ढंग से खाते हैं और आवश्यक व्यायाम करते हैं, उन्हें क्षय रोग नहीं हो सकता —- ।

—- तुम्हें अपने शरीर को सोलहों आने रोग मुक्त बना लेने की कोशिश करनी चाहिये —- ।

पत्र संख्या 202

24.2.1933

—- तुम्हें मालूम है कि वह (गीता) माता कहलाती है। गीता का अर्थ "गीत" है। वह उपनिषद् के विशेषण के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है और उपनिषद् स्त्रीलिंग है। उसकी उपमा पवित्र गाय से दी जाती है, जो तमाम मनोरथ पूरे करने वाली है। इसलिये वह माता हुई। खैर, यह अमर माता हमें

आध्यात्मिक पोषण के लिये जितना दूध चाहिये वह सब वे देती है। शर्त इतनी ही है कि हम दूध पीने वाले बच्चों की तरह दूध लेने और चूसने के लिये उसकी शरण में जायें। उसके स्तन के अटूट भण्डार में अपने करोड़ों शिशुओं को दूध पिलाने की सामर्थ्य है ---।

पत्र संख्या 203 *4.3.1933*

---- पत्र लेखन कैदियों का अधिकार नहीं है। इसलिये इसमें हमारा अधिकार छिन जाने का प्रश्न भी नहीं है ---।

गीता के भक्त को न सुख होता है न दुःख। और जब हम उस स्थिति में पहुंच जाते हैं, तब दुःख-सुख, हार-जीत, प्राप्ति-अप्राप्ति कुछ नहीं रह जाते। अगर हम गीता के उपदेश का पालन करना सीख लें, तो जेल-जीवन विशेष सुविधाजनक बन जाता है। यह काम बाहर की अपेक्षा जेल में ज्यादा आसानी से हो सकता है। कारण, बाहर तो हमें पसन्द-नापसन्द करने का अवसर मिलता है। इसलिये हम सदा अपनी परीक्षा नहीं कर सकते। जेल में तरह-तरह के खटकने वाले मौके आते रहते हैं। क्या हम उन्हें निश्चल भाव से सहन कर सकते हैं? कर सकें तो अच्छा है ---।

पत्र संख्या 204 *11.3.1933*

---- कल ग्रेग की भेजी हुई नजर विषयक एक अमरीकी पुस्तक में मुझे एक जोरदार वाक्य मिला। उस पुस्तक में कहा गया है कि झूठ से बदन गरम और आंखें खराब हो जाती हैं। अगर 'झूठ' के अर्थ का विस्तार कर लें, तो यह सही है, जान या अनजान में कुदरत के कानूनों को भंग करना झूठ है। जान बूझकर ज्ञात नियमों का तोड़ना ऐसा झूठ है, जिससे हमारे नैतिक बल की हानि होती है ---।

---- मन और शरीर के खिंचाव को राहत पहुंचाने के लिये नींद से बढ़कर कोई चीज नहीं है। इसलिये प्राणायाम, पद्मासन लगाकर शरीर को सीधे तख्ते की तरह तानकर करना चाहिये। यह सब अभ्यास धीरे-धीरे, विचारपूर्वक और नियमित होना चाहिये और हमेशा खाली पेट होना चाहिये ---।

---- कम खाने के कारण जितने लोग कमजोर रहते हैं, उनसे अधिक लोग ज्यादा या गलत भोजन के कारण रहते हैं। अगर हम उचित भोजन चुन लें, तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि कितनी थोड़ी सी मात्रा काफी हो जाती है ---।

पत्र संख्या 206 *27.4.1933*

---- मैं सम्पूर्ण प्राणी नहीं हूं। मेरी भूलों में तुम्हें मुझसे सहमत क्यों होना चाहिये? यह तो अन्धश्रद्धा होगी। मुझ पर श्रद्धा होने से तुम में किसी दोषदर्शी की अपेक्षा मेरी सच्ची भूल अधिक जल्दी जान लेने की सामर्थ्य आनी चाहिये। मैं तो तुम्हारी श्रद्धा से इतनी ही आशा रखूंगा कि जब तुम मुझे अपनी गलती का विश्वास न करा सको तो तुम्हें यह सोचना चाहिये कि संभव है जिन मामलों में मैंने तुमसे अधिक विचार और अनुभव किया है, उनमें मेरी दृष्टि अधिक स्पष्ट हो। इससे तुम्हें मन की शान्ति मिलेगी। इसलिये तुम्हें अपनी शंकाओं को दबाकर और कुछ खास बातों में मेरे ख्याल से सहमत न होने के कारण

आत्मपीड़न करके अपनी विचार शक्ति को निकम्मी नहीं बना देनी चाहिये ---।

---- ब्रह्मचर्य की मेरी व्याख्या याद रखो। उसका अर्थ एक या अनेक इन्द्रियों का दमन नहीं है, परन्तु उन सब पर पूर्ण विजय प्राप्त करना है। दोनों स्थितियों में मौलिक भेद है। मैं अपनी सारी इन्द्रियों को दबा तो आज भी सकता हूं, परन्तु उन्हें जीतने में मुझे कल्प लग सकते हैं। विजय का अर्थ यह है कि वे स्वेच्छापूर्वक दासों का काम दें ---।

---- हमें पाशविक इच्छा पर लगाम लगाकर उसे दिव्य इच्छा बना देना होगा। यहां तुम गीता के दूसरे अध्याय का 64 वां श्लोक पढ़ लो। भगवद्गीता का ध्रुवपद 'युद्ध से भागना नहीं, बल्कि अनासक्त होकर मुकाबला करना है' ---।

पत्र संख्या 207

4.5.1933

---- हम जीते रहें तो भी अच्छा और मर जायें तो भी अच्छा। हम मरने के लिये ही पैदा होते हैं और फिर पैदा होने के लिए ही मरते हैं। यह सब पुराना तर्क है। फिर भी इसे हृदयंगम कर लेने की आवश्यकता है। किसी न किसी कारण हम जन्म की तरह मृत्यु का स्वागत नहीं करते। हमें अपनी इन्द्रियों के प्रमाण पर भी भरोसा नहीं होता कि आत्मा के बिना शरीर से कोई आसक्ति रखी ही नहीं जा सकती। और इस बात का कोई भी प्रमाण नहीं है कि आत्मा शरीर के साथ नष्ट हो जाती है ---।

पत्र संख्या 209

8.5.1933

---- उपवास ईश्वर की आज तक मिली हुई किसी भी देन से बड़ी देन है ---।

पत्र संख्या 211

तुम अन्त तक बहादुर बनी रहना। मेरी बेटी होना खेल नहीं है ---।

---- परन्तु मेरे बच्चे सपूत हों तो उन्हें मुझ से अधिक अच्छा आचरण बताना पड़ेगा। क्यों ठीक है? ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।

पत्र संख्या 213

21.5.1933

तुम अद्भुत वीरता का परिचय दे रही हो। ईश्वर पर सम्पूर्ण आधार रखने के सिवाय कोई सच्ची बहादुरी नहीं है।

पत्र संख्या 216

5.6.1933

---- यह बार-बार बुखार आना मुझे अशान्त करता है। तुम्हें सच्चा आत्मसंयम सीखना चाहिये। यह पढ़ने से नहीं होता बल्कि निश्चित रूप से यह अनुभव करने से ही होता है कि ईश्वर हमारे साथ है और वह हमारी संभाल इस तरह करता है मानो उसे और किसी की चिन्ता करनी ही नहीं है। यह कैसे होता

है, सो मैं नहीं जानता। यह जरूर जानता हूं कि ऐसा होता ही है। जिनमें यह श्रद्धा है उनके कन्धों से सारी चिन्ताओं का भार उठ जाता है। तुम एक साथ श्रद्धा और खिंचाव दोनों नहीं रख सकतीं। अपने मन का खिंचाव दूर करो —-।

पत्र संख्या 217 *7.6.1933*

—- जैसे-जैसे समय बीतता है वैसे-वैसे मैं रोम रोम में उसका (ईश्वर का) सजीव अस्तित्व अनुभव करता हूं। यह अनुभव न हो तो मैं पागल हो जाऊं। मेरे मन की शान्ति को भंग करने वाली कितनी ही बातें होती हैं। इतनी घटनायें होती हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का भान न हो तो वे मुझे जड़ से हिला डालें —-।

पत्र संख्या 222 *13.7.1933*

—- मैं चाहता हूं कि तुम मन और शरीर दोनों के स्वास्थ्य की होड़ में उसकी चिन्ता किये बगैर मुझे हरा दो। तुमने मुझे पिता और मां दोनों बना तो लिया, परन्तु मुझ से पाई हुई विरासत में वृद्धि नहीं की तो फायदा क्या हुआ? मेरा सचमुच यह विश्वास है कि जहां परस्पर कर्तव्य का भाव होता है वहां ऐसा ही होना चाहिये। और जहां माता-पिता बनाये जाते हैं, वहां उनकी बुराइयों और मर्यादाओं के लिये नहीं, किन्तु उनमें जो गुण माने जाते हैं, उनके लिये बनाये जाते हैं। इसलिये असली या काल्पनिक गुण केवल लिये ही नहीं जाते, उनमें वृद्धि भी की जाती है। मैं चाहता हूं तुम इस नियम को सिद्ध कर दिखाओ। मुझे विश्वास है तुम ऐसा करोगी —-।

पत्र संख्या 233 *7.8.1934*

—- अभी तो मेरे मन में कई परिवर्तन हो रहे हैं। कांग्रेस की भ्रष्टता जैसे मुझे इस समय खाए डाल रही है, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ। मैं मित्रों से सलाह-मशविरा कर रहा हूं कि मेरा कांग्रेस छोड़कर और बाहर रहकर उसके आदर्शों को पूरा करने की कोशिश करना कहां तक ठीक होगा। यह अच्छा है कि भ्रष्टाचार से मुझे बेचैनी होती है —-।

पत्र संख्या 234 *16.8.1934*

—- आज गुरुवार है, उपवास तोड़ने के बाद तीसरा दिन। अन्तिम दिवस शारीरिक पीड़ा का था। शायद इसी में भलाई हो। मुझे शारीरिक यातना न हो, तो प्रायश्चित का मूल्य ही क्या? कष्ट अनुभव न हो, तो 'कष्ट भोगने का आनन्द' इन शब्दों का अर्थ मुझे पहले की उपेक्षा सोमवार को ज्यादा पूरी तरह मालूम हुआ। इस खजाने को पाकर मैं इतना सम्पन्न हो गया कि उसे मैं किसी राज्य के बदले में भी जाने न देता —-।

पत्र संख्या 235 *7.9.1934*

—- खान बन्धु यहां आये हुए हैं और उनके साथ बड़ा आनन्द आ रहा है। उनके साथ जितना अधिक

रहो, उतना ही उनके प्रति प्रेम बढ़ता है। वे कितने अच्छे, कितने सादे और साथ ही कितने तीव्र बुद्धि हैं। वे घुमा-फिरा कर बातें नहीं करते —-।

पत्र संख्या 238

12.10.1934

—- यहां बातें स्वरूप पकड़ रही हैं। पता नहीं क्या होने वाला है। मेरा मन कांग्रेस से निकल जाने पर तुला हुआ है। मुझे पूरा यकीन है कि इससे कांग्रेस का और मेरा दोनों का भला होगा। बाहर रहकर मैं कांग्रेस पर अधिक अच्छा प्रभाव डाल सकूंगा। अभी मैं जो भार बना हुआ हूं सो नहीं रहूंगा और फिर भी जब-जब जरूरत होगी अपने विचार कांग्रेस को देता रहूंगा —-।

पत्र संख्या 248

14.2.1936

—- निकट भविष्य में मेरा इरादा बहुत सफर करने का नहीं है। हिन्दुस्तान से बाहर तो कतई नहीं। "मुझे दूर के दृश्य नहीं चाहियें, एक कदम मेरे लिये काफी है"। मेरा दिल गांवों में है —-।

पत्र संख्या 249

14.3.1936

—- अवश्य ही देहात में असली ग्रामवासियों से होने वाला हरेक घनिष्ठ सम्पर्क हमें नया ज्ञान और नयी आशा देता है। हां, उससे हमें अपनी मार्ग की कठिनाइयों का भी पता चलता है। मेरा हृदय वहीं है —-।

पत्र संख्या 260

14.5.1936

—- डॉ० अन्सारी के देहान्त से मुझे बड़ा आघात पहुंचा। अभी तक उसका असर मिटा नहीं है। कितनी ही बातों में मुझे उनकी उपस्थिति की आवश्यकता अनुभव होती है —-।

पत्र संख्या 261

18.5.1936

—- हां, डा० अन्सारी की मृत्यु मेरे लिये एक भारी व्यक्तिगत हानि है। जन्म और मृत्यु दोनों ही महान रहस्य हैं। यदि मृत्यु दूसरे जीवन की पूर्व स्थिति नहीं है, तो बीच का समय एक निर्दय उपहास है। हमें यह कला सीखनी चाहिये कि मृत्यु किसी की और कभी भी हो, उस पर हम हरगिज रंज न करें। मेरे ख्याल में ऐसा तभी होगा, जब हम सचमुच अपनी मृत्यु के प्रति उदासीन होना सीखेंगे —-।

पत्र संख्या 281

26.12.1936

—- अगर तुम्हें अपने जीवन में अहिंसा को व्यक्त करना है, तो तुम्हें गरम से गरम मिजाज को भी निभा लेना होगा। वह गुस्सा खुद तुम पर निकले या तुम्हारे संरक्षितों या प्रिय मित्रों पर निकले, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

पत्र संख्या 283 *20.1.1937*

—- मैं नहीं जानता कि देहात के काम को जितना समय मैं दे रहा हूं, उससे ज्यादा दे सकूंगा। मेरे जीवन को उसकी आश्चर्यजनक मर्यादाओं के साथ स्वीकार करना पड़ेगा। यह काफी है कि मैं गांव में रहता हूं, और गांव की दृष्टि से विचार करता हूं। काम तो मुझे वैसा ही करना होगा जैसा मौका मिल जाय —-।

पत्र संख्या 297 *8.5.1938*

—- स्पष्ट है कि तुम्हारी बहन एक बहुत श्रेष्ठ स्त्री थी – अनोखा नमूना थी। ऐसी बहन के चले जाने पर तुम्हारे दुःख को मैं समझ सकता हूं। परंतु ऐसे वियोग हमारी श्रद्धा की परीक्षा लेते हैं। जब तक हमारा यह दृढ़ विश्वास नहीं होगा कि भले आदमियों के लिये मृत्यु एक बेहतर हालत में जाना है और बुरों के लिये लाभदायक बचाव है, तब तक हम मौत के रहस्य पर सन्तोष नहीं कर सकेंगे।

पत्र संख्या 308 *20.1.1939*

—- मुझे ऐसी कला खोज निकालनी पड़ेगी, जिससे मैं अन्त तक दीर्घजीवी होकर भी पूरा काम करता रहूं। युवावस्था में अपनी बहुत सी जिन्दगी व्यर्थ गंवाने के बाद मैं पूरी तरह तो वह कला कभी नहीं सीख सकूंगा। ईश्वर मेरे शेष जीवन में जो कुछ प्रदान करता है, उसके लिये हमें आभारी होना पड़ेगा।

पत्र संख्या 310 *3.2.1939*

—- मेरी कोई चिन्ता न करो। जब तक ईश्वर को मेरी जरूरत है, वह मुझे पृथ्वी पर रखेगा। मैं यहां होऊं या और कहीं, दोनों ठीक हैं। हमारी नहीं, उसकी इच्छा पूरी होनी चाहिए।

पत्र संख्या 327 *12.3.1940*

सत्याग्रही दमन के लिए तैयार तो हमेशा रहता है, परन्तु उसकी राह नहीं देखता। वह अपने विरोधी की नीयत पर इलजाम नहीं लगाता —-।

पत्र संख्या 331 *7.9.1940*

—- जरूरी तो यह है कि तुम में ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना हो। तुम्हारी बाहरी प्रवृत्ति कुछ भी क्यों न हो, सब ईश्वर की खातिर होनी चाहिए।

पत्र संख्या 332 *21.9.1940*

—- तुम्हारे पत्र के वर्णनात्मक अंश सदा की भांति ताजे और प्रसन्न करने वाले हैं। इससे मैं यह निष्कर्ष निकालता हूं कि तुम्हें आन्तरिक शान्ति है। अगर तुम्हारी वहां* की साधना से तुम्हारी शान्ति में सतत

---

* पालमपुर में लाला कन्हैयालाल बुतैल के पास।

वृद्धि नहीं होगी तो साधना व्यर्थ होगी। तुम्हारा पशु-पक्षी और पेड़-पत्थरों से प्रेम ही तुम्हारा सबसे बड़ा सहारा है। ये ऐसे मित्र और साथी हैं, जो कभी धोखा नहीं देते।

पत्र संख्या 337

4.12.1940

—- हरेक भौतिक, नैतिक या आध्यात्मिक प्रयत्न के लिये तंदुरुस्त शरीर जरूरी है।

पत्र संख्या 344

13.5.1941

—- हरेक जगह मैं अभिभूत हुआ हूं। राजकोट के घर की जगह बम्बई का घर बना। उसके स्थान पर नेटाल का घर बना, फिर बम्बई में, बाद में जोहानिस्बर्ग में दो, फिर फिनिक्स, टाल्स्टाय फार्म, फिर वापस फिनिक्स, बाद में कोचरब, साबरमती, मगनवाड़ी और सेवाग्राम में। मैंने बीच के स्थान परिवर्तन तो छोड़ ही दिये हैं। सब यथा समय हुऐ। भगवान ही जाने अब वह मुझे कहां पटकेगा। नहीं, मेरी रक्षा इसी में है कि मैं प्रार्थना और प्रतीक्षा करूं। "तू (ईश्वर) ही मुझे रास्ता बता।"

पत्र संख्या 345

22.5.1941

—- युद्ध के समाचार सनसनी खेज बन रहे हैं। इंग्लैण्ड की बरबादी के समाचार हृदय विदारक हैं। पार्लियामेण्ट भवन, एबे और बड़ा गिरजा तो अमर प्रतीत होते थे। और अभी तो कोई अन्त ही नहीं है।

पत्र संख्या 354

15.3.1942

—- ईश्वर तुम्हारा विश्वसनीय गुरू और हितैषी है। उस पर पूरा भरोसा रखो। तुम्हारा शरीर तुम्हारे लिये अच्छा सूचक है —-।

पत्र संख्या 360

21.7.1942

तुम मेरे दिये हुए प्रमाणपत्र को सही साबित कर रही हो – वर्णनात्मक ढंग के पत्र लिखने में तुम जन्म से ही सिद्धहस्त हो। लेथवट (वाइसराय के निजी सचिव) के साथ की तुम्हारी बातचीत का तुम्हारा खींचा हुआ चित्र हूबहू है।

पत्र संख्या 365

27.2.1945

तुम किसान आश्रम* रख सकती हो। लेकिन यह रखो तो मजदूर या उसी का समानार्थक क्यों नहीं? किसान तो करोड़पति हो सकता है, मगर मजदूर या श्रमजीवी नहीं हो सकता। लेकिन तुम्हें किसान अधिक पसन्द हो, तो मुझे कोई हर्ज नहीं मालूम होता।

---

* किसान आश्रम की स्थापना रुड़की और हरिद्वार के बीच मूलदासपुर गांव में की गई थी।

पत्र संख्या 367 7.4.1945

—- तुम्हारा पशु प्रेम, और उसमें भी गो प्रेम असीम है। मैं अधिकतर इस बात से सहमत हूं कि अगर हमें वास्तव में परिणाम पैदा करना है, तो व्यक्तिगत रूप से (गाय पर) ध्यान दिया जाना चाहिये —-।

पत्र संख्या 368 27.6.1945

—- खबरदार, कहीं बूते से ज्यादा काम न करना और न मौसम के विरुद्ध चलना, क्योंकि तुम इसके लिये नहीं बनी हो —-।

पत्र संख्या 372 10.1.1946

यह पत्र सिर्फ तुम्हें यह बताने के लिये है कि तुम्हारे हिमालय सम्बन्धी दृश्यों * की चित्रकारी का कल ही अध्ययन कर सका हूं। मैं जितना अध्ययन कर सका, उससे अधिक की जरूरत थी। परन्तु अपने कार्य में तुमने जितना प्यार उंडेला है, उसे समझने और उसकी कद्र करने में मुझे कठिनाई नहीं हुई —-।

* ऋषिकेश के आस-पास के उन पहाड़ों के दृश्य, जो अब पशुलोक के भाग हैं।

पत्र संख्या 378 4.12.1946

—- मेरी चिन्ता न करना। ईश्वर पर श्रद्धा और विश्वास रखना। मैं उसके हाथों में सुरक्षित हूं। वही मुझे बनायेगा या बिगाड़ेगा। उसके लिये सब बनाना ही है, बिगाड़ना कभी है ही नहीं —-।

——"जो अखबारों में छपता है, उस पर भरोसा न करो"। याद रखो कि खबर न मिलना खुशखबरी है। तुम्हें मालूम है कि ए.जी. बेलफोर जब प्रधानमंत्री थे, तो शेखी मारा करते थे कि उन्होंने कभी अखबार नहीं पढ़े और उससे कुछ नहीं खोया —-।

—- यहां (नौआखाली) का काम नया, बहुत सुखद और उतना ही सख्त है। मेरे अहिंसा व्रत की परीक्षा हो रही है —-।

—- आश्रम की कल्पना बिलकुल तुम्हारी की मौलिक कल्पना है। अगर वर्तमान स्थान तुम्हारे लिये अनुकूल नहीं है, तो तुम्हें उसका जो उपयोग हो सकता है कर लेना चाहिये। मैं खुद तो यह कहूंगा कि अपने सिवाय दूसरों के लिये तुम आश्रम-जीवन का विचार छोड़ दो। फिर तुम्हें ऐंठन महसूस नहीं होगी और तुम विश्व के समान ऊंची और विशाल बन सकती हो। तुम्हें मालूम है कि मैंने साबरमती में आश्रम तोड़ दिया और वह एक हरिजन संस्था बन गयी। मूल तो सत्याग्रह आश्रम था। वह सदा के लिये मिट गया। इसलिये अपनी कल्पना का आश्रम और किसी को सौंप देने का विचार कभी न करो —-।

पत्र संख्या 379 4.1.1947

—- सब बातें मनुष्य की मन, वचन, और कर्म की शुद्धि पर निर्भर हैं। यहां "शुद्धि" शब्द का अत्यंत

व्यापक अर्थ में उपयोग किया गया है। फिर तो शायद सिर दुखने तक का कारण भी न रहे। सिर्फ इसी मूल बात को पकड़ लो। हम अक्सर "शुद्धि" शब्द का निश्चित अर्थ में उपयोग नहीं करते और तरह-तरह की नैतिक भूलों को क्षम्य मान लेते हैं। यह भी चिन्ता न करो कि यहां (नौआखाली में) मेरा क्या हाल है या मैं क्या कर रहा हूं। अगर मैं अपने अहं को पूरी तरह निकाल दूं, तो ईश्वर मुझमें आ बसेगा। फिर मैं जानता हूं कि सब बातें सच्ची होंगी। लेकिन यह एक गंभीर प्रश्न है कि मैं शून्यवत् कब बनूंगा। "मैं" और "०" (शून्य) को पास-पास रखकर सोचोगी, तो तुम्हें दो चिन्हों में जीवन की सारी समस्या समाई हुई मालूम होगी। इस क्रिया में तुमने मेरी बहुत मदद की है। क्योंकि दूर रहकर भी तुम अपने कार्यक्षेत्र में अपना कर्तव्य पूरी तरह अदा करती हुई दिखाई देती हो —-।

पत्र संख्या 381 *29.5.1947*

—- संयमी जीवन के लिये तुम्हारे 55 वर्ष कुछ नहीं हैं। परन्तु तुम्हें किसी बात की चिन्ता नहीं है —-।

पत्र संख्या 383 *29/30.6.1947*

—- मैं तो ईश्वर के हाथ में हूं। मैं न यह चाहूंगा, न वह। मेरे लिये तो आज की भलाई काफी है। बुराई का विचार मुझे नहीं करना चाहिये। कौन जानता है कि दरअसल क्या भला है और क्या बुरा है। इसलिए हमें भलाई के सिवाय कुछ सोचना ही नहीं चाहिये —-।

पत्र संख्या 384 *20.8.1947*

—- तो तुम्हें हिमालय पर्वत पर रहने से कोई लाभ नहीं हुआ। स्पष्ट है कि तुम अपने शरीर को बनाने में असमर्थ हो —-।

—- मेरा सुझाव है कि गोपालन सहित तुम सब प्रवृत्तियां छोड़ दो —-।

पत्र संख्या 385 *16.1.1948*

—- अंत में वह (उपवास) ऐसा साबित होगा या नहीं, यह मेरे या तुम्हारे सोचने की बात नहीं है। हमारे सोचने की बात तो कर्म ही है, कर्म का फल नहीं। उपवास सदा की भांति प्रार्थना के साथ शुरू हुआ —-।

—- मेरे उपवास करने के कारण यहां दौड़कर न चली आना। मैंने इसे यज्ञ कहा है, इसलिये उसका तकाजा है कि सभी लोगों को, चाहे वे कहीं हों, अपना-अपना काम करना चाहिये। अगर काफी लोग ऐसा करेंगे, तो मैं इस अग्नि परीक्षा के बाद जरूर जीवित रहूंगा। ईश्वर पर भरोसा रखो और जहां हो वहीं रहो —-।

कुछ विशेष पत्र

अनुक्रम

मीरा बहन के पत्र डा० राजेन्द्र प्रसाद के नाम तथा
डा० राजेन्द्र प्रसाद के पत्र मीरा बहन के नाम 217

मीरा बहन के पत्र पंडित जवाहर लाल नेहरू के नाम तथा
पंडित जवाहर लाल नेहरू के पत्र मीरा बहन के नाम 219

मीरा बहन के पत्र श्रीमती इंदिरा गांधी के नाम तथा
श्रीमती इंदिरा गांधी के पत्र मीरा बहन के नाम 222

मीरा बहन के पत्र डा० राजेन्द्र प्रसाद के नाम तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद के पत्र मीरा बहन के नाम

मीरा बहन – डा० राजेन्द्र प्रसाद को

20 नवम्बर, 1954

मुझे विश्वास है कि आपको यह जानकर खुशी होगी कि सभी डेक्स्टर (गायें और सांड़) यहां सुरक्षित पहुंच गए हैं (सिवाय एक बेचारी ओसर के, जो गर्मी के कारण लाल सागर में मर गई), और अपने नए घर में खुशी से बस रहे हैं। पत्र लिखने के लिए मैं कुछ चित्रों (फोटो) का इन्तजार कर रही थी, जो आपको भेज सकूं। दो सांडों तथा दो सांडों और पांच ओसरों को दर्शाते हुए चित्र संलग्न हैं। गांव वाले इनसे बहुत खुश हैं – इनका छोटा आकार, काला रंग और सुगठित शरीर सबको मोह लेता है। और जब उन्हें पता चलता है कि ये प्रतिदिन 10-15 सेर दूध देती हैं तो वे प्रफुल्लित हो उठते हैं। सबसे बड़ी ओसर, लगभग एक महीने में ब्याने वाली है और यदि इतनी लम्बी यात्रा की यातना के बावजूद वह काफी मात्रा में दूध देती हैं तो गांव वालों का पूरा विश्वास प्राप्त हो जाएगा।

इन्हें पूरे भारत से विशेषकर बनिहाल दर्रे के रास्ते लाना बहुत कठिन काम था। पूरे समय मेरा दिमाग भगवान की कृपा पर लगा रहा और उनकी ही कृपा से यह यात्रा सफल रही, जिसके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं।

आपके अंग रक्षक अधिकारियों ने कृपा करके दिल्ली स्टेशन पर हरी घास उपलब्ध कराई जिसे डेक्स्टरों ने शौक से खाया और हमेशा की तरह राष्ट्रपति भवन के आतिथ्य ने मेरी यात्रा को आसान बनाया।

भवन बनाने का काम हम लगभग पूरा कर चुके हैं, अब केवल चूल्हे, स्टोव आदि जैसे छिटपुट काम चल रहे हैं। छः सप्ताह के भीतर हमें भारी हिमपात की सम्भावना है।

आजकल मौसम बहुत सुहावना है, दिन में चमचमाता सूरज और रात में सफेद तुषार। मेरी बलवती इच्छा है कि जवाहरलाल नेहरू कुछ समय के लिए यहां पूरे आराम के लिए आएं। मुझे यकीन है कि उनके स्वास्थ्य के लिए संसार के अन्य किसी भी स्थान के मुकाबले कश्मीर और विशेषकर सिन्धु घाटी अधिक उपयुक्त है। उनके रहने के लिए मेरी कुटिया है और घुड़सवारी के लिए पड़ोसियों का एक अच्छा घोड़ा है। मैं जानती हूं कि वस्तुतः इसकी कोई गुंजाइश नहीं है फिर भी मैं उन्हें लिख कर यह सुझाव देने वाली हूं।

डा० राजेन्द्र प्रसाद - मीरा बहन को

1 दिसम्बर 1954

आपका 20 नवम्बर 1954 का पत्र पाकर और यह जानकर कि आपकी गायें और ओसर सुरक्षित पहुंच गए हैं तथा आपकी वहां की समस्याएं सुलझ गई हैं व आपका काम संतोषजनक रूप से चल रहा है, मुझे बेहद खुशी हुई। मैं आपके आश्रम की प्रगति दिलचस्पी के साथ देखता रहूंगा।

मीरा बहन - डा० राजेन्द्र प्रसाद को

16.9.1962

राजबंसी देवी के निधन के बारे में पढ़ कर मेरा दिल भर आया। भगवान आपको साहस दे। यह बापू और बा के साहचर्य जैसा था और उससे भी लम्बे साहचर्य का अन्त है। हम सब, जो उन यादगार दिनों में बापू के साथ रहे थे, आहिस्ता आहिस्ता अपनी वर्तमान पारी के अन्त की ओर बढ़ रहे हैं। जितना अधिक मैं जी रही हूं, उतना ही, इस अन्त को मैं अन्त मानने में कमी करने लगी हूं। या फिर मैं यह मानने लगी हूं कि जिन्दगी, एक दिन की तरह है, जिसके बीत जाने पर, अगली सुबह नए सिरे से शुरू करने से पहले, रात में आराम करना स्वाभाविक और जरूरी है।

पिछले महीनों में मैंने आपके बारे में काफी सोचा है और मुझे यकीन है कि इतने लम्बे अरसे तक जिस महान पद पर रह कर आपने उसकी गरिमा को बढ़ाया है, उसे पूरा करने के बाद अब आप काफी राहत और आजादी महसूस कर रहे होंगे। यह आभास मुझे एक बार अणु-शस्त्र विरोधी सम्मेलन में आपके द्वारा कहे गये स्पष्ट शब्दों से हुआ था।

डा० राजेन्द्र प्रसाद - मीरा बहन को

25 सितम्बर, 1962

आपके 16 सितम्बर के पत्र के लिए धन्यवाद, जिसमें आपने मेरी पत्नी के निधन पर अपनी सहानुभूति, कृपापूर्वक व्यक्त की है। इस घटना को इतने सन्तुलित और संवेदनशील रूप में और कोई नहीं देख सकता, जो आपने कहा है, वह इन चीजों के बारे में सोचने के मेरे अपने तरीके जैसा ही लगता है।

आपने जो कुछ कहा है उसके लिए मैं आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूं और आपके विचारों की सराहना और आदर करता हूं।

मीरा बहन के पत्र पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू के पत्र मीरा बहन के नाम

मीरा बहन - जवाहरलाल नेहरू को

20 नवम्बर, 1954

चीन के दौरे पर रवाना होने से पूर्व जब हम दिल्ली में मिले तब मैं 'आराम' और 'सांस लेने के समय' की अत्यावश्यक इच्छा के संबंध में कुछ नहीं जानती थी। आप इसके संबंध में खुले आम बताना चाहते थे लेकिन जब मैं आपसे इस संबंध में बात करने लगी तो मैंने एक अजीब उलझन महसूस की। मैंने यहां के कार्य के बारे में आपको अवगत कराने की कोशिश की लेकिन उसी समय मेरे मन में एक आंतरिक भावना पैदा हुई कि मुझे आपका समय नष्ट नहीं करना चाहिए। कुछ दिनों के बाद जब आपका बयान जारी हुआ तो सभी बातें मेरी समझ में आ गईं।

बापू के हद से ज्यादा कार्य करने के समय मात्र एक ही निदान था और वह था एक शांत स्थान पर मेरी छोटी सी मिट्टी की कुटिया। इसे आराम के लिए देते समय मुझे बहुत खुशी होती थी। यहां भी मेरी छोटी सी कुटिया बनकर तैयार हो गई है। यह आपके शानदार देश और आपकी प्रिय सिंध घाटी में स्थित है। यह दूसरी इमारतों से कुछ दूरी पर है और इसके चारों ओर उद्यान युक्त दीवार है। उत्तर-पूर्व में यह गंगाबल घाटी के ऊपरी हिस्से में और दक्षिण-पश्चिम में सिंधु घाटी के निचले भाग में दिखाई पड़ती है। यहां आप इतना शांत और इतना अकेले महसूस करेंगे जितना आप चाहते थे। और घुड़सवारी के लिए पड़ोस में घोड़े भी उपलब्ध हैं। गंगाबल का जल सर्वोत्तम है। ऐसा जल इससे पहले मैंने कभी नहीं पीया और वर्ष में सबसे अच्छी जलवायु इसी समय पर होती है — दिनभर धूप खिली रहती है और रातभर सफेद तुषार पड़ता है। क्या यह शरीर और आत्मा दोनों के लिए अच्छा नहीं होगा? आप मात्र सूचित कर दें, तत्पश्चात आपके आगमन के लिए हर चीज तैयार कर दी जाएगी।

डेक्स्टर मवेशियों के आने से गांव वासियों पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है और सामान्य वातावरण इस समय बहुत अच्छा है। मैं इस बात के लिए आश्वस्त हूं कि हम अच्छी दवाइयां देना जारी रख रहे हैं और हमारे पास एक हमदर्द कम्पाउन्डर भी है। आस-पास के गांवों से हमारे प्रति बहुत अच्छी प्रतिक्रिया हो रही है। औसत रूप से प्रतिदिन 50 रोगी आ जाते हैं। एक दिन तो रोगियों की संख्या 50 से भी अधिक रही; छः सप्ताह के अंदर जब से हमने कार्य शुरू किया है अब तक कुल 884 रोगियों का उपचार किया गया है। कुछ रोगी 15 से 20 मील दूर से भी आए हैं।

कील, कुंदे तथा इसी तरह की अन्य वस्तुओं को छोड़कर मकान बनाने के काम में आने वाली प्रत्येक वस्तु गांव वासियों ने बिना किसी ठेकेदार की मदद से स्थानीय सामग्री से स्वयं तैयार की है। इससे किसानों में कुछ प्राप्त करने की भावना ने जन्म लिया है और उनमें यह भावना भी जागृत हुई है कि यह उनका अपना स्थान है।

मंत्रीगण बड़े पैमाने पर विकास कार्य करने के इच्छुक है लेकिन मैं इस केंद्र की पूर्णतया सुदृढ़ बनाना चाहती हूं। यदा-कदा मुझे जीप मिल जाती है और आशा करती हूं कि शीघ्र इस योजना के लिए मुझे स्थायी रूप से एक अलग उपलब्ध हो जाएगी क्योंकि इसके अभाव में कार्य में दक्षता लाना संभव नहीं है।

अवश्य पधारें

जवाहरलाल नेहरू - मीरा बहन को

24 नवम्बर, 1954

आपका 20 नवम्बर का पत्र और डेक्स्टर्स के चित्र प्राप्त हो गए हैं, धन्यवाद।

मैं सिंध घाटी से सुपरिचित हूं, आते जाते मैं कंगन में कई बार रुका हूं, अतः भली-भांति समझता हूं कि आपका आवास स्थान कितना आकर्षक है, लेकिन मैं वहां नहीं आ सकता, इसके कई कारण हैं।

मुझे खुशी है कि आपने सामने आने वाली अनेक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर ली है और आपको गांव वासियों की शुभकामनाएं प्राप्त हो रही हैं।

सप्रेम

मीरा बहन - जवाहरलाल नेहरू को

30 अगस्त, 1949

यद्यपि मैं अधिक अन्न उगाओ आन्दोलन की सहायतार्थ अखबारों में लिखती रहती हूं और योजनाओं एवं परियोजनाओं के संबंध में श्री आर० के० पाटिल से भी विचारविमर्श करती रहती हूं तथापि मेरे मन में कोई उत्साह पैदा नहीं हुआ है और मैं अनुभव करती हूं कि इसका कारण आपके समक्ष रखना उचित होगा।

संपूर्ण स्थिति एक अवास्तविक घेरे के अंदर है। यह एक कृत्रिम संकट प्रतीत होता है जो नियंत्रण नीति से उत्पन्न हुआ है। सरकार स्वयं स्वीकार करती है कि घाटा जो समाप्त किया जाना है, उसका परिकलन अखिल भारतीय पूर्ति तथा मांग के आंकड़ों के आधार पर नहीं किया गया है, (सच्चाई तो यह है कि सरकार के पास संभवतः ऐसे आंकड़ों के संबंध में विश्वसनीय सूचनाएं उपलब्ध नहीं हैं) बल्कि घाटे की यह कठिनाई प्राधिकारियों ने अपने नियंत्रण क्षेत्रों में पूर्ति करने के दौरान अनुभव की है। लाखों लोग इन नियंत्रणों को संपूर्ण संकट की दृष्टि से देखते हैं जो प्रशासन और जनसाधारण दोनों के मनोबल को नीचे गिरा रहा है। ऐसी स्थिति में इन नियंत्रणों को जारी रखने में लोगों के मन में उमंग कैसे बनी रह सकती है। इसके अतिरिक्त जब सामान्य व्यक्ति को यह जानकारी है कि हर चीज बाजार में ब्लैक में बिक रही है तो वे यह कैसे विश्वास करें कि कोई गंभीर घाटे की स्थिति उत्पन्न हो गई है?

यह सब कहने का मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करने के प्रयास नहीं करने चाहिएं। ऐसे प्रयास हमें अवश्य करने चाहिएं और जितना हम उत्पादन कर रहे हैं कम से कम हमें उससे दो गुना अन्न उत्पन्न करना चाहिए। परन्तु यह संकट कालीन उपाय के रूप में नहीं बल्कि विकास कार्य से जुड़े सभी विभागों के

साथ समुचित ताल-मेल बैठाकर दीर्घकालीन उपाय के रूप में हाथ में लेना चाहिए। कृषि और पशु-पालान के स्थायी सुधार की वर्तमान रेल-पेल वाली नीतियां बहुत खतरनाक हैं।

जब मैं यह विश्वास व्यक्त करती हूं कि वर्तमान संकट से निपटने का सर्वोत्तम तरीका नियंत्रण हटाना है तो समझती हूं कि ऐसा सोचने वाली मैं अकेली नहीं हूं। आप भली भांति कह सकते हैं कि इस संबंध में मैं क्या जानती हूं। मैं स्वीकार करती हूं कि मैं इन मामलों की विशेषज्ञ नहीं हूं लेकिन मैं आंकड़ों के आधार पर नहीं बल्कि सामान्य ज्ञान के आधार पर कहती हूं। अंतः प्रेरणा मेरा मार्ग दर्शन करती है। इस अंतः प्रेरणा का अनुसरण और भी अनेक लोग करते हैं।इन नियंत्रणों ने देश को पतन एवं दिखावटी स्थिति में पहुंचा दिया है जिसके लिए कुछ प्रबल कदम उठाने की आवश्यकता है। यह सामान्य बात है कि नियंत्रण प्रणाली में भ्रष्टाचार नियंत्रण से बाहर हो गया है। अतएव नियंत्रण स्वयं वांछनीय है अथवा नहीं क्योंकि इन पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता, इसलिए इन्हें हटा दिया जाना ही उचित होगा। यदि देश को अपने साधनों पर छोड़ दिया जाए और अंत में सरकार बड़े जमाखोरों के विरुद्ध सख्त कार्यवाही करे तो कोई हल अवश्य निकल आएगा।

इस समय खाद्य संकट और नियंत्रण के संबंध में मैंने अपने विचार आपके सामने खोल कर रख दिये हैं, इससे ज्यादा मैं और कुछ नहीं कह सकती। मैं महसूस करती हूं कि भारत को भी उसी मार्ग पर ले जाया जा रहा है जिस पर सभी देश बड़े-बड़े उद्योग लगाने, विशाल सेनाएं तैयार करने, केंद्रीयकरण करने, मशीनीकरण करने तथा अन्य इसी प्रकार के कार्यों में लिप्त विनाश की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इस मार्ग पर तो पुराने साम्राज्यों ने भी भारत को कभी बढ़ावा नहीं दिया।जब भी मैं नई दिल्ली आती हूं मेरा दिल टूट जाता है।नई दिल्ली और मातृभूमि—ग्रामीण भारत—के बीच क्या संबंध हैं? कोई संबंध नहीं! हमने बापू के आदर्शों से आजादी प्राप्त की है, उस आजादी को मजबूत करने में हम बापू के आदर्शों को पूरी तरह लागू क्यों नहीं कर देते? संभवतः इसका उत्तर यह है कि उन लोगों में जिनमें शासन करने की क्षमता है, बापू के आदर्शों के प्रति विश्वास नहीं है और जिनमें यह विश्वास है, उनमें शासन करने की क्षमता नहीं है। यह कैसी विचित्र परिस्थिति है। और मेरे जैसों के लिए जो मात्र बापू के आदर्शों का परिपालन करने के लिए दुनिया के दूसरे किनारे से आए हैं, यह हृदय विदारक त्रासदी है।

मैंने यह सब इसलिए लिखा है क्योंकि मैं इन सब बातों के बारे में सोचना नहीं चाहती और न आपको बताए बिना अन्य लोगों के सामने इन्हें व्यक्त ही करना चाहती हूं।

जवाहरलाल नेहरू - मीरा बहन को

16 सितम्बर, 1949

आपका पत्र मुझे कुछ समय पहले मिला, धन्यवाद। मैं समझता हूं खाद्यान्न के क्षेत्र में हम कुछ प्रगति कर रहे हैं लेकिन यह प्रगति इतनी नहीं हो पाई जितनी मैं चाहता था। जहां तक नियंत्रण का सम्बन्ध है, मैं महसूस करता हूं कि इसे समाप्त करना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इस कार्य में बहुत बड़ा जोखिम है। हम अपने व्यापारी वर्ग या ऐसे अन्य वर्गों पर भरोसा नहीं कर सकते जिन्होंने पिछले वर्षों में लाभ कमाने के लिए हर अवसर को अपने कब्जे में रखा है।

जिस तरह घटनाक्रम चल रहा है उसके सम्बन्ध में आपके कष्ट को समझ सकता हूं, किसी हद तक मैं स्वयं भी इसे अनुभव करता हूं।

मीरा बहन के पत्र श्रीमती इंदिरा गांधी के नाम तथा श्रीमती इंदिरा गांधी के पत्र मीरा बहन के नाम

मीरा बहन - इंदिरा गांधी को

6.7.1980

मेरा दिल उस समय हड़बड़ा गया जब मैंने रेडियो पर यह दुःख भरा समाचार सुना। तभी से मैं आपके बारे में बहुत अधिक चिंतित हूं लेकिन मैं आपको परम्परानुसार टेलीग्राम भेजना नहीं चाहती थी, बल्कि मैं कुछ देर बाद आपको अपने गंभीर विचारों के बारे में लिखना चाहती थी।

मैं इस समय 88 वें वर्ष में हूं और जब मैंने बापू के साथ काम करना शुरू किया था उस बात को 55 वर्ष हो गए हैं। उस समय आप छोटी सी बच्ची थीं। उस वक्त को कितने वर्ष बीत गए हैं। इस दुख की घड़ी में भी वह पिछला पूरा समय साफ-साफ नजर आता है। इसी के साथ-साथ भारत के अज्ञात भविष्य का प्रश्न सदैव हमारे सामने ही रहता है।

आप सोच भी नहीं सकतीं कि आपकी आश्चर्यजनक बहादुरी और दृढ़ता के बारे में जानकर मैं कितनी खुश हूं। इस घड़ी की यह दर्दनाक स्थिति केवल भारत के लिए नहीं बल्कि विश्व के लिए विपत्तिजनक है। विश्व में भारत का स्थान सदैव की उच्च रहा है इसलिए आपके नेतृत्व में यह और अधिक स्थिर और मजबूत होगा।

मैं जानती हूं कि आप किसी धर्मपरायण अर्थ में भगवान को नहीं मानती, इसलिए मैं आपके लिए ऐसी धार्मिक भाषा का प्रयोग नहीं करूंगी। मैं भी किसी कट्टरपंथी धर्म में विश्वास नहीं करती, किंतु जैसे-जैसे मैं बूढ़ी हो रही हूं वैसे-वैसे संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त आत्मा का आभास और भी साफ-साफ दिखाई देने लगा है, और यह आत्मा प्रकृति के माध्यम से हमारे चारों ओर प्रकट होती है।

यह विजय नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ सहयोग है, और इस सहयोग के द्वारा विश्व की विपत्ति कारक स्थिति में सुधार किया जा सकता है। किस बेहतर तरीके से संजय ने पेड़ लगाने का नारा दिया था, उसका कहना था - पेड़ उगाओ और अधिक पेड़ उगाओ। यदि यह गतिशील व्यक्ति अपने इस लक्ष्य को पूरा कर लेता तो भारत की दृश्य भूमि का स्वरूप बदल जाता और इसी से भारत की जलवायु, अर्थव्यवस्था और उसके निवासियों की स्थिति में सुधार हो जाता। उस महान व्यक्ति की याद में उसके लक्ष्य को पूरा करने से बड़ी और क्या सेवा हो सकती है। भगवान आपको उसके लक्ष्य को पूरा करने की शक्ति प्रदान करे।

इंदिरा गांधी - मीरा बहन को

18 अगस्त, 1980

आपके हमदर्दी भरे संदेश के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।

संजय इतना कौतुक पूर्ण एवं स्पंदनशील व्यक्ति था कि यह समझना कठिन है कि वह आज दुनिया में नहीं है।

आपके विचारों का मैं सम्मान करती हूं। इनके लिए पुनः धन्यवाद।

मीरा बहन - इंदिरा गांधी को

10.9.1980

आप कल्पना भी नहीं कर सकती कि दूसरों से मेरी कठिनाइयों के संबंध में जानने पर आपने जो सहृदयता प्रकट की है उसके लिए मैं कितनी कृतज्ञ हूं। जिस समय राजदूत चैक और मेरे स्वास्थ्य के संबंध में आपकी चिंता के पूरे समाचार लेकर मेरे पास व्यक्तिगत रूप से आए तो मेरा दिल करुणा से भर आया। आर्थिक सहायता के अलावा मेरा भारत से पुराना संबंध है जिसके कारण मेरा हृदय और भावना खुशी से भर उठते हैं। यदि आज बापू होते तो इस समय हम दोनों को एक साथ देखकर कितने खुश हुए होते।

इस समय मैं आपको अपने विचार और भावनाओं से और अधिक कष्ट नहीं दूंगी लेकिन कुछ समय के बाद विश्व की स्थिति और उस संदर्भ में मैं भारत के बारे में अपने विचार लिखकर भेजूंगी।

इंदिरा गांधी - मीरा बहन को

21 सितम्बर, 1980

आपका समाचार पाकर बहुत खुशी हुई। आशा है आप स्वस्थ्य होंगी।

मुझे खास तौर से इस बात का दुख है कि बापू के बलिदान के बावजूद हमारे लोग साम्प्रदायिक भावनाओं से छुटकारा नहीं पा सके। लेकिन, हाल के दंगे सरकार के विरोध में भड़के थे और बाद में इन्होंने साम्प्रदायिकता का रूप ले लिया। कितने दुःख की बात है कि राजनैतिक दलों ने इस स्थिति को उकसाया और स्थिति शान्त करने के बजाय सन्देह और नफरत की भावना को फैलाया।

परिशिष्ट

अनुक्रम

1. मीरा बहन के सफाई अभियान से सम्बधित 'हरिजन सेवक' में प्रकाशित महादेव भाई देसाई के साप्ताहिक पत्र। 227

2. 'वे एक हो गए' बापू की निर्मम हत्या के बाद मीरा बहन द्वारा प्रकट किये गए विचार। ये विचार "बापू के पत्र मीरा के नाम" नामक पुस्तक के पृष्ठ 397 पर अंकित हैं। 234

3. 'बापू राज पत्रिका' का सन् 1952 में मीरा बहन ने संपादन व प्रकाशन किया था। परन्तु इस पत्रिका के कुछ ही अंक प्रकाशित हो सके और वे भी अब उपलब्ध नहीं हैं। फरवरी, मई, जून, जुलाई, सितम्बर तथा अक्टूबर 1952 के अंकों में से कुछ महत्वपूर्ण लेख ही यहां पर प्रस्तुत किए जा रहे हैं। 236

4. तत्कालीन प्रधान मंत्री श्री मोरारजी देसाई तथा कृषि मंत्री श्री सुरजीत सिंह बरनाला के साथ हिमालयी ओक (बांज) के जंगलों को पनपाने के सम्बंध में पत्र-व्यवहार। 246

5. 'मात्र एक ही हल' यह लेख मीरा बहन ने 'हिमालयः मैन एण्ड नेचर' (हिमालय निवासी और निसर्ग) के लिए लिखा था। इस लेख में मीरा बहन ने बाढ़ की विभीषिकाओं से त्राण पाने के लिए गढ़वाल हिमालय में 'बांज' को पनपाने पर बल दिया है। 252

6. 'पद्मविभूषण' अलंकरण समारोह के लिए मीरा बहन द्वारा लिखा गया संक्षिप्त जीवन वृत्त। 254

7. रामेश्वर दत्त - 'ब्रह्मचारी जी' और 'दत्त'के नाम से जाने जाने वाले इस व्यक्ति ने मीरा बहन की सेवा सुश्रूषा में उनके अंतिम क्षणों तक साथ दिया। मीरा बहन की इच्छा के अनुसार आस्ट्रिया में उनके पार्थिव शरीर को रामेश्वर दत्त ने ही अग्नि दी थी। 258

8. 'मीरा बहन की वसीयत' - मीरा बहन की वसीयत की प्रति हमें आस्ट्रिया से प्राप्त हुई। क्योंकि इसका हिन्दी अनुवाद सम्भव नहीं हो सका, अतः इसे मूल रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। 261

श्री महादेव देसाई द्वारा लिखित सफाई से सम्बंधित कुछ साप्ताहिक पत्र

हमारा भंगी का काम

इस दिशा में हम जो प्रयत्न कर रहे हैं उसमें हमें अब कुछ-कुछ सफलता प्राप्त होती दिखाई देती है। यद्यपि हमें कोई सक्रिय सहयोग नहीं मिल रहा है तो भी लोग पाखाना फिरने अब खेतों में जाने लगे हैं, और इससे सड़कों पर गन्दगी बहुत कम देखने में आती है। कुछ यश तो इसका वर्धा-म्यूनिसिपैलिटी के वाइस चैयरमैन को है, जो इस गांव में सवेरे और शाम दोनों समय आते हैं और गांव वालों से मिलकर उनको समझाने की चेष्टा करते हैं। वर्धा में स्वयं सेवक भी हमें मिलने लगे हैं। एक सप्ताह पहले जहां हम पूरे गांव की सफाई नहीं कर सकते थे, वहां हम लोगों की संख्या अब इतनी काफी हो गई है कि हम तमाम गलियों और सड़कों की सफाई अब भली प्रकार से हाथ में ले सकते हैं। एक दिन सबेरे जमनालाल जी भी अपनी दो लड़कियों और म्यूनिसिपैलिटी के चेयरमैन साहब के साथ वहां गये थे और गांव के तमाम मुखियाओं से उन्होंने काफी देर तक बात की थी। मीरा बहन की नित्य की उपस्थिति से बड़ा लाभ पहुंच रहा है। मुझे आशा है, लोग शीघ्र की यह अनुभव करने लगेंगे कि सड़कों व गलियों को खराब करना एक तरह का अपराध है, और सबसे अच्छा तरीका यही है कि दस कदम आगे बढ़कर खेतों में ही टट्टी करने जाना चाहिए। फिर भी हमें अभी लगातार प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा।

(हरिजन सेवक, 5.4.1935)

भंगी का काम

हमारे सफाई के काम में अब आशा और उत्साह का संचार होने लगा है। वर्धा कस्बे से तीन स्वयं सेवक आकर हमारी पलटन में शामिल हो गये हैं, और अब हम सारे गांव की सफाई अपने हाथ में बड़े मजे से ले सकते हैं। इस सप्ताह में हमने अपनी कार्य पद्धति में कुछ फेर बदल किया है। अब मीरा बहन और हम लोगों मे से एक आदमी सबेरे पांच बजे गांव में जाते हैं, ताकि लोगों को रास्तों पर टट्टी फिरने से रोक सकें; और दूसरी टुकड़ी करीब एक घंटे बाद वहां पहुच जाती है। फिलहाल हमने खाई खोदने का भी काम छोड़ रखा है, क्योंकि हमने अनुभव किया है कि खाई खोदना और रास्ते साफ करना, दो-दो काम एक साथ नहीं कर सकते और इसी से हमने विचार किया कि सबसे पहले अगर गांव के तमाम कूड़े-कचरे की नित्य सफाई होती रहे तो बहुत है, क्योंकि यह अपने आप में एक बहुत बड़ा काम होगा। यह योजना काफी सफल रही। पुरुषों की अपेक्षा महिलाएं जल्दी लज्जित हुई हैं, और अब उनमें से शायद ही कोई खेत के बाहर टट्टी फिरने बैठती होगी। बालकों को इस नियम को पालन करने

में बड़ा मजा आता है। एक दिन हमने देखा कि तीन-चार बच्चे हमारी बाट जोहते हुए खड़े हैं। हम लोग चूंकि सफाई का सामान लिये हुए जा रहे थे, इसलिए दो बच्चों ने हमसे कहा, "हम तो उस सामने के खेत में गये थे, पर इस लड़के ने हमारा कहना नहीं माना, इसे आप समझाओ न?" यह कह कर उन्होंने उस लड़के को पकड़ कर हमारे सामने खड़ा कर दिया। उसने अपना अपराध स्वीकार किया, और यह वचन दिया कि वह आइन्दा ऐसा कभी नहीं करेगा। हम अपने परिश्रम के परिणाम वेसे अंदाजन तो बता सकते थे, फिर भी यह निश्चय किया गया कि जितने आदमियों को हम रास्तों पर खेतों के बाहर बैठते हुए देखें उनकी गिनती रखी जाए, ताकि हम अपनी प्रगति का ठीक-ठीक हिसाब लगा सकें। हर्ष की बात है कि हमें अपने काम में इतनी अधिक प्रगति दिखाई दी कि उसका मैं नक्शा खींच सकता हूं। लगभग एक हजार की आबादी के इस गांव में गत सप्ताह दो सौ आदमी रास्ते में बैठने वाले गिने गए थे, जब कि इस सप्ताह वह संख्या सौ से भी कम हो गई है, और आज तो, जिस दिन कि मैं यह पत्र लिख रहा हूं, इससे भी कम आदमी रास्तों में बैठे दिखाई दिये। प्रगति का यह क्रम धीमा तो जरूर है, पर है नियमित। प्रगति कितनी ही धीमी क्यों न हो, पर यह सुखद समाचार फैल तो चारों ओर रहा है। इसे सुनकर पड़ोस के एक गांव के मुखिया ने तो हमें यहां तक लिखा कि "यह गांव सुधरने का नहीं, आप क्यों इसके पीछे अपना समय खराब कर रहे हैं? कृपाकर हमारे गांव में आइए। मैं आपको सफाई के इस काम में पूरी सहायता दूंगा।"

(हरिजन सेवक, 12.4.1935)

सफाई का काम

मुझे एक काम से बाहर जाना पड़ा, और मीरा बहन तथा दूसरे मित्रों को भी इन्दौर जाना पड़ा, परन्तु हम लोगों की अनुपस्थिति से काम में रुकावट नहीं आई। सफाई के काम की देखरेख करने के लिए गांधीजी हमारे एक सहायक को जानबूझ कर वर्धा में छोड़ आये थे, नहीं तो वे इन्दौर जरूर आते।

एक टट्टी तो हमने वहां खड़ी कर दी है, और अब हम यह चाहते हैं कि मसाले (स्थानीय साधनादि) और मेहनत से शेष काम गांव के लोग खुद कर डालें। पर हमें इतनी जल्दी इस तरह के किसी काम की आशा नहीं है। पाखाने में जाते तो बहुत से लोग हैं, पर अपने मलमूत्र पर मिट्टी तो अब भी कोई नहीं डालता। उनका यह काम अभी हमें ही करना पड़ता है। 'बड़प्पन की मानसिकता'- इस सत्यानाशी ने उनके भीतर इतनी मजबूत जड़ जमा ली है कि अपने मलमूत्र को मिट्टी से ढक देने का उनका मन ही नहीं होता, हालांकि वे यह जानते हैं कि भंगी बिना किसी हिचक के यह काम करते हैं। मेरा यह मानना है कि यद्यपि गांव के लोग अपने आप को हम लोगों से बड़ा तो नहीं समझते हैं परन्तु वे हमें सनकी अवश्य समझते हैं, और सम्भवतः उन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि हमारा यह सारा उत्साह अति शीघ्र समाप्त हो जायेगा और अन्ततः हम उनका पिंड छोड़ देंगे। परन्तु यह उनका भ्रम है, उन्हें इस बात का तो आभास ही नहीं हैं कि गांधीजी इन्दौर में बैठे-बैठे भी सोच रहे थे और प्रयत्न कर रहे थे कि ऐसा कोई बढ़िया-से-बढ़िया तरीका ढूढ़ निकाला जाए, जिससे सभी प्रकार के मौसमों में कम-से-कम लागत में मैला ठिकाने लगाया जा सके। बात यह है कि बरसात का मौसम निकट है, और वर्षा से पूर्व हमें कूड़ा-कचरा हटाने और लोगों से खेतों में जाकर शौच के लिए कहने के बजाए कोई-न-कोई विकल्प तो खोजना ही होगा।

(हरिजन सेवक, 3.5.1935)

सफाई का काम

दसेक दिन के लिए मैं बाहर चला गया था, इसलिए उन दिनों सिंधी गांव की सफाई का काम मीरा बहन की देखरेख में चलता रहा। मीरा बहन ने अपने अनुभवों का जो नोट तैयार किया है उसे ही मैं इस साप्ताहिक पत्र में दे रहा हूं —

"यह काम कठिन तो अवश्य है, पर अब गांव का आधा भाग स्वच्छ देखते हुए मन को कितनी सुखद अनुभूति होती है, प्रेरणा मिलती है। हमने अपना कार्यारम्भ गांव के उत्तरी भाग से किया था। हमारे सुझाव अब गांव के लोगों की समझ में आने लगे हैं और करीब-करीब सभी अब टट्टी फिरने खेतों में जाते हैं। तीन महीने पूर्व जिन रास्तों पर पहली बार जाते हुए मैंने दोनों तरफ मैले व कचरे के कुरीने लगे देखे थे, वहां आज प्रायः उसका नाम-निशान भी देखने में नहीं आता। और जब उत्तर का हिस्सा सुधर गया, तो दक्षिण का क्यों नहीं सुधरेगा? इसमें भी सुधार आने लगा है, और गांव का लोकमत हमारे अनुकूल बराबर बढ़ता ही जा रहा है। इसलिए अब हम रास्तों को साफ करने और अन्य साधारण सफाई हाथ में लेने का विचार कर रहे हैं।

कुछ लोगों का अनुमान है कि सफाई का यह काम मंद गति से चलने वाला और अरुचिकर तथा घिनौना है। परन्तु ऐसा मत समस्या पर गम्भीर विचार किये बिना ही बना लिया गया है। युगों की इन उपेक्षाजनित आदतों में बदलाव लाने पर कुछ समय तो लगेगा ही। एक-दो बरस में भी यदि ये आदतें सुधर जायें तो हमें मानना चाहिए कि काम जल्दी ही हुआ है। इस काम में जो घिन लगती है उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि वह तो सिर्फ नाक और आंखों तक ही सीमित है। अपने गांवों से इस बहुत बड़ी बुराई को निकाल बाहर कर देने की अपेक्षा हमारी बुद्धि के लिए दूसरा प्रेरक प्रसंग और क्या हो सकता है, इसकी कल्पना करना सहज नहीं है। ज्यों-ज्यों मैं इस कार्य का अध्ययन और इस पर मनन करती हूं, तथा इसमें अपने को लगाती हूं, त्यों-त्यों इसके महत्व का चित्र मेरे सामने आता जाता है। मानसिकता की ऐसी नींव के ऊपर ही हमें अपनी अन्य तमाम प्रवृत्तियों की इमारत उठानी चाहिए। अगर हम अपनी राष्ट्रीय उन्नति की इमारत गन्दी और कमजोर नींव पर बनायेंगे तो वह कितने दिन टिकेगी? वह तो गिरेगी ही।

एक बात और कह दूं, और बस। इससे पाठक यह कल्पना कर सकेंगे कि यह सफाई का काम कितने महत्व का है। अनेक वर्षों की दरिद्रता से मनुष्य तथा पशु भूख के मारे अधमरे से हो रहे हैं। आज आप गांवों के बाहर देखें तो गायें मैला खाती हुई दिखाई देंगी। जो श्री सम्पन्न लोग इन दरिद्रता ग्रस्त गायों का दूध पीते हैं वे अगर इस बात का एक क्षण भी विचार करें कि यह दूध किस प्रकार के आहार से बना है, और इसके बाद उसमें सुधार करने के लिए ठीक-ठीक प्रयत्न करें तो कितना अच्छा हो!"

(हरिजन सेवक, 14.6.1935)

सफाई का काम

इस सप्ताह लोगों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए हमने एक नया काम हाथ में लिया है। अक्सर लोग मीरा बहन के आसपास जमा हो जाते हैं। एक दिन गांव से दो निठ्ठले आदमी आकर उनके सामने खड़े हो गए और पूछने लगे - "गांधीजी तुम्हें कितनी पगार देते हैं? किस तरह वे हिन्दुस्तान आईं? गांधीजी के पास आकर किस प्रकार रहीं? और इस गांव में जिस काम को लोग गन्दे-से-गन्दा समझते हैं उसे करने में उन्हें इतना आनन्द क्यों आता है"? ये सब बातें मीरा बहन ने उन्हें बड़ी मिठास से साथ समझा दीं। इतने में एक तीसरा आदमी आया और उन दोनों निठ्ठल्लों को उनकी बेवकूफी के लिए डांटने लगा। इस पर वे दोनों प्रसंग बदलकर अब यह कहने लगे "इस काम से क्या मिलता है? गांधीजी ने एक के बाद एक, इस तरह न जाने कितने काम हाथ में लिये, पर पूरा एक भी नहीं हुआ? इसीलिए तो स्वराज्य मिलता नहीं?"

मीरा बहन ने सहज भाव से उत्तर दिया - "तुम्हें बीड़ी-सिगरेट तो चाहिए ही, सिनेमा भी नहीं छोड़ा जाता, फिर भी तुम आसमान से स्वराज्य टपक पड़ने की आशा रखते हो? अरे, स्वराज्य आसमान से नहीं टपका करता। उसे तो जमीन में से ही कुरेद-कुरेद कर निकालना है, और हम वही काम कर रहे हैं।"

वे दोनों आदमी लज्जित हो गये और बिना कुछ कहे-सुने ही चल दिये। मीरा बहन ने अब तीसरे को लिया और उसे समझाते हुए कहा कि हम लोग अब यह विचार कर रहे हैं कि बरसात आने के पहले ही सारे गांव की अच्छी तरह सफाई कर डालें और यहां की बड़ी-बड़ी सड़कों को भी ठीक कर दें। उसे मीरा बहन की यह बात अच्छी लगी और उसने हमें वचन दिया कि इस काम में मैं भी आपको थोड़ी-बहुत मदद दूंगा।

दूसरे दिन गांव के एक बहुत ही गन्दे हिस्से में सफाई करने का काम हमने कमर कस के शुरू कर दिया। गाड़ियों कूड़ा-कचरा साफ करना था, और हवा सामने की थी, फिर भी काम खत्म करने का निश्चय तो हमने कर ही रखा था, अतः तीन घंटे डटकर मेहनत की। थोड़ी देर बाद हमारा दूसरा जत्था भी आ पहुंचा। इस जत्थे में दो मजदूर भी थे, जिन्हें हमने खुदाई का काम करने के लिए लगा रखा था। इस टुकड़ी ने तीन घंटे काम करके एक कुएं के इर्द-गिर्द का हिस्सा साफ किया, और जहां से रिसकर पानी रास्तों को खराब कर देता था वहां पर उसके निकास के लिए एक नाली तैयार कर दी। कुएं पर आने वाली पनिहारिनों को यह काम रुचिकर लगा। बहुत-सी स्त्रियां वहां पर इकट्ठी हो गईं, और इस बात से वे आश्वस्त दिखाई दे रही थीं कि हम जो भी कार्य कर रहे हैं उसमें हमारा अपना कोई स्वार्थ नहीं है। इसी अवधि में पास के ही एक ईंट के भट्टे से एक आदमी आकर हमारी योजना के बारे में बातें करने लगा, और हमें काम करने का रास्ता सुझाने लगा। उसने हमसे कहा कि यदि किसी ने हमें एक-दो गाड़ी मुरम और पत्थर नहीं दिये तो हम लोग इस रास्ते को बहुत अच्छा नहीं बना पायेंगे। उसने स्वयं एक गाड़ी रोड़ा देने का वचन दिया और कहा कि मैं आपकी इस काम में और भी मदद कर दूंगा। एक दूसरा आदमी कहने लगा, "क्या करें, हम लोग इतने लाचार हैं कि जब तक जमींदारिन हमें मदद नहीं देगी, तब तक हम कर ही क्या सकते हैं?"

मैंने कहा, "पर तुम अपने हाथ-पैर की मदद तो दे ही सकते हो। जमींदारिन के पास हम लोग गये थे,

और उसने यह कहा है कि आप लोग मेरी टेकरी से मुरम और पत्थर खुशी से ले जा सकते हो, अपनी गाड़ी लाओ और भर ले जाओ।"

उस भाई ने कहा, "ठीक है, हमें ईश्वर ने हाथ-पैर दिये हैं, हम अवश्य ही आपकी सहायता करेंगे।"

हमारे जत्थे में एक जर्मन सज्जन थे। आजकल वे हमारे यहां मेहमान हैं। उन्होंने दूसरे जत्थे के साथ काफी कड़ी मेहनत की। अपनी कमीज उतारकर उन्होंने मजदूरों के साथ साढ़े दस बजे तक धूप की पर्वाह न करके खूब डट कर काम किया। ऐसा जान पड़ता था कि लोगों का सबसे अधिक ध्यान वही आकर्षित कर रहे थे।

(हरिजन सेवक, 21.6.1935)

हमारी ग्रामसेवा

सिंदी गांव में मीरा बहन ठीक प्रकार से अभी जमी भी नहीं थीं कि उन्हें मालूम हुआ कि पड़ोस के एक गांव में हैजा फैल रहा है। थोड़ी ही देर में सिंदी में भी एक घटना हो गयी। मीरा बहन ने तुरन्त सिविल अस्पताल दौड़कर डाक्टरों को इसकी खबर दी। डाक्टरों ने तुरंत कार्यवाही के रूप में सफाई अभियान प्रारम्भ करते हुए कूड़े-कचरे की सफाई वगैरा कराई, कुओं में लाल दवा डलवाई, हैजे के टीके लगाये और रोगियों को दवाई दी। परिणामस्वरूप बीमारी वहीं रूक गई। अच्छा ही हुआ कि उसे जड़ पर ही रोक दिया गया अन्यथा वह वर्धा तक फैल जाती।

सफाई के जिस काम को अभी तक एक टोली कर रही थी उसे अब हमारा एक साथी कर रहा है। एक आदमी के लिए इतना काम कितने परिश्रम का है इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि उस बेचारे को रोज सबेरे कचरा वगैरा साफ करने में ही पांच घंटे लग जाते हैं। इस गांव में कोई पाठशाला नहीं है। हमारे ग्राम सेवक ने बड़ी खुशी से बच्चों को पढ़ाने-लिखाने का काम हाथ में ले लिया होता, परन्तु जब तक वहां कुछ पाखाने नहीं बन जाते उसका सबेरे का सारा समय सफाई में ही लग जाता है, अतः प्रारम्भिक शिक्षा को कुछ समय के लिए स्थगित रखना होगा।

(हरिजन सेवक, 9.11.1935)

हमारी ग्राम-सेवा

इस सप्ताह लिखने को कुछ अधिक नहीं है, मात्र एक-दो ऐसी घटनाओं के जिनसे इस गांव की, जिसके साथ दिनों-दिन हमारा परिचय बढ़ रहा है, मनोदशा का परिचय मिलता है।

उस दिन क्या हुआ कि एक मकान के पास रास्ते पर एक छोटा-सा पिल्ला मरा पड़ा था। न तो मकान-मालिक और ना ही किसी अन्य व्यक्ति ने उसे वहां से हटाने की चेष्टा की और ना ही किसी और से हटवाया। वे सब हरिजन थे। सब-के-सब मीरा बहन के पास आये और उनसे निवेदन किया कि वे इसे यहां से हटवा दें।

"तुम्हीं बताओ, मैं यह सब कैसे करूं?"

तुरन्त ही उत्तर आया "उन्हीं स्वंयम्भू भंगियों के द्वारा जो प्रतिदिन हमारे गांव में सफाई का कार्य करते हैं।"

"पर वे उसे क्यों उठा कर फेंकें? वे लोग तुम्हारे गांव के तो हैं नहीं। तुम उन्हें कोई पारिश्रमिक भी नहीं देते हो। क्या मात्र इसीलिए कि वे भले आदमी प्रतिदिन यहां आकर तुम्हारे द्वारा फैलाए गए कूड़े-कचरे को साफ करते हैं ?"

वे कुछ शर्मिन्दा तो हुए, परन्तु उनकी यह प्रतीति क्षणिक थी क्योंकि जब मीरा बहन हाथ में डोल लेकर उस स्थान की ओर जाने लगीं, तो वे सब भी उनके पीछे-पीछे प्रसन्न मुद्रा में चल रहे थे। उन्होंने पिल्ले की ओर अंगुली से इंगित करते हुए बताया "देखो वह पड़ा है।" मीरा बहन ने देखा कि उसकी मां ने पहले की अपने पंजों से खोद-खोदकर एक गड्ढे में उसे आधा गाड़ दिया था। उन्होंने उस नन्हीं-सी लाश को उस अधूरे गड्ढे से खोद कर निकाला और डोल में डालकर एक खेत में दुबारा हमारे बनाये गए गड्ढे में डालने के लिए ले गईं। "पर मान लो, अगर मैं नहीं होती, और स्वेच्छा से काम करने वाले भंगी भी नहीं होते, तो तुम लोग क्या करते?" मीरा बहन ने उनसे पूछा। थोड़ी देर तक तो उन्हें कोई जवाब नहीं सूझा। परन्तु फिर उनमें से किसी ने कहा "गोंड आकर हटा देता।" मालूम होता है कि गोंड हरिजनों की ही एक उपजाति है जिनका कार्य ही शवों (पशु-पक्षियों के) को बस्तियों से हटाना है। लेकिन पता नहीं, इस बार गोंड को क्यों नहीं बुलाया गया।

सांझ को जिस स्थान पर प्रार्थना सभा आयोजित की जाती थी उस स्थान पर कुछ उपद्रवियों द्वारा पत्थर फेंके जाने के कारण सामूहिक प्रार्थना बन्द कर देनी पड़ी।

पानी की समस्या का भी अभी कोई समाधान नहीं हो पाया है। मीरा बहन तब तक उनसे पानी नहीं भरवायेंगी जब तक कि वे उन्हें और उनके साथियों को कुएं से पानी नहीं भरने देंगे, और जब तक वे स्वयं पानी नहीं भरतीं, तब तक वे गांव में खाना नहीं पका सकतीं। इसीलिए सुबह और शाम उनके लिए बना-बनाया भोजन भेजना पड़ता है।

यह सब होते हुए भी कहा जा सकता है कि मीरा बहन की उपस्थिति का असर वहां के जन समुदाय पर हो तो रहा है, परन्तु धीरे-धीरे। एक दिन शाम को एक मांग आया और मीरा बहन से कहने लगा "जब से आप यहां आई हैं, मैंने शराब पीना छोड़ दिया है।"

"तुम जल्दी में कोई काम न करना," उन्होंने उससे कहा, "जब तुम्हें निश्चय हो जाए कि यह तेज अर्क एक तरह का जहर है और उसे छोड़ देने में ही भलाई है, तभी तुम उसे छोड़ना।"

(हरिजन सेवक, 23.11.1935)

हमारी ग्राम-सेवा

उस दिन सिंदी में हमने एक सभा की थी। सभा में अधिकतर हमारे अपने ही आदमी थे। गांव के लोग

तो चौबीस-पचीस ही होंगे। जमनालाल जी को भी हमने उस सभा में बुलाया था। उन्होंने तथा अन्य सज्जनों ने हमारे उद्देश्यों से जनसमुदाय को भली भांति परिचित करवा दिया था। साथ ही अपनी विवेक-बुद्धि से यह अपील भी की थी कि उन्हें हमारे उद्देश्यों का महत्व समझना चाहिए। जहां तक स्वयं सिंदी गांव का सम्बन्ध था, ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारी इस सभा का कोई फल नहीं निकला; क्योंकि दूसरे ही दिन कुछ स्त्रियों ने खूब गला फाड़-फाड़ कर मीरा बहन से कहा "अगर तुम लोगों ने हमारे लिए कोई शौचालय बनवाया तो हम उसमें हरगिज नहीं जाने की।" परन्तु देखने में आया कि पड़ोस के एक गांव के कुछ लोगों ने जो कि सभा में आये हुए थे, हमारे उद्देश्यों को पूर्ण रूप से समझा क्योंकि दूसरे दिन उन्होंने मीरा बहन से आकर निवेदन किया कि आप कृपा कर हमारे गांव में चलिये और वहीं पर काम कीजिए।

लेकिन सिंदी गांव छोड़ने का मीरा बहन ने जो निर्णय किया उससे इस बात का कोई सम्बन्ध नहीं है। सिंदी की गणना वे गांवों में करती ही नहीं हैं। उसे तो वे वर्धा का ही एक गंदा मोहल्ला समझती हैं। वे बहुत दिनों से किसी ऐसे गांव में जाने के लिए व्याकुल हो रही हैं जो यथार्थ में गांव हो। किसी दूसरे गांव में बसने की उत्कंठा मन में होते हुए भी मीरा बहन के सिंदी गांव में टिके रहने के पीछे भी एक उद्देश्य था। एक दिन गांधीजी ने वह कारण मालूम कर लिया। कारण यह था कि मीरा बहन बापू को खुद सिंदी में जाने से रोकना चाहती थीं। इसलिए गांधीजी ने उन्हें सलाह दी कि तुम अपने मन का कोई गांव ढूढ़ लो, और श्री गजानन नायक को, जो सिंदी में पहले से ही काम करते थे, उनके स्थान पर नियुक्त कर दिया। श्री नायक अब मीरा बहन की झोंपड़ी में रहने लगे हैं।

इस गांव में हम नौ महीने से कूड़ा-कचरा व मल-मूत्र साफ करने का कार्य कर रहे हैं। अब हमें वहां पर एक ऐसा भी आदमी मिल गया है जो चाहता है कि हम मैले की बाल्टियां उसके खेत में उंडेल दिया करें। एक दिन उसने गजानन नायक से आकर पूछा कि "जिस खेत में आप लोग मैला डालते हैं, क्या उसका मालिक आपको कुछ देता भी है?" जब उसे यह बतलाया गया कि "नहीं, वह तो हमें एक पाई भी नहीं देता"– तब उसने कहा "यह बात है तो आप मेरे खेत में भी खुशी से गड्ढे खोद सकते है, वह खाद तो मेरा ही होगा, मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं।" मैले की खाद का उसने इतना महत्व समझा, यह एक बहुत बड़ी बात है।

(हरिजन सेवक, 30.11.1935)

वे एक हो गये

मेरे लिए ईश्वर और बापू दो ही थे। अब वे एक दूसरे में समा गये हैं।

जब मैंने यह खबर सुनी तो ऐसा आभास हुआ मानो मेरे अंतस की गहराइयों का बंद द्वार खुल गया और बापू की आत्मा मेरे आत्मकक्ष में प्रविष्ट हो गई। उसी क्षण से शाश्वतता की एक नई भावना मेरे साथ है।

यद्यपि अब बापू सशरीर हमारे बीच में नहीं हैं, फिर भी उनकी पवित्र आत्मा अब और भी अधिक निकट है। किसी समय बापू ने मुझसे कहा था - "जब यह शरीर नहीं रहेगा तब कोई बिछोह नहीं होगा और मैं तुम्हारे और भी अधिक निकट रहूंगा। शरीर बाधक है।" मैंने श्रद्धापूर्वक सुना। लेकिन अनुभव के आधार पर इन शब्दों का दैवीय अर्थ अब समझ में आता है।

बापू को सम्भवतः आभास हो गया था कि भविष्य में क्या होने वाला है? दिसम्बर में एक दिन शाम को दिल्ली से ऋषिकेश के लिए रवाना होने से पहले मैंने उनसे कहा था-"बापू, मार्च में जब गौशाला* बन जायेगी और कार्य संगठित हो जायेगा, तब क्या इसकी कुछ भी संभावना है कि आप उद्घाटन के लिए समय निकाल कर बेचारी असहाय भारतीय गाय को अपना आशीर्वाद दे सकें?"

बापू ने उत्तर दिया था - "मेरे आने का विचार मत करो।" और फिर मानो अपने आप से कुछ कह रहे हों, बोले - "मुर्दे पर आधार रखने से क्या फायदा?" ये शब्द इतने भयंकर थे कि मैंने किसी से नहीं कहे, और चुपचाप भगवान से बापू के दीर्घ जीवन की प्रार्थना करते हुए अपने भीतर समेट लिए।

गांधीजी ने उपवास रखा और तोड़ भी दिया, इससे मैंने अनुमान लगाया कि गांधीजी का वह मुर्दे वाला संदर्भ इसी के साथ समाप्त हो गया। परंतु वह संदर्भ तो एक प्रकार की भविष्यवाणी थी जो सच होकर रही।

उस अभागी शाम को जब मैं सीधी और स्तब्ध होकर ध्यान मुद्रा में बैठी, तो मुझे महसूस हुआ कि सारी दुनिया असह्य वेदना से थरथरा रही है। मानव-जाति के उद्धार के लिये फिर एक अवतार का बलिदान हुआ है और पृथ्वी एक भयंकर तथा घातक पाप के बोझ से कराह रही है। यह पाप कर्म किसी एक आदमी का नहीं है। यह वह पातक है जो युगान्तर से सारी दुनिया पर बाढ़ की विभीषिका के समान फैलता आ रहा है तथा जिसकी परिणति मृत्यु में ही होती है अन्य किसी माध्यम से नहीं।

अब हमें आकाश-पाताल एक करके उस काम को पूरा करना होगा, जो बापू हमारे लिए छोड़ गये हैं। बापू हम सबके लिए हर एक स्त्री-पुरूष और बच्चे के लिए जिये और हमारे लिए ही शहीद हुए। वे जीते जी

---

* 'पशुलोक' की गौशाला

अविश्रांत रूप में काम करते रहे और शहीद हो गए, ताकि हम घृणा, लालच, हिंसा और झूठ के कुमार्ग से विमुख हो सकें। अगर हमें अपने पापों का प्रायश्चित करना है और बापू के पवित्र कार्यों को आगे बढ़ाना है तो इस प्रकार के सम्प्रदायवाद को और बहुत-सी दूसरी चीजों को भी मिटाना पड़ेगा। चोर बाजारी, भ्रष्टाचार, पक्षपात, ईर्ष्या-द्वेष और असत्य तथा हिंसा जैसे अनेकों दूसरे बुरे कर्मों से, मजबूत इरादों और बलिष्ठ हाथों के साथ निपटना होगा। बापू प्रेम और विनम्रता की मूर्ति थे, परन्तु बुराई से लड़ने में बज्र के समान कठोर थे।

भगवान हम में ऐसी आत्मचेतना जगाए, जिससे हम उन महान कार्यों को करने के योग्य बन सकें, जिन्हें बापू हमारे लिए छोड़ गए हैं।

बापूराज पत्रिका

ट्रेक्टर या बैल

लोग आपसे कहते हैं कि ट्रेक्टर बहुत बढ़िया चीज है, इससे खेती बेहतर और आसान हो जाती है। लेकिन मैं आपको इस प्रचार के खिलाफ आगाह करना चाहती हूं— क्योंकि

1. जब ट्रेक्टर से जुताई की जाती है तो काफी गहराई तक मिट्टी उखड़ जाती है और नमी नीचे से ऊपर आ जाती है। ढीली मिट्टी धूप सोखती है जिससे इसकी प्राकृतिक नमी नष्ट हो जाती है और फसल कमजोर हो जाती है। साथ ही, अच्छी उर्वर मिट्टी जो सब जानते हैं कि सतह से थोड़ी ही नीचे होती है, नीचे दब जाती है और नीचे वाली घटिया मिट्टी ऊपर आ जाती है। ट्रेक्टर से जुताई, पाटा फेरना तथा गुड़ाई जल्दबाजी से होती है। इससे वह नतीजा हासिल नहीं होता जो बैलों द्वारा खींचे जाने वाले देसी हलों से मिलता है। ट्रेक्टर के इस्तेमाल से मिट्टी को नुकसान पहुंचेगा और फसल में गिरावट आती जाएगी।

2. ट्रेक्टर की खुराक भी वह नहीं है जो हम उपजा सकते हैं। ट्रेक्टर की खुराक तो तेल (पैट्रोल) है जो हमें विदेशों से मिलता है। इससे हम महज बड़े व्यवसायियों पर ही नहीं बल्कि विदेशों पर निर्भर हो जाते हैं। अगर किसी वजह से ये दूसरे देश हमें तेल नहीं दे पाये तो हमारे ट्रेक्टर ठप्प हो जायेंगे। यदि ये देश अपने किसी फायदे के लिये हमें दबाना चाहें, या किसी मुल्क से ठनी अपनी लड़ाई में हमें घसीटना चाहें, और ऐसी स्थिति में हम उनकी मदद नहीं करें, तो वे हमें तेल देने से इनकार कर देंगे। नतीजा होगा कि अगर हम खेती के लिये ट्रेक्टर को काम में ला रहे हैं तो खेत जोतने के साधन न होने से हम भूखों मरेंगे या फिर हमें इन विदेशी मुल्कों के आगे घुटने टेकने होंगे।

   यदि इस ओर थोड़ा भी ध्यान दें तो साफ दिखाई देगा कि खेती के लिए ट्रेक्टर काम में लाने पर हमारे बैल बेकार हो जाएगें क्योंकि उनकी कोई जरूरत नहीं रहेगी। इसलिए, जब भी ट्रेक्टरों के लिए तेल नहीं उपलब्ध हुआ तो खेत जोतने के लिए कम से कम चार साल तो कोई साधन हाथ नहीं लगेगा क्योंकि बैलों की पैदावार एक दिन में तो की नहीं जा सकती। इसका मतलब है कि ट्रेक्टर हमें दूसरे देशों का आश्रित बना देंगे।

3. ट्रेक्टर के तेल की कीमत रुपयों में अदा करनी पड़ती है। मगर बैलों की खुराक आप अपनी और बैलों की ही मेहनत से पैदा कर लेते हैं। इसके लिए रुपयों की या तो बिल्कुल जरूरत नहीं होती या फिर बहुत थोड़े से काम चल जाता है।

4. ट्रैक्टर बार-बार खराब हो जाते हैं। इसे केवल मैकेनिक (मिस्त्री) ही ठीक कर सकते हैं। यह कभी-कभी बहुत खर्चीला साबित होता है। मशीन के पुर्जे, दिल्ली, बम्बई और यहां तक कि अमेरिका से मंगाने पड़ते हैं। इससे बहुत विलम्ब होता है, कभी-कभी तो विलम्ब ऐसे समय होता है जब खेत में काम करना निहायत जरूरी होता है।

5. ट्रैक्टर करीब पांच साल तक ही सही हालत में रहते हैं। गाय-बैल की तरह ये ट्रैक्टर खुद तो ट्रैक्टर पैदा नहीं करते। आप भी खुद इन्हें पैदा नहीं कर सकते। जब भी आपको नये ट्रैक्टर की जरूरत होगी, इसके लिए हर बार काफी रुपया खर्च करना होगा।

6. ट्रैक्टर से गोबर या गोमूत्र नहीं हासिल होता। अगर हमारे पास बैल नहीं होंगे तो हम खेतों के लिए खाद कहां से पायेंगे और घरों की लिपाई किससे करेंगे? अगर ट्रैक्टर का इस्तेमाल हो और बैलों की जरूरत नहीं रहे तो लोग गाय पालना बन्द कर देंगे और केवल भैंस पालेंगे। हम सभी जानते हैं कि खाद के लिए भैंस का गोबर गाय के गोबर के मुकाबले बहुत ही घटिया होता है और बदबूदार और लिपाई के लिए तो और भी अधिक अप्रिय होता है। ऐसी स्थिति में तो हमें कुछ दुधारू भैंसों का गोबर ही हाथ लगेगा।

इन छः बातों पर ध्यान दें तो ज़ाहिर हो जाएगा कि खेती के लिए ट्रैक्टर इस्तेमाल करने पर हम अपनी मिट्टी का नुकसान करेंगे, खाद की कमी हो जाएगी और हम बहुत सारी मुश्किलों से घिर जायेंगे। एक बात तो किसी भी सूरत में हम नहीं कर पायेंगे और वह है इस मिट्टी में प्रति एकड़ उपज में बढ़ोतरी। (फरवरी, 1952)

नकली खाद (कृत्रिम खाद)

जो लोग आपको ट्रैक्टर से काम लेने की सलाह देते हैं, वे आपको यह भी कहेंगे कि बैलों को त्याग देने पर गाय के गोबर की कमी की जो समस्या खड़ी होगी, उसकी पूर्ति नकली खाद से हो जाएगी। मैं यहां भी आपको सचेत करना चाहूंगी कि यह सलाह घातक है। नकली खाद में जब तक काफी मात्रा में सामान्य खाद और पानी न डाला जाए, वह मिट्टी को जला देगी। आपके पास तो इन दोनों चीजों की कमी बनी रहती है। नतीजा यही होगा कि आपके खेत खराब हो जाएगें। नकली खाद डालने से पहले तो दो-तीन फसल सुंदर और भरी-भरी लगती हैं लेकिन उसके बाद क्रमशः उनमें ह्रास होने लगता है। फिर आप अपने खेत की मिट्टी की जांच करें तो पायेंगे कि वह एक तरह से ऊसर रेत में बदलती जा रही है। ऐसा इसलिए होता है कि नकली खाद, मिट्टी की सारी शक्ति और उर्वरता को सोख लेती है।

अतः आप पायेंगे कि नकली खाद को पोषण के लिए सामान्य खाद और पानी की जरूरत है। अगर उसमें यह नहीं डाला गया तो नकली खाद आपकी मिट्टी को चाट जाएगी। फिर ऐसी खतरनाक और भूखी चीज़ का इस्तेमाल करने से क्या फायदा है?

नकली खाद के बारे में एक बात और ध्यान देने के योग्य है कि जिन अनाजों, सब्जियों, और फलों में नकली खाद डाली जाती है, वे बहुत जल्दी बीमारियां पकड़ सकती हैं। इसके लिए नये फैशन के विशेषज्ञ आपको इनके बचाव के लिए जहरीली दवाएं छिड़कने की सलाह देंगे। इस प्रकार आप मिट्टी में भी जहर घोलेंगे और ऊपर

से फसलों पर जहर का छिड़काव करेंगे और इस विधि से जो खाद्य तैयार होगा उसमें जहर होगा और वह जहर इसे खाने वाले इन्सान और पशु दोनों का स्वास्थ्य नष्ट करेगा।

हमें करना यह है कि इन जहरों का इस्तेमाल करने के बजाय हम हर प्रकार से सामान्य खाद की बढ़ोतरी करें। ऐसी प्राकृतिक खाद केवल खेतों की उर्वरता ही नहीं बढ़ाती बल्कि इनसे पोषित अनाज, सब्जी वगैरह में रोगों का मुक़ाबला करने की अपार शक्ति होती है। इन्हें रोग मुश्किल से ही लग पाते हैं। ऐसी खाद का परिमाण बढ़ाने का पहला और आसान तरीका यह है कि सारे कचरे, जैसे घास, खर, सब्जियों के छिलके, दूसरे कचरे वगैरह जो गांव में इधर-उधर बिखरे रहते हैं, बटोरे जाएं और जो भी गोबर, गोमूत्र हासिल हो, इसे इनमें मिला दिया जाए। उसके बाद इस मिश्रण को किसी गड्ढे में सड़ने को रखा जाए। वहां से आंधी पानी में भी यह सड़ेगा, बहेगा नहीं।

गांव में जो भी कचरा हो, उसे बटोरने के काम से हम शुरूआत तो करें। कचरे को खाद में बदल देने से यह सोना जैसा कीमती हो जाता है क्योंकि यह हमारे खेतों को जो हमारी दौलत है, उर्वरा बनाता है। कचरे का छोटा ढेर भी जो इधर-उधर पड़ा है, वह कीमती दौलत है जिसे फेंक दिया गया है। (फरवरी, 1952)

इस पागलपन को फेंक दो

मैं समझती हूं कि आपको अपना सब अनाज बेचकर बाजार से रोटी खरीदने की बात कभी न सूझी होगी। ऐसा विचार आपको कतई पागलपन लगता होगा, जो ठीक है; क्योंकि ऐसा करना बेवकूफी की आखिरी हद होगी। इसी तरह आपके पुरखों (दादा-परदादा) को अपनी सब कपास बेचकर बाजार से तैयार कपड़ा खरीदने की बात कभी न सूझी होगी।

लेकिन अब सब कुछ बदल गया है। मिल के कपड़े का जहर गांवों में बहुत दूर-दूर तक फैल गया है और आप में से बहुत से अपना तन ढकने के लिये दूकानदारों के ऊपर आसरा रखते हैं। आपका अब कपड़े की कीमत या पूर्ति पर कोई वश नहीं रह सकता। कभी यह बहुत महंगा हो जाता है और कभी कभी तो किसी भी दाम पर नहीं मिल सकता। अब आप पूरी तरह से मिल मालिकों और दूकानदारों के हाथ में हैं। उन्हें आपकी भलाई से कोई दिलचस्पी नहीं, उनकी एक मात्र इच्छा अधिक से अधिक रुपया बटोरना है। अगर आपने अपने पुरखों की तरह अपने लिये कपास पैदा करना, उसको कातना और अपने गांव में ही बुनना जारी रखा होता, तो आप इन स्वार्थी व्यापारियों से बिल्कुल स्वतन्त्र रह सकते थे। आपको न तो कपड़े के भावों की चिन्ता करनी पड़ती और न इसके बारे में माथापच्ची करनी पड़ती कि कपड़ा मिलेगा या नहीं। यह वैसे ही आपके घरों में होता — हर साल हाथ का बना हुआ मजबूत कपड़ा — जो जाड़ों की ठंड और गर्मियों की गर्मी से बचाता है। आप में से जो खद्दर का प्रयोग करते हैं, इस बात की सच्चाई जानते हैं।

आप बिना कपड़ों के नहीं रह सकते। यह हमारे लिये बिल्कुल जरूरी चीज है। इसलिये यदि आप घर पर कपड़ा न बनावें, तो आपको बाजार से खरीदना ही पड़ता है, चाहे वह कितना ही निकम्मा और महंगा क्यों न हो।

आप अब देख सकते हैं कि यह सब कैसा पागलपन है और बापू जी ने कितनी समझदारी की बात कही

कि आपको अपने भोजन और कपड़े के लिए बाहर वालों पर आसरा नहीं रखना चाहिए, क्योंकि ये दोनों जिन्दगी की सबसे मुख्य जरूरतें हैं। ईश्वर ने आपको यह अद्‌भुत वस्तु दी है, कपास का पौधा, जिसे आप अपने खेतों में उगा सकते हैं और अपने हाथों से कपड़े में बदल सकते हैं। इस प्रकार अपने शरीर की गर्मी और सर्दी से रक्षा कर सकते हैं। परन्तु आपने यह अमूल्य जन्मसिद्ध अधिकार बेच दिया है और अपने को शोषकों के हाथों सौंप दिया है। (मई, 1952)

हमारे मवेशियों का सुधार

यह एक ऐसा मसला है, जिसमें बापू जी गहरी दिलचस्पी लेते थे। वे इसे गांव वालों की निगाह से देखते थे। वे अच्छी नस्ल के बछड़ों की चिन्ता किये बिना ज्यादा से ज्यादा दूध देने वाली गायें बढ़ाने के सरकारी रवैये से सहमत नहीं थे। बापू जी ने देखा कि किसान को तो ऐसी गाय की जरूरत है जो साधारण दूध (जब पूरा दूध देने वाली हो तो 6 या 8 सेर समझिये) देने वाली हो और जिसका बछड़ा मजबूत और फुर्तीला बैल बन सके।

अपने सेवाग्राम आश्रम में, बापू जी अपने कार्यकर्ताओं को दूध और अच्छे बैलों के लिए स्थानीय पशुओं की नस्ल सुधारने को प्रोत्साहन देते थे। वे इसमें बहुत कामयाब रहे और अब वहां के पशुओं की नस्ल, जिसे 'गोलोब' कहते हैं, पशुपालकों द्वारा भारतवर्ष की अच्छी नस्लों में से मानी जाती है। शायद अच्छा दूध और बैल तैयार करने के लिए हरियाणवी सबसे अच्छी नस्ल है। इस तरह के पशुओं का विकास करने की हमें कोशिश करनी चाहिए। फिर भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बहुत सी नस्लें दूर स्थानों में जहां की जलवायु और खाना उनकी आदत से भिन्न होता है, नहीं पनपतीं। उदाहरण के लिए, सेवाग्राम में हरियाणा के सांड ले जाना गलत होगा और इसी प्रकार हरिद्वार-ऋषिकेश के इलाके में गोलोब सांड भेजना ठीक नहीं होगा। वहां के प्रयोग के लिए अच्छे हरियाणा सांड ठीक हैं।

सरकार ने हाल ही में हिमालय में जो प्रयोग किया है उससे यह साफ हो गया कि ऐसे सांड छांटना कितना जरूरी है जिनके लिए किसी जगह की जलवायु और खाना अनुकूल हो। दूसरी सब बातों का विचार न कर केवल दूध बढ़ाने की धुन में उन्होंने टिहरी गढ़वाल और पौड़ी-गढ़वाल के पहाड़ी इलाकों में 21 सिंधी सांड भेजे। उनमें से 10 या तो पहाड़ों से गिरकर या पहाड़ी खाना हजम न कर सकने के कारण मर गये हैं और बाकी 11 में से केवल 2 काम करने योग्य हैं। ये भी निचली घाटियों में हैं जहां का वातावरण कुछ अनुकूल है। (मई, 1952)

सफाई

सबसे जरूरी चीज कुओं, तालाबों और झरनों के आस-पास की जगह को मल और मूत्र से बचाना है और पानी में या पानी के नजदीक कभी भी नहीं थूकना है।

मल और मूत्र त्याग के पुराने नियम बहुत सख्त थे। लोगों को मकानों व गौशालाओं के आस-पास या नदी व तालाब के किनारे गन्दा करने की सख्त मनाही थी। उन्हें कम से कम उतनी दूर जाना पड़ता था, जितना कि

धनुष से तीर पहुंच सकता था। सड़क या रास्ते के किनारे तो किसी को किसी भी सूरत में मल-त्याग नहीं करने दिया जाता था। अगर कोई इन कायदों के खिलाफ चलता था, तो उसे सख्त सजा दी जाती थी। यह सब कुछ हमारे धर्म-ग्रन्थों में है, लेकिन केवल कानूनों से ही मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। कानून तो केवल अच्छी आदतें पैदा कराने के जरिये हैं और ज्यों ही अच्छी आदतें पड़ जाती हैं कानून अनावश्यक हो जाते हैं। रामराज्य का अर्थ यह नहीं कि उस समय हर एक आदमी कानून से डरकर रहता था, बल्कि सब लोगों में इतनी अच्छी आदतें पैदा हो गई थीं कि कानून का भय अनावश्यक था।

दण्ड जीतिन्ह कर भेद जहं नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि मुनिश्र अस रामचन्द्र के राज।। (तुलसीदास कृत रामायण, उत्तर काण्ड, दोहा 22)

श्री रामचन्द्र जी के राज्य में कोई अपराध नहीं करता था, इसलिए दण्ड किसी को नहीं दिया जाता था। 'दण्ड' तो केवल सन्यासियों के हाथ के डंडे को कहते थे। सब लोग राज के अनुकूल होने के कारण भेद नीति की जरूरत ही नहीं रह गई, 'भेद' शब्द नाच में सुर-ताल के भेद के लिए ही काम में आता था। कोई दुश्मन नहीं था, इसलिए 'जीत' शब्द मन को जीतने के लिए था। (मई, 1952)

कार्यकर्ताओं के गुरु - बापूजी

सन् 1925 में जब मैं पहली बार बापूजी के पास आई थी, वे अपने साबरमती आश्रम में थे। वहां वे देश सेवा के लिए करीब 200 कार्यकर्ताओं को तैयार कर रहे थे। वे ज्यादातर पढ़े लिखे लोग थे, जिन्होंने अपने घरों में आम तौर पर आराम की जिन्दगी बिताई थी, लेकिन वे बापू जी की निःस्वार्थ देश-सेवा को देखकर खूब उत्साहित हो गये थे और बापू जी के कार्यक्रमों में शामिल होना चाहते थे।

बापूजी ने हमको कैसे सिखाया —

सादे और तन्दुरुस्त रखने वाले खाने की नियमित खुराक देकर और सुबह से शाम तक काम पर लगाकर। दफ्तर का काम नहीं, बल्कि इस तरह का शारीरिक श्रम, जो हमें गांवों के जीवन के लिए तैयार करता था। बाद को हम गांवों में किसानों की सेवा के लिए भेजे जाने वाले थे।

हम सब स्त्री-पुरूषों को, रुई पींजना और कातना सीखना पड़ता था और बाद को नियमित रूप से हर रोज कातना पड़ता था। सबको आश्रम की रोजाना सफाई और झाड़ू लगाने में हाथ बटाना पड़ता था। बारी-बारी से बड़े रसोईघर में, जहां 200 आदमियों के लिए रोज रोटी, दाल और तरकारी बनती थी, काम करना पड़ता था।

फिर वहां एक बड़ी गोशाला, बगीचा और कुछ खेत थे। करघों से भरा हुआ एक बड़ा बुनाई घर, बढ़ई की दूकान और चर्मालय भी थे। कार्यकर्ताओं को ये काम इस तरह बांटे गये थे कि कुछ एक कार्य में तो कुछ दूसरे कार्य में विशेष शिक्षा पा रहे थे। मेरा ज्यादातर समय खादी और गोशाला के काम में लगा। कभी-कभी मुझे सौभाग्य से बापू जी की निजी सेवा करने — उनका खाना पकाने, कपड़े धोने, कमरा साफ करने आदि — का मौका भी मिल जाता था। वे दरअसल मेरे जीवन के सब से आनन्द के दिन थे, क्योंकि एक शिष्य अपने प्यारे और पूज्य गुरु की निजी सेवा से बढ़कर आनन्द कहां पा सकता है?

आश्रम के नैतिक कार्यक्रम

आश्रम का रोज का जीवन बहुत सख्त था। हर एक आदमी सुबह 4 बजे उठ जाता था और नित्य क्रिया से निपटकर साढ़े चार बजे प्रार्थना में शामिल होता था। प्रार्थना साबरमती नदी के ऊंचे तट पर एक खुली चौरस जगह पर होती थी। संस्कृत के श्लोक, भजन और रामधुन के बाद प्रति दिन एक दो अध्याय गीता पाठ होता था, ताकि वह एक हफ्ते में पूरी हो जाये। प्रार्थना के अन्त में बापू जी 15-20 मिनट तक किसी धार्मिक विषय पर बोलते थे। प्रार्थना के बाद सब काम पर लग जाते थे और साढ़े छः बजे नाश्ते के लिए इकट्ठे होते थे। दिन का खाना बड़ी रसोई में साढ़े दस बजे और शाम का खाना मौसम के अनुसार साढ़े पांच या छः बजे हो जाता था, क्योंकि बापू जी कहते थे कि सोने से पहले खाना पूरी तरह से हजम कर लेना चाहिए। नौ बजे सब अपने-अपने कमरों में चले जाते थे और साढ़े नौ बजे तक सब रोशनियां बन्द करनी पड़ती थीं। रात को पढ़ने की इजाजत नहीं थी और अगर लोग साढ़े नौ बजे के बाद भी बातें करते रहते थे, तो उन्हें चुप रहने की चेतावनी दी जाती थी, क्योंकि रात को साढ़े नौ बजे तक न सोने के कारण सुबह 4 बजे उठने पर सुस्ती रहती है। अगर बापू जी किसी को सुबह की प्रार्थना में ऊंघते हुए देख लेते तो वे अन्दाजा लगा लेते थे कि उसने रात को पूरी नींद नहीं ली और इसलिये वे नियम तोड़ने के कारण उसे झिड़क देते थे। बापू जी की तेज आंखों से कुछ नहीं बच सकता था।

प्रार्थना

सायंकाल की प्रार्थना में, जो साढ़े छः या मौसम के अनुसार सात बजे होती थी, गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम भाग के 54 वें श्लोक से अध्याय के अन्त तक रोज पाठ होता था। तब भजन और उसके बाद 'राम धुन' होती थी, जिस में हर एक स्त्री और पुरूष को अपना नाम पुकारे जाने पर यह बताना पड़ता था कि उसने दिन भर कितना सूत काता। अगर किसी ने सूत नहीं काता, तो उसे इसका कारण बताना पड़ता था। सूत की हाजरी पूरी होने के बाद बापू जी आश्रम वासियों को सवाल पूछने का मौका देते और खुद उनका जवाब देते। फिर सभा समाप्त हो जाती थी।

कताई

बापू जी खुद हर हालत में रोज कताई करते थे। यहां तक कि अगर वे बीमार होते तो भी वे अपना चरखा मंगाने की जिद करते थे। मुझे एक घटना खूब याद है। बापूजी को सख्त मलेरिया बुखार था और डाक्टरों ने उन्हें सिर पर बर्फ रखकर लेटे रहने की सलाह दी थी। बापू जी ने उत्तर दिया, "तुम मेरे सिर पर बर्फ रख सकते हो, लेकिन मैं कातने को बैठूंगा।" हमें बापू जी का चरखा लाना पड़ा। वे कातने बैठे और हम उनके सिर पर बर्फ थाम कर खड़े रहे। इस घटना की याद कर किसी के लिए यह कहना कि बीमारी की वजह से न कात सके, मुश्किल था।

समय के प्रति निष्ठा

इसी प्रकार बापू जी ने हमारे सामने समय का पालन करने की पूरी मिसाल रखी। वे प्रार्थना, भोजन और दूसरे सब मौकों पर बिल्कुल ठीक समय पर आते थे। अगर कभी उन्हें देर हो जाती, तो हम समझ लेते थे कि कोई बहुत असाधारण घटना हो गई होगी।

जब आश्रम में कोई बीमार होता, तो बापू जी उसे देखने अवश्य जाते और उनको बापू जी के जाने से ही बहुत आराम मिलता। बापू जी के हाथ का स्पर्ष ही दवाई से ज्यादा शान्ति देने वाला था और मरीज दिन भर शाम को बापू जी के आने की राह देखते रहते।

आश्रम के इस सब काम के साथ-साथ, बापू जी भारत की गुलामी और उसकी आजादी हासिल करने के बारे में बहुत गम्भीर पत्र-व्यवहार और मुलाकातें करते रहते थे। सब पार्टियों और देशों के बड़े-बड़े लोग बापू जी को मिलने आते थे, लेकिन वे गरीब से गरीब किसान की ओर भी, जो असली समस्या लेकर आता था, उतना ही ध्यान देते थे।

ग्रामीण भारत

बापू जी का पहले से ही पक्का विश्वास था कि भारत की सच्ची ताकत गांवों में है और जब तक गांव वालों की अच्छी तरह से सेवा न होगी और उनकी पुरानी ताकत न लौटाई जायेगी, तो आजादी मिलने पर भी हम उसका पूरा फायदा नहीं उठा सकेंगे। जिस तरह बापू जी ने साबरमती में हमको सिखाया, उससे आप देख सकते हैं कि वे हर समय किसानों के बारे में सोचते रहते थे। जो कुछ हमने वहां सीखा, वह हमें गांवों की सेवा करने के योग्य बनाने के लिए था, वह भी उपदेशकों की तरह नहीं बल्कि ऐसे कार्यकर्ताओं की तरह जो अलग-अलग कामों में गांव वालों की मदद कर सकें। उन महान् दिनों में बापू जी ने जो काम और प्रार्थना की, उसका एक फल यह निकला कि कुछ लोगों ने, जिन्होंने साबरमती में बापू जी के चरणों में शिक्षा पाई थी, अपने केन्द्र स्थापित कर लिए हैं। आज आपको देश भर में आश्रम मिलेंगे, जिनमें से बहुत से दूर गांवों में हैं।

कुछ लोग सोचते हैं कि बापू जी की यादगार शहरों में संग्रहालय, पुस्तकालय, कालेज और इस प्रकार के दूसरे स्मारक बनाकर कायम रखी जा सकती है। परन्तु मेरे विचार में बापू जी की सच्ची यादगार गांवों की सेवा करके ही कायम रखी जा सकती है। (जून, 1952)

कर्जदारी

देहात में आप यह तो अच्छी तरह से जानते हैं कि कर्जदारी कितनी भयानक चीज हो सकती है। यदि आप एक बार कर्ज में फंस गये तो आप इस से छुटकारा नहीं पा सकते और अंत में आप अपने साहूकार के हाथों में मजबूर हो जाते हैं। कुछ मामलों में तो, जब साहूकार तगड़ा आदमी होता है, आप एक तरह से उसके गुलाम हो जाते हैं और यह गुलामी बाप से बेटे के पास विरासत में चली जाती है। मामूली लेन-देन से भी दोस्ती में फर्क पड़ सकता है और अच्छे से अच्छे दोस्त भी रुपये-पैसे के मामलों में आपस में लड़ते हुए देखे जा सकते हैं।

जैसा मनुष्यों के साथ होता है, वही देश-देश के बीच होता है। एक देश दूसरे देश से कर्जा लेता है, और झट उनके आपसी रिश्तों में फर्क पड़ने लगता है तथा बेचैनी पैदा हो जाती है। दोनों देश लेन-देन से पहले की तरह एक दूसरे के साथ घुल-मिल कर नहीं रहते। उनके बीच एक तरह के बड़ेपन और छोटेपन के ख्याल पैदा होने लगते हैं और जब साहूकार देश बहुत ताकतवर रहता है तो कम ताकतवर कर्जदार देश की स्वतंत्र नीति धीरे-धीरे खत्म होने लगती है। मैं समझती हूं, और जैसा कि आप देखते हैं, यह किसी भी देश के लिए अच्छा रास्ता नहीं है, हो सके

तो उसे इससे बचना चाहिए।

अगर किसी आदमी के पास रुपये की तंगी है, तो उसके लिए, चाहे वह कैसा भी दोस्त क्यों न हो, किसी से कर्ज लेने के बजाय अपने खर्चों में कमी करना (यदि कमी करने की कोई गुंजायश हो) और खूब मेहनत करना ज्यादा अच्छा है। इसी तरह एक देश के लिए, जो रुपये की तंगी महसूस करता है, किसी दूसरे देश से, चाहे वह कैसा ही दोस्त क्यों न हो, कर्जा लेने के बजाय अपने खर्चों में कमी करना और स्वावलम्बन को बढ़ाना ज्यादा अच्छा है।

दुर्भाग्यवश, हमारी मौजूदा सरकार ने बिल्कुल उल्टा रास्ता पकड़ा है। देश का खर्चा कम करने और देश को स्वावलम्बन की तरफ ले जाने के बजाय उसने पुरानी और खर्चीली नौकरशाही को कायम रखा है। उसने अपनी विशाल सेना को बढ़ाया है और इसके अलावा करोड़ों रुपये की बड़ी-बड़ी विकास योजनाओं को शुरू किया है। इसके लिए सरकार के पास रुपया कहां से आ सकता था? उस आदमी की तरह जो अपनी जिन्दगी को सादा नहीं करना चाहता और न ज्यादा मेहनत करना चाहता है, सरकार ने कर्जा लिया है। खासतौर से बिजली, सिंचाई, ट्रैक्टर, मशीन और इस तरह की दूसरी विकास योजनाओं के लिए सरकार ने अमेरिका से बड़ी-बड़ी रकमें ऋण के रूप में ली हैं? अमेरिका का भारत के प्रति कितना भी दोस्ताना रुख क्यों न हो, इस तरह रुपया लेने से हम एक गलत स्थिति में फंस गये हैं और हमारा आपसी रिश्ता स्वतंत्र दोस्तों की तरह बराबरी का नहीं रह सकता है।

यह सब कुछ बहुत बुरा है, लेकिन इस बारे में इससे भी बुरी दो और बातें हैं, जिनसे हमारी हालत और भी खराब होती है। पहली बात तो यह है कि इन खर्चीली विकास योजनाओं से जो काम होंगे उनसे हम सही मायने में स्वावलम्बी नहीं होंगे, बल्कि इनके कारण हमें पैदावार के साधनों (जैसे तेल, मशीन, औजार, आदि) के लिए अमेरिका और दूसरी विदेशी ताकतों पर आसरा रखना पड़ेगा। दूसरे, अमेरिका ने यह साफ-साफ कह दिया है कि वह भारत और एशिया के दूसरे देशों को यह मदद कम्यूनिज्म का प्रयास रोकने के लिये दे रहा है। इसलिए ऐसा रुपया स्वीकार करना, जिसके कारण हम अमेरिका और रूस के आपस में बढ़ते हुए झगड़े के बीच फंस जाते हैं, खतरे से खाली नहीं है। यह तनाव सारी दुनिया के लिये और खास तौर से उन देशों के लिये, जिन्होंने इन बड़े-बड़े देशों से इस प्रकार के समझौते कर लिए हैं, बहुत खतरनाक है।

हर महीने मैं इन गम्भीर मामलों के बारे में आपको विस्तार से लिखूंगी। आपका इससे सीधा ताल्लुक है, क्योंकि इस रूपये में से ज्यादातर अमेरिकन और हिन्दुस्तानी अफसरों की बनाई गई एक बड़ी योजना के अनुसार देहातों की उन्नति में खर्च कर लिया जायेगा। आपको यह जानना चाहिये कि इसके पीछे क्या राज छिपा हुआ है, क्योंकि लोग रुपया और दूसरी तरह की सहायता की मीठी-मीठी बातें और वायदे लेकर आपके पास आयेंगे। केवल उसी समय आप यह तय करने की स्थिति में होंगे कि आप इन योजनाओं के साथ सहयोग करना चाहते हैं या नहीं।
(जुलाई, 1952)

आम जनता से

जो कुछ भी मैं लिखती हूं उसके पीछे बापू जी के चरणों में सीखे आदर्शों के अनुसार भारत के किसानों की सेवा की मेरी तीव्र इच्छा है। मेरा अपना कोई स्वार्थ नहीं है, कोई पार्टी या दल नहीं जिसकी आज्ञा के अनुसार मुझे चलना पड़े। बिना ईश्वर से प्रार्थना किये मैं कुछ नहीं लिखती। मुझे उनसे कोई बैर-भाव नहीं, जिनकी कर्त्तव्य

के विचार से मुझे आलोचना करनी पड़ती है। कोरी आलोचना भी, लेखों या भाषणों के द्वारा, मुझे बहुत ना पसन्द है। मेरी प्रवृति हमेशा ठोस काम के जरिये अपने विचारों को प्रकट करने की रही है। मौजूदा खतरनाक हालत में (जैसा कि वह मुझ जैसे व्यक्ति को दिखाई देती है) जब कि राष्ट्रीय पैमाने पर सामूहिक योजनाओं (कम्यूनिटी प्रोजेक्ट्स) को लागू किया जा रहा है। मैं महसूस करती हूं कि जो कुछ मैं लिखती या कहती हूं उसके पीछे एक स्वतन्त्र गांधीवादी योजना के रूप में ठोस प्रमाण होना चाहिये। केवल यही एक रास्ता है, जिसके द्वारा सरकार और किसानों को, जिनके विचारों को हर रोज मौजूदा प्रचार से अधिकाधिक उलझाया जा रहा है, सुगम बनाया जा सकता है।

हिन्दुस्तान भर में दूसरी बड़ी समस्या जिसका हल जरूरी है, जंगलात (वनों) की है। भारत में यह धन अर्जित करने का खास माध्यम है। लेकिन सरकार और किसानों में युगों से चले आये झगड़ों के कारण इनकी स्थिति सबसे खराब है। जंगल सब प्रकार के सुख का खजाना है और दुनिया भर में व्यापक रूप से उनकी बरबादी आज के मनुष्य की उलझन का एक मौलिक कारण है। मेरा सपना है कि जंगल, पशु और खेतों को एक सुव्यवस्थित रूप से संगठित हुआ देखूं। और यह तभी हो सकता है जब किसान हमारे राष्ट्रीय मामलों में अपना उचित स्थान लें जैसे कि बापू जी ने जनवरी 1948 में अपनी आखिरी प्रार्थना-सभा में कहा था।

भगवान इस पवित्र आदर्श के जरिये भारत की सेवा करने में हमारी मदद करे। (सितम्बर, 1952)

बापूजी के रास्ते पर

इस साल (1952) सरकार ने 2 अक्टूबर को देश भर में 55 कम्युनिटी प्रोजेक्ट (सामुदायिक योजनायें) शुरू कर बापू जी का जन्म दिन मनाया। तमाम बड़े-बड़े सरकारी नेताओं ने उस दिन इस विषय पर भाषण दिए और कहा कि 2 अक्टूबर को इन्हें कार्यरूप में परिणित करना बहुत उपयुक्त रहेगा, क्योंकि इन योजनाओं को गांवों के विकास के लिए बनाया गया है जो बापूजी को सबसे प्यारा काम था और जिसके लिए उन्होंने खुद जीवन भर मेहनत की थी। उन्होंने यह भी कहा — जो ऊपर से देखने पर उतना ही सही जंचता है—कि क्योंकि इन योजनाओं को पूरा करने के लिए इस बात पर बहुत जोर दिया गया है कि गांव वाले आपस में सहयोग करें और जहां तक हो सके अपने हाथों से ही सब काम करें, इसलिए ये योजनाएं ठीक-ठीक बापूजी के आदर्शों के मुताबिक बनी हैं।

यह सच्चाई की बहुत दुख-पूर्ण तोड़-मरोड़ है। 'दुख-पूर्ण' मैं इसलिए कहती हूं कि नेता लोग खुद सारी चीज के अनुचित होने के बारे में अनभिज्ञ दिखाई देते हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि ये योजनाएं गांवों के विकास के लिए बनाई गई हैं और वह भी आपके सहयोग के जरिये। पर इनका उद्देश्य उससे बिल्कुल अलग है जो बापूजी ने आपके लिए सोचा था।

बापूजी का आदर्श था कि आपको आत्म-निर्भर और आर्थिक रूप से आजाद होना चाहिए। अपने मौजूदा रूप में ये योजनाएं आपको बाहरी ताकतों का गुलाम बना देंगी।

बापूजी का आदर्श था कि आपके गांवों में गरीब से गरीब लोग भी बेकार न रहें। अपने मौजूदा रूप में ये योजनाएं पहले ही से बेहद बेकारी को और भी बढ़ा देंगी।

बापूजी का आदर्श था कि जमीन को आर्थिक इकाइयों में बांटकर उन लोगों को दे दिया जाये, जो अपने हाथों से खेतों में काम करते हैं। अपने मौजूदा रूप में ये योजनाएं इस तरह से बंटवारे का विचार नहीं करतीं।

- - - बड़े नेताओं और मेरे विचार करने के तरीके में अंतर होते हुए भी पुराने साथी होने के नाते हमारा आपस में प्रेम है। और वे यह जानते है कि जो कुछ मैं कहती या लिखती हूं उसका कारण केवल बापूजी के आदर्शों के लिए मेरी श्रद्धा और मेरी यह तमन्ना है कि भारत के गांव दुनिया को स्थायित्व, विश्वव्यापी शांति और खुशहाली का रास्ता दिखायें। इसलिए मुझे विश्वास है कि वे बापूजी के आदर्शों को अमल में लाने के सुझाव का विरोध नहीं करेंगे, बल्कि हमें ऐसा करने के लिए पूरी पूरी सुविधाएं देंगे। (अक्टूबर, 1952)

हिमालय में वृक्षारोपण

केन्ट हाउस
कैमडन पार्क, टन ब्रिज वैल्स केन्ट
टी.एन.2 5 ए.एन.,
इंग्लैण्ड

नवम्बर 14, 1978

प्रिय मोरारजी भाई,

मैं आपको अपने उस लेख की अग्रिम प्रति भेजने की सोच ही रही थी जो मैंने हिमालय में होने वाले भू-क्षरण के कारण आई हुई विनाशिनी बाढ़ों के बारे में लिखा है कि तभी, भारत स्थित आस्ट्रियायी राजदूत के हाथ आपका स्नेहमय सन्देश मिला, जो उन्हें आपने मेरे लिए तब दिया था, जब वे अपनी बदली से पहले आपसे मुलाकात करने गये थे। इसके लिए और मेरे पहले पत्र का भी जो आपने समुचित उत्तर भेजा है, उसके लिए भी, मैं आपको अनेक धन्यवाद देती हूं।

इस पत्र के साथ एक सुस्पष्ट लेख* भेज रही हूं। हिमालय में जो दुर्दशाकारी बाढ़ रूपी रोग फैला है, इस लेख में उस पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। ऐसी सच्चाई का पता आपको अपने वन-विभाग से कभी भी नहीं मिलेगा। क्योंकि उनका सारा अस्तित्व ही इस विपदा के मूल कारण पर टिका हुआ है। आपको अपने विशेषज्ञों की राय के विरुद्ध मेरे कथन की दृढ़ता से आश्चर्य तो होगा, लेकिन मेरे विचार हिमालय के जंगलों में व्यतीत मेरे कई वर्षों के अनुभव के परिणाम हैं, जहां ओक (बांज) वृक्ष किसी समय काफी समृद्ध थे। उन दिनों, करीब 25 या इससे भी अधिक वर्ष पहले बांज वृक्ष वहां कितने नैसर्गिक रूप में पनपे हुए थे, इसकी स्मृति वहां के कई जीवित व्यक्तियों को थी। उन्हें यह स्मृति भी थी कि उनके पूर्वजों के जीवनकाल में बांज वृक्षों की वृद्धि कितनी बहुतायत में थी। इसलिए मैं जंगलों में घूम-घूम कर देखने लगी तो पाया कि कुछ छोटे और मरे-मरे से बांज वृक्ष कहीं-कहीं पर खड़े थे और कुछ पेड़ों के सूखे खण्ड और जड़ें चीड़ पाइनों की घनी कतार में यहां-वहां पर दिखाई पड़ जाती थीं।

गांव वालों ने मुझे बताया कि पहले चारे के लिये ओक वृक्षों को काटना कानूनन मना था, मगर जैसे-जैसे इंसानों और मवेशियों की संख्या बढ़ती गई, और कानून में ढील आती गई, बांज के पेड़ लगातार कटते-छंटते गए। काटे-छांटे जाते रहने से वे चीड़ पाइन के पौधों की पैदावार को रोकने नें कमजोर पड़ते गये, क्योंकि चीड़-पाइन के

---

* अंग्रेजी भाषा में लिखा गया लेख 'द वन रिमेडी'

पौधे मौका मिलते ही द्रुत गति से बढ़ते हैं।

आर्थिक दृष्टि से वन-विभाग के लिए यह लाभ का सौदा था। वे तो चाहते थे कि ओक वृक्ष के निशान मिट जाएं। इसी नीति का परिणाम है कि आज सभी जंगलों में वे केवल चीड़-पाइन का ही रोपण करते हैं।

मैं इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय पर एक और लेख किसी बड़े दैनिक पत्र में भेजूंगी। यह लेख मैं 'हिमालयः मैन एण्ड नेचर' पत्रिका को दे रही हूं।

आपको मालूम ही है कि मैं इंग्लैण्ड में आ गई हूं। साथ में बिथोवन पर लिखे लेख की दो पांडुलिपि लाई हूं, जिन्हें मैंने आस्ट्रिया में लिखा था। इन लेखों पर मैं सर रिचार्ड ऐटिनबरो से विचार विमर्श करूंगी। वे इनके प्रकाशन और बी.बी.सी. पर इनके प्रसारण में मेरी मदद करेंगे। साथ ही मैं उनसे बापू पर एक फिल्म बनाने की उस योजना पर भी चर्चा करूंगी, जो उनके मन में बहुत दिनों से है। मेरे विचार से यह फिल्म विश्व के वर्तमान संदर्भ में विशेष महत्व की होगी। साथ ही मैं यहां के पारिस्थितिकीय विशेषज्ञ, वन विभाग के उच्चतम पदों पर कार्यरत व्यक्तियों से भी संपर्क बढ़ाना चाहती हूं। इनसे मेरा परिचय सन् 1969-70 में तब हुआ था जब मैं लंदन में थी। परिचय लार्ड माउन्टबेटन ने कराया था।

फिलहाल मैं ऊपर लिखे पते पर अस्थाई आवास में अपने विश्वस्त परिचायक के साथ रह रही हूं। वह गढ़वाल हिमालय का निवासी है और मेरे साथ पिछले 28 साल से रह रहा है। मैं एक अच्छा मकान भी तलाश रही हूं। यहां जगह की बहुत तंगी है और यह जगह लंदन से बहुत दूर भी है।

लेकिन आजकल किराये के कमरों का मिलना आसान नहीं है। निचली मंजिल पर मिलना तो बहुत ही मुश्किल है, क्योंकि हृदय रोग के कारण मुझे निचली मंजिल ही चाहिए। हृदय की कुछ कमजोरी के अलावा मैं बिल्कुल स्वस्थ हूं, मगर इस मामले में मैं आपका मुकाबला तो कर ही नहीं सकती।

मैं पहले की ही भांति, उत्सुकता से भारत के विकास पर दृष्टि लगाए रहती हूं। मुझे विश्वास है कि अतंतः आत्मनिर्भर व स्वशासी होने की आजादी पाने के बाद भारत के गांव सुदृढ़ एवं खुशहाल हो गए होंगे।

स्नेह और शुभकामनाओं के साथ,

मीरा बहन

प्रधानमंत्री
नई दिल्ली

नवम्बर 24, 1978

प्रिय मीरा बहन,

आपका 14 नवम्बर, 1978 का पत्र पाकर बहुत हर्ष हुआ। हिमालय में वनों के विनाश के कारण हो रहे भू-क्षरण से आप चिन्तित हैं, उससे मैं सहमत हूं, क्योंकि भू-क्षरण के लिए वृक्षों का पर्याप्त आवरण नहीं रह गया है।

मैंने इस मुद्दे को राज्यों के मुख्यमंत्रियों के साथ उठाया है और उन्हें वन-रोपण और भू-क्षरण पर अधिक जोर देने का आग्रह किया है। मैंने उनका ध्यान विशेष रूप से ऐसे वन-विनाश से हिमालय और उसकी तलहटी तथा उप-पर्वतीय क्षेत्र पर जो खतरा मंडरा रहा है, आकृष्ट किया है, क्योंकि इससे भूमि की जैवकीय-क्षमता क्षीण होगी। हिमालय क्षेत्र में संकट को रोकने के लिये वन, सिंचाई और भू-रक्षण क्षेत्र के विशेषज्ञों के परामर्श से एक योजना तैयार हो रही है।

आपने जो ओक वृक्षों को चीड़-पाइन के प्रकोप से बचाने का आग्रह किया है, उस संबंध में मैं कृषि मंत्री से आपके सुझावों की जांच-परख का अनुरोध करूंगा और कहूंगा कि इसके उपचार की तत्काल कार्यवाही करें।

यह जानकर प्रसन्न हूं कि आप स्वस्थ हैं और आपका ध्यान उन समस्याओं पर केन्द्रित है, जो हमारे देश को खतरे की तरफ ले जा रही हैं। आशा है कि बापू पर फिल्म बनवाने का आप जो प्रयास कर रही हैं, वह सफल होगा।

स्नेहसिक्त आदर के साथ,

आपका

मोरारजी देसाई

कुमारी मीरा बेन
केन्ट हाउस, कैमडन पार्क,
टनब्रिज वेल्स केन्ट टी एन 2 5 ए एन,
इंग्लैण्ड

श्री सुरजीत सिंह बरनाला, भारत सरकार के कृषि एवं सिंचाई मंत्री का दिनांक 10 जनवरी, 1979 का पत्र

प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई और रक्षा मंत्री श्री जगजीवन राम, दोनों ने बांज (ओक) वृक्षों के संरक्षण के बारे में आपके लिखे पत्र की प्रति मुझे भेजी है। मैं मानता हूं कि बांज (ओक) वृक्ष भू-रक्षण और स्थानीय लोगों की अर्थव्यवस्था के लिये बहुत उपयोगी है। जहां-जहां भी बांज है, वन विभाग उनकी सुरक्षा के प्रति सजग रहा है तथा उन्हें हटाकर उनके स्थान पर चीड़-पाइन के वृक्ष लगा रहा है, कहीं भी ऐसा नहीं किया गया है।

वन-विभाग के अधिकार क्षेत्र के बाहर, बांज (ओक) वृक्षों को, मवेशियों को उनके पत्तों का चारा खिलाने के लिए, निर्दयता से काटा-छांटा जाता है। प्रायः इन पेड़ों के सारे पत्ते नोचकर इन्हें नग्न कर दिया जाता है। ऐसी हालत में जब केवल ठूंठ रह जाते हैं तो निर्दयतापूर्वक पत्तों से रहित किए गए ये वृक्ष मिट्टी को बहुत कम संरक्षण दे पाते हैं, जिससे मिट्टी क्षरित होकर बह जाती है। चीड़ पाइन, जो ऐसी आबोहवा में तुरंत पनप जाते हैं, ऐसी जगहों को घेर लेते हैं और फिर प्राकृतिक रूप से धीरे-धीरे अपने को वहां स्थापित कर देते हैं। ऐसे क्षेत्रों में भी गांव वालों को समझाया जा रहा है कि वे बांज के पेड़ों को काट-छांट कर ठूंठ न बनायें।

आप मानेंगी कि कुछ पौधों को प्रकृति विशेष क्षेत्र में ही उगाती है, जहां वे पनप सकें। इसलिए जहां प्रकृति ने चीड़ पाइन के लिए उचित वातावरण प्रदान कर रखा है, वहां से उन्हें काट फेंकना ठीक नहीं होगा, क्योंकि इससे पारिस्थितिकीय असंतुलन पैदा होगा। चीड़ आम तौर पर वहां बढ़ते हैं, जहां की धरती ढालू होती है और मिट्टी हल्की होती है। ऐसे क्षेत्रों में कृत्रिम ढंग से नये किस्म के वृक्ष लगाना मुश्किल है। बांज (ओक) के पेड़ों को बढ़ने के लिए गहरी और उपजाऊ मिट्टी चाहिए, साथ ही इसकी बढ़त धीमी होती है। हिमालय की दक्षिणी ढाल पर अधिकांश धरती अनावृत है, जहां मिट्टी का नामोनिशान नहीं है। यदि लागत को उपेक्षित भी कर दिया जाए तो भी मिट्टी की गहराई और नमी के अभाव में यहां बांज के पेड़ पनप नहीं पायेंगे। इसलिए नीति बनाई गई है कि बांज के वृक्ष जहां हों, वहां उनकी रक्षा की जाए। और जहां मिट्टी अनुकूल हो वहां इन्हें बहुतायत में रोपने पर बल दिया जाए। बांज (ओक) के क्षेत्रों में इन वृक्षों की पत्तियों व टहनियों को काटने को भी प्रतिबंधित कर दिया जाए।

इन क्षेत्रों के ग्रामीणों को धन तथा दूसरे शिल्पों के प्रशिक्षण के रूप में मुआवजा देने का और यहां पर नये व्यवसाय पनपाने के आपके सुझावों का स्वागत है। मैं इस सम्बन्ध में कार्य करने के लिए संबद्ध राज्यों को निर्देश दे रहा हूं।

प्रत्युत्तर में मीरा बहन का 29 जनवरी, 1979 का पत्र

आपके विस्तृत और लम्बे पत्र के लिये अनेक धन्यवाद। किन्तु इस पर मैं जो प्रतिक्रिया व्यक्त करने जा रही हूं, उसके लिये मुझे क्षमा करेंगे। मैं समझती हूं कि अपने वन-विभाग की सूचना पर विश्वास करने के अतिरिक्त दूसरी बात सोचना आपके लिए कितना कठिन है। मैं यह भी महसूस करती हूं कि वन-विभाग को भी केन्द्रीय सरकार की इस इच्छा का पालन करना पड़ता है कि वनों से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त किया जाए। लाभ प्राप्ति का मतलब टिम्बर (इमारती लकड़ी) पाने के लिए वृक्षों का लगाना है। चीड़ पाइन इसके लिए आदर्श है, क्योंकि इससे उच्च कोटि का टिम्बर और रेज़िन प्राप्त होता है, साथ ही यह शीघ्र बढ़ जाता है और इनको उगाना भी आसान है। परन्तु मैं तो इन जंगलों की वह दशा बताने के लिए व्यग्र हूं जो मैंने गढ़वाल में 25 साल पहले देखी थी, क्योंकि जिस प्रकार से प्रत्येक वर्ष यहां बाढ़ के प्रकोप में बढ़ोतरी हो रही है, उसे देखते हुए तो परिस्थिति सुधरने के बजाय पहले से और भी ज्यादा खराब हो गई लगती है।

सामान्य मुद्दों पर विवेचना करने से पूर्व आपने अपने पत्र में जो विशेष विवरण प्रस्तुत किए हैं, उनका मैं एक-एक कर जबाव दे रही हूं --

(1) "वन विभाग जहां-जहां बांज के पेड़ हैं, उनके संरक्षण का उपाय करता है"
पांच से सात हजार फीट की ऊंचाई पर गढ़वाल के जंगलों में मैंने जो पांच वर्ष बिताये, उस दौरान ऐसे बचाव की मैंने मामूली कोशिश भी नहीं देखी, मात्र एक छोटे से क्षेत्र के, जहां पर वन विभाग किसी सरकारी मकान में पानी पहुंचाने के लिए एक झरने के विकास के लिए व्यग्र था।

(2) "कहीं भी बांज (ओक) को काटकर चीड़-पाइन के पेड़ नहीं लगाये गये हैं"
मैंने बांज के वृक्षों के क्षेत्र में मुख्यतः चीड़-पाइन के पेड़ देखे हैं। अगर वन-विभाग ने उनको रोपा नहीं था तो उनकी देख-भाल और कटाई-छंटाई जरूर कर रहा था। चीड़ पाइन के वृक्षों को रोपना

जरूरी नहीं है। ये खुद उग आते हैं और जंगली बांस की तरह बढ़ते हैं।

(3) "वन-विभाग के क्षेत्र के बाहर बांज को निर्दयता से काटा जाता है, इन क्षेत्रों में भी ग्रामीणों को इन वृक्षों को काटने से रोकने के लिए समझाने की कोशिश हो रही है।"
मेरे प्रवास के दौरान तो ऐसा नहीं हो रहा था।

(4) "चीड़ आमतौर पर वहां बढ़ते हैं जहां की धरती ढालू और मिट्टी हल्की होती है"

मैंने बांज क्षेत्र में ऐसी बहुत सी नमी वाली धरती देखी है जहां चीड़ के पेड़ मरे पड़े हैं। कम गहराई तक जाने वाली हल्की जड़ें होने के कारण गहरी ढाल पर तो चीड़ के पेड़ उखड़ जाते हैं। मैंने चीड़ से भरी ऐसी ढाल खुद देखी है, जहां तमाम पेड़ एक साथ धरती पर गिरे पड़े थे। उनका सिर तो धरती की ओर था और हल्की जड़ें हवा में उठी हुई थीं। इस तरह धराशायी होते बांज के पेड़, चाहे धरती कैसी भी ढालू है, मैंने तो नहीं देखे।

(5) "बांज (ओक) को गहरी और उपजाऊ मिट्टी चाहिए और इसकी बढ़त धीमी होती है। हिमालय के दक्षिणी ढाल पर अधिकांश धरती अनावृत है, जहां मिट्टी का नामोनिशान नहीं है। (ऐसा नहीं है!) यदि लागत को भी छोड़ दिया जाए तो भी मिट्टी की गहराई और नमी के अभाव में यहां बांज के पेड़ पनप नहीं पायेंगे।"

बांज की मजबूत और गहरे पैठने वाली जड़ें चट्टानों के बीच में से भीतर चली जाती हैं। बांज गहरी ढालों वाले पहाड़ी क्षेत्रों में भी बढ़ सकता है। बांज ही एक ऐसा वृक्ष है जो मिट्टी को उर्वरा बनाता है और भीतर से ठंडे पानी के स्रोतों को खींच कर बाहर लाता है। जहां से चीड़ के पेड़ों ने बांज का सफाया कर दिया है, वहां इसे फिर से उगाना मुश्किल तो है क्योंकि पाइन की सख्त और रेसिन भरी नुकीली नोकें मिट्टी को उर्वरा नहीं रहने देती हैं; लेकिन यदि बाढ़ की रोकथाम करनी है तो कोई न कोई रास्ता तो निकालना ही होगा।

(6) "नीति बनाई गई है कि बांज के पेड़ जहां हों, वहां उनकी रक्षा की जाए"

यदि इस नीति पर अमल हुआ होता तो गढ़वाल के जंगलों से लौटे हुए आज मुझे 25 वर्ष से अधिक हो गए हैं, इस अवधि में बांज के जंगलों से क्रमबद्ध तरीके से चीड़ के वृक्षों को हटा कर बांज के वृक्षों की जड़ों, टहनियों और यहां तक कि क्षतिग्रस्त पेड़ों से भी बांज के जंगल की अत्यधिक वृद्धि हो गई होती, साथ ही चौड़ी पत्ती वाली प्रजातियों को भी बढ़ावा दिया जा सकता था। परन्तु ऐसा हुआ नहीं।

इस दिशा में स्वतंत्रता के बाद से अब तक जो समय नष्ट किया गया है, उसे देखकर गहरा दुख होता है। अगर आरंभ में ही इनका लगन से विकास किया जाता तो अब तक बांज के छोटे-छोटे पौधे बढ़कर ऐसे हट्टे-कट्टे, तगड़े वृक्ष हो गये होते जिनकी आयु मनुष्यों की कई पीढ़ियों की आयु से अधिक होती है।

हिमालय में भू-क्षरण समस्या (और मैदानों में बाढ़ समस्या) इतनी विकराल है कि इससे निपटना अकेले वन-विभाग के बूते के बाहर है। मेरा विचार है कि केन्द्रीय सरकार के लिए बांज-क्षेत्र को 'महत्वपूर्ण क्षेत्र' घोषित करना जरूरी है। इसे इन्सानी आबादी और मवेशियों के प्रवेश से नियंत्रित करने के लिए अधिनायकवादी शक्तियों को हाथ में लेना होगा। साथ ही, वन-विभाग के लाभ कमाने वाले दृष्टिकोण को भी भू-क्षरण विरोधी दृष्टिकोण में बदलना होगा। तभी वन-विभाग अपने विशिष्ट ज्ञान को जंगल के राजा 'बांज' के विकास में और इसकी अन्य प्रजातियों के विकास में लगा पायेगा। मुझे उन प्रजातियों के सारे नाम मालूम नहीं हैं, मेरे साथ 29

वर्षों से रहने वाला गढ़वाली परिचायक उनके नाम गिनाता रहता है।

इसमें दो राय नहीं हैं कि यदि केन्द्रीय सरकार अधिनायकवादी शक्ति इस्तेमाल करती है जिससे पेड़ों को काटना वर्जित हो, पशुओं को सीमा के भीतर ही चराया जाए और इन क्षेत्रों में खेती (कृषि) का विस्तार नहीं हो तो गांव वालों को समुचित मुआवजा जरूर मिलना चाहिए। मुझे इसमें आपका समर्थन पाकर खुशी है। गांव वाले जिस दिनों-दिन बिगड़ते पर्यावरण में आज जी रहे हैं, उसकी अपेक्षा यदि उनके हस्तशिल्प के विकास के लिए आर्थिक सहायता जुटाने के लिए सस्ती दर पर तेल (मिट्टी का तेल) उपलब्ध करा दिया जाए, तो निश्चय ही वे अधिक खुशहाल हो सकेंगे।

मैं इस पत्र की प्रतियां चित्रों सहित प्रधानमंत्री और रक्षामंत्री को भी भेज रही हूं।

हम आशा करें कि सन् 1979 में हिमालय में भू-क्षरण विरोधी दूरगामी प्रभाव वाला अभियान आरंभ हो जाएगा, जिससे मैदानों में हर साल प्रलय ढाने वाली बाढ़ स्वतः कम हो जाएगी।

केन्ट हाउस, कैमडन पार्क,
टनब्रिज, वेल्सः केन्टः टी एन 2 5 ए.एन.,
इंग्लैण्ड

मात्र एक ही हल

हिमालयः निवासी और निसर्ग (Himalaya : Man and Nature) में प्रकाशित विभिन्न लेखों को मैं बहुत चाव से पढ़ती रहती हूं। यह देखकर कि अधिकतर लेखों में मृदाक्षरण को रोकने पर बल दिया गया है, मैं काफी उत्साहित हुई, परन्तु इस विषय पर सबसे अधिक आश्चर्य मुझे यह जान कर हुआ कि किसी भी लेखक ने अपने लेख में बांज (हिमालय ओक) को बढ़ावा देने की बात नहीं की जो कि मात्र एक ऐसा पेड़ है जिसमें मृदाक्षरण को रोकने की सबसे अधिक क्षमता है। लेखकों ने चौड़ी पत्ती वाली प्रजाति को बढ़ावा देने तथा उनको चीड़ और दूसरे नुकीली पत्तों वाली प्रजाति के साथ सम्मिलित रूप से उगाने की सिफारिश तो की है परन्तु यह सब प्रकृति के उस सिद्धान्त के सम्मुख व्यर्थ है जिसके आधार पर उसने अत्यधिक वर्षा वाले कटिबंधों/द्रोणियों में बांज के वन उगा कर एक ऐसी प्रजाति प्रदान की है जो मूसलाधार वर्षा को अपने में अधिक से अधिक सोखने की क्षमता रखती है और इस प्रकार मिट्टी के क्षरण को रोकती है।

मैंने बार-बार इस सत्य को उजागर किया है कि बांज और चीड़ की प्रजाति में बहुत अंतर है। बांज अपनी गहरी पैठी हुई मजबूत जड़ों और अपनी फैली हुई चौड़ी पत्तियों से उस भूमि को उर्वरा बना देता है जहां पर उसकी पत्तियां झड़ती हैं जब कि चीड़ अपनी हल्की जड़ों और कम घने फैलाव के कारण जहां पर भी अपनी बारीक और नुकीली पत्तियों को गिराता है उस स्थान को सूखा (चीड़ की पत्तियों के नीचे घास मुश्किल से जमती है) तथा फिसलन वाला बना देता है। बांज में क्योंकि मूसलाधार वर्षा के पानी को अधिक से अधिक अपने में सोखने की क्षमता होती है, साथ ही चौड़ी पत्तियों के चंढोवे के कारण वर्षा की बूंद सीधे धरती के ऊपर नहीं पड़ती हैं, अतः यह वर्षा के पानी को धीरे-धीरे धरती पर छोड़ता है जो छोटे-छोटे नालों तथा झरनों के रूप में बह जाता है, जबकि चीड़ के पेड़ के नीचे कुछ भी उगा हुआ नहीं होता है साथ ही इसकी नुकीली पत्तियां पानी को सीधे धरती पर पड़ने से भी नहीं रोक पाती हैं, अतः वर्षा का पानी सीधे धरती पर पड़कर मिट्टी की ऊपरी तह को उखाड़ता हुआ तथा यदाकदा हल्की जड़ों वाले चीड़े के पेड़ों को उखाड़ता हुआ, सारी मिट्टी को पहाड़ी ढलानों पर बहा कर ले जाता है। इस पर भी बेचारे बांज का पहाड़ों पर से अस्तित्व समाप्त होता जा रहा है और उसके स्थान पर चीड़ पाइन जंगली घास की तरह खूब फूल-फल रहा है, क्योंकि चीड़ पाइन से मिलने वाली लकड़ी और लीसा जंगलात विभाग के लिए लाभकारी है। यही कारण है कि वन विभाग हिमालय की योजनाओं में चीड़ पाइन के बढ़ावे को महत्व देता है।

हिमालयी बांज को पुनर्स्थापित करने के लिए, मुझे मालूम है, व्यवस्था की दृष्टि से बहुत ही कठिन कार्य है, साथ ही धन और समय भी बहुत लग जाएगा। परन्तु जिस भयानक विनाश को रोकने में यह सक्षम होगा उसकी तुलना में यह व्यय, समय और परिश्रम बहुत ही साधारण सा है।

एक क्षण के लिये हमें गम्भीरता से इस भयानक विनाश के विषय में सोचना चाहिए। अभी उसकी प्रारम्भिक अवस्था है। परन्तु ज्यों-ज्यों वर्ष व्यतीत हो रहे हैं बाढ़ों का प्रकोप बढ़ता ही जा रहा है और इस वर्ष तो

यह प्रकोप इतना बढ़ गया है कि बाढ़ की ऐसी विभीषिका पहले कभी देखने में नहीं आयी, जिसमें इतनी मौतें हुई हों, फसल का इतना नुकसान हुआ हो, सम्पत्ति का इतना विनाश हुआ हो और डामों तथा पानी की गूलों में इतनी मिट्टी एकत्र हुई हो। यदि प्रत्येक वर्ष आने वाली इस विभीषिका की समस्या को अभी नहीं सुलझाया गया तो इसके दूर-गामी परिणाम बहुत की दुखद होंगे, जिससे कृषि, ऊर्जा के प्रतिष्ठापन और यहां तक कि सरकार भी चरमरा जाएगी।

और अब हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें कि यदि हिमालय में बांज को पुनः पनपाया जाए तो उसके लिए क्या मूल्य चुकाना होगा। इसका अर्थ होगा —

1. व्यवस्थित ढंग से 4000 फीट से अधिक ऊंचाइयों वाले स्थान से चीड़ पाइन को पूर्ण रूप से हटाना।
2. बांज का अपने प्राकृतिक परिदृश्य में तथा उसके साथ उगने वाले अन्य छोटे-छोटे पेड़ों, झाड़ियों तथा घास के साथ विकास करना।
3. इस सीमा के अंतर्गत चारे के लिए पेड़ों की पत्तियों को काटने, पशुओं को चराने तथा खेतों को बढ़ाने पर प्रतिबंध लगाना।
4. इन प्रतिबंधों के कारण ग्रामवासियों को पहुंचाए जा रहे नुकसान के लिए उन्हें धन तथा विभिन्न कुटीर उद्योगों द्वारा उचित मुआवजा देना, साथ ही वहां पर ऐसे कार्य व्यापार को पनपाना जिससे ग्रामीण अपनी आर्थिक स्थिति को स्थायित्व प्रदान करने में सफलता प्राप्त कर सकें।

प्रत्येक वर्ष बढ़ते हुए बाढ़ के प्रकोप से होने वाले नुकसान के सम्मुख उपरोक्त कार्यक्रमों को लागू करने पर जो भी धनराशि व्यय होगी, अपेक्षाकृत नगण्य होगी।

यदि हालात पर काबू पाना है तो प्रकृति का आश्रय आवश्यक है। यदि शीर्ष पर बैठे हुए नेता खुले दिमाग तथा खुली आंखों से हिमालय में जाएं और देखें तो वे स्वयं ही उस सब का अनुमान लगा लेंगे जो मैं कहना चाहती हूं।

मेरा अनुमान है कि मसूरी के ऊपरी हिस्से में बांज का जो सुरक्षित वन था वह अभी भी होगा। वहां तक पहुंचना आसान है क्योंकि सड़कें तथा रास्ते वहां तक जाते हैं। तो किसी शीर्षस्थ नेता को बिना किसी साथी के उस जंगल के मध्य भाग तक जाने दो। वहां जाकर वह जंगल के किसी कोने पर खड़े सबसे पुराने वृक्ष के पास जाकर खड़ा हो जाए, उसके तने को अपने हाथों से पकड़ कर, ऊपर की ओर शाखाओं पर दृष्टि डाले। यह पुराना बांज का पेड़ प्रकृति की विवेकपूर्ण गोपनीयता को अपने में समेटे हुए है और वह इसे नेताजी को समझा भी सकता है यदि वह सृजन के प्रति मौन श्रद्धा के साथ इसे सुनने के लिए तत्पर हों।

संक्षिप्त जीवन वृत्त

मेडेलीन स्लेड : जन्म तिथि : 22 नवम्बर 1892, जन्मस्थान- रेगेट, सरे, इंग्लैण्ड : माता पिता - एड्मिरल सर एडमण्ड और लेडी स्लेड।

मेरी बाल्यावस्था और किशोरावस्था अधिकतर 'डोरकिंग' के निकट नाना के गांव वाले बड़े मकान में बीती, जिसमें बहुत बड़ा उद्यान भी था। घुड़साल में सुंदर-सुंदर घोड़े थे और गौशाला में जर्सी गायें थीं। मुझे देहाती इलाके में दूर-दूर तक घुड़सवारी करने में सबसे अधिक प्रसन्नता होती थी।

बिथोवन का संगीत सबसे पहले मैंने तब सुना, जब मैं पंद्रह वर्ष की थी। इसने मेरी अन्तर्रात्मा को जगमगा दिया। बिथोवन का संगीत, उसके पत्र और उसके समसामयिक लोगों के संस्मरण मेरा सारा समय लेने लगे। मैंने तब वह बात जानी जो बहुत कम लोगों को मालूम है कि बिथोवन पूर्व की प्राचीन संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे और उन्होंने संस्कृत साहित्य के लम्बे-लम्बे परिच्छेदों का अनुवाद जर्मन भाषा में किया था।

जब मैं सोलह वर्ष की हुई, मेरे पिता ईस्ट इंडीज स्काड्रन के सर्वोच्च अध्यक्ष के पद पर नियुक्त हुए और मैं, मां और बड़ी बहन के साथ बम्बई के 'एडमिरल हाउस' मे आ गई। फिर हम तीनों को दूसरे वर्ष के ग्रीष्म में इंग्लैण्ड आना पड़ा, परन्तु सम्राट जार्ज पंचम के दरबार में भाग लेने के लिए हमें उसी वर्ष की सर्दियों में पुनः भारत लौट आना था। सामाजिक उत्सव मुझे बिल्कुल भी नहीं भाते थे। बाल-नृत्य से तो मैं बहुत ही चिढ़ती थी, अतः मैंने उसमें भाग न लेने की अनुमति चाही। मेरी भावना की सच्चाई को जानकर मेरे माता-पिता मुझे लंदन में ही छोड़ जाने के लिए राजी हो गए, और उनके जाने के बाद मैं इंग्लैण्ड में ही घर में अध्ययन में व्यस्त रहने लगी।

फिर पहला विश्व युद्ध शुरू हो गया। इसके साथ ही हर उस वस्तु के लिये जो जर्मन थी, इंग्लैण्ड वासियों के मन में घोर घृणा जागृत हो गई, जिसमें वहां का महान संगीत भी सम्मिलित था। मैं अपने नाना के पास गांव में चली गई और खेती में हाथ बंटाने लगी। युद्ध की समाप्ति पर कन्सर्ट-हालों में बिथोवन का संगीत पुनः आरंभ हो, इसके लिए मैंने कड़ी मेहनत की। उसी समय मैं रोमां रोलां के संपर्क में आई। उन्होंने हाल ही में "महात्मा गांधी" नामक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक को पढ़ते ही मेरी अन्तर्रात्मा से आवाज आने लगी कि मुझे भारत और साबरमती आश्रम में जाना होगा।

मैं वहां के नियमादि के बारे में अपने आपको तैयार करने लगी। और जब मैं अपने आप को गांधी जी के अनुकूल बनाने के एक वर्ष के प्रशिक्षण का आधा भाग पूर्ण कर चुकी तो मैंने गांधी जी को लिखा कि क्या मैं आ सकती हूं। इस पर अपनी सहमति प्रदान करते हुए उन्होंने मुझे आश्रम के उस कठिन जीवन के प्रति भी चेतावनी दी, जिससे मुझे गुजरना होगा। अपने नये नाम मीरा (मीरा बहन अर्थात् सिस्टर मीरा) के साथ ही नवम्बर 1925 के प्रारम्भ में ही गांधी जी की सेवा में मेरी जीवनचर्या आरंभ हो गयी।

प्रारंभ के दो वर्षों में मैंने हिंदी सीखी और कताई-बुनाई का प्रशिक्षण प्राप्त किया। उसके बाद मैं गांवों में काम करने के लिए भारत के विभिन्न भागों में घूमती रही। गांधीजी जब यात्रा पर जाते थे तो कभी-कभी मैं भी उनके साथ चली जाती थी। मेरा काम उनकी सारी निजी आवश्यकताओं को पूरा करना होता था।

जिन दिनों भारत के पूर्वी समुद्र तट पर जापानियों के आक्रमण की आशंका थी, मैं वहां ग्रामीणों को शत्रु के साथ अहिंसात्मक और असहयोगात्मक व्यवहार के लिये तैयार करने में कांग्रेस कार्यकर्ताओं को मदद देने के लिए गई। उस समय जब बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का महा-अधिवेशन हो रहा था, मैं वहां गांधी जी को पूर्वी समुद्र तट की स्थिति से अवगत कराने के लिए गई तथा गांधीजी और उनकी पार्टी के साथ मुझे भी गिरफ्तार कर लिया गया।

हम सभी को आगा खां पैलेस, पूना में बंद रखा गया। यह मेरी तीसरी गिरफ्तारी थी। पहले दो बार इस कारण से गिरफ्तार हुई थी कि मैं तत्कालीन भारत की वास्तविक स्थिति की यूरोप और अमेरिका में गुप्त सूचनाएं भेजती थी।

जब डेढ़ साल बाद गांधी जी के साथ हम सभी को जेल से छोड़ दिया गया (इस अवधि में कस्तूरबा और महादेव देसाई का वहीं निधन हो गया था) तो जेल से छूटने के बाद मैंने स्वतंत्र रूप से एक छोटा आश्रम स्थापित करने का निश्चय किया। इस कार्य के लिए मैंने ऋषिकेश और हरिद्वार के बीच दस एकड़ जमीन चुनी, ताकि वहां पर खादी और कृषि विकासात्मक कार्य को प्रारम्भ किया जाए। इस आश्रम का नाम मैंने 'किसान आश्रम' रखा।

दो या तीन वर्ष बाद दतार सिंह (सरदार बहादुर सर दतार सिंह) ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं केंद्र और उत्तरप्रदेश सरकार की आर्थिक सहायता से एक बड़ा पशु पालन केंद्र खोलूं। मैंने किसान आश्रम को गांधीवादी खादी कार्यकर्ताओं को सौंप दिया। पशुपालन केंद्र के लिये मैंने गंगा के दायें तट पर चार मील लम्बी जमीन ऋषिकेश से हरिद्वार की ओर जाने वाली दिशा में चुनी। इसका नाम मैंने "पशुलोक" रखा। अब यह बहुत बड़ा फलोद्यान केंद्र और पशुपालन केंद्र बन गया है।

सन् 1931 की गोलमेज सम्मेलन में मैं गांधीजी के साथ भारत के पक्ष में बोलने के लिए इंग्लैण्ड गई थी। उसी अवधि में कुछ दिनों के लिए जनता को सम्बोधित करने के लिए तथा रेडियो पर वार्ता के लिए अमेरिका भी गई थी। वहां एक इंटरव्यू के दौरान मेरी भेंट व्हाइट हाउस में श्रीमती रूजवेल्ट से भी हुई। भारत लौटने के पहले इंग्लैण्ड में मैंने सैम्युएल होर, एटेली जैसे विख्यात राजनीतिज्ञों से भी चर्चा-विचार किया। समय के परिप्रेक्ष्य में ये साक्षात्कार कम-ज्यादा समय के थे, लेकिन हर किसी ने गांधी जी के प्रति सच्चा आदर और गहरा स्नेह प्रकट किया।

पशुलोक निर्माण के दौरान ही गांधी जी की हत्या का दिल हिला देने वाला समाचार मिला। कई बार गांधी जी ने मुझे कहा था - "जब मेरा अंत आ पहुंचे तो अंतिम दर्शन के लिए भाग मत पड़ना। जहां भी और जो भी काम कर रही हो, उसे करती रहना।" मैंने वही किया। मैं उनकी आज्ञा की अवहेलना कैसे कर सकती थी?

पशुलोक हिमालय के पाद प्रदेश में उस स्थान पर स्थित है जहां गंगा हिमालय की गोद से निकलकर मैदान में आती है। मैं हिमालय के जलग्रहण क्षेत्र से आने वाली भयंकर बाढ़ के प्रति सही अर्थों में सशंकित थी। इसलिये मैंने पशुलोक के सारे मकान बाढ़ की सीमा-रेखा से ऊपर बनवाये। एक दो साल के भीतर में ही मुझे भयानक रूप

से आई बाढ़ देखने को मिली। पहले घहराता हुआ जल आया था और उसके साथ ही झाड़-झंखाड़, फिर लकड़ी के बड़े-बड़े शहतीर और फिर उफनते हुये जल के साथ पूरा का पूरा पेड़। हर तरह के जानवर बह कर आ रहे थे, कभी-कभी मनुष्य भी किसी बहती हुई झोंपड़ी में बहकर आ रहे थे। उन मनुष्यों और जानवरों को ऐसी उफनती नदी में से बचाना असंभव था। उनकी जीवन रक्षा की एक ही उम्मीद थी कि शायद वे कहीं नदी के किसी टापू या किनारे की किसी रोक से भिड़कर बच जायें। विनाशकारी बाढ़ों के इन दृश्यों ने मुझे प्रत्येक ग्रीष्म ऋतु में पशुलोक से उत्तर के क्षेत्रों में जहां से ये बाढ़ें आती हैं, अध्ययन करने को प्रेरित किया।

साफ दीखता था कि वनों के क्रूरतम उन्मूलन और चौड़ी पत्ते वाले वृक्षों के स्थान पर आर्थिक लाभ देने वाले चीड़ पाइन वृक्षों को उगाना ही इस प्रकार की बाढ़ों के मुख्य कारण हैं।

इस कारण मुझे पशुलोक का कार्यभार सरकारी कर्मचारियों को सौंप कर भिलंगना की घाटी में सामुदायिक परियोजना का कार्य हाथ में लेना पड़ा। मैंने यहां "गोपाल आश्रम" नाम से छोटा केंद्र स्थापित किया और वनों की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित कर लिया। मैं वृद्ध ग्रामीणों से अतीत की बातें सुनती थी और जंगलों की वर्तमान स्थिति का उसके संदर्भ में गहरा निरीक्षण करती थी।

जंगलों के विनाश पर अनेक चित्रों सहित विस्तृत रिपोर्ट बनाकर मैंने पंडित नेहरू को भेजी। उन्होंने उसे मुख्य वन संरक्षक को भेजा। मुख्य वन संरक्षक और उनके अधिकारियों के साथ मेरी कई बार बातचीत हुई। वे लोग मित्रतापूर्ण व्यवहार तो करते थे, मगर इसका कोई लाभ नहीं हुआ। आवश्यक परिवर्तन अत्यंत बुनियादी थे। उन्हीं दिनों 'सामुदायिक परियोजना' का अच्छा विकास हो रहा था और ग्रामीण स्वउत्तरदायित्व की नई भावना से हर्षित थे। मगर उत्तर प्रदेश के अधिकारियों को यह स्वतंत्रता बहुत ज्यादा खलती थी। अन्ततः मैंने इसका संचालन उन्हीं को अपने ढंग से करने को सौंप दिया, जो कि मेरे ढंग से बिल्कुल अलग था।

गत एक दो वर्षों से (1980-81 में) हिमालय के वन-उन्मूलन से उत्पन्न संकट बहुत विकराल होकर सामने आया है। सुन्दरलाल बहुगुणा, जिन्होंने गोपाल आश्रम में मुझे बहुत मूल्यवान सहयोग दिया था, 'चिपको आंदोलन' से जुड़े हुए हैं। इस आन्दोलन ने 'ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन' (बी.बी.सी.) का भी ध्यान आकर्षित किया है। कृष्ण मूर्ति गुप्ता भी, जो पशुलोक में मेरे कार्यालय और लेखा-विभाग के प्रधान थे, और अब 'हिमालय सेवा संघ' के सचिव हो गये हैं, वन समस्या पर बहुत परिश्रम से कार्य कर रहे हैं। लेकिन कोई भी प्रयास तब तक पूर्ण सफल नहीं होगा, जब तक केंद्र सरकार साहस के साथ वन विभाग के लक्ष्यों के सम्पूर्ण नवीनीकरण के लिए आगे नहीं आती, और आर्थिक लाभों को अन्तिम और वनों और मिट्टी के संरक्षण को सबसे प्रथम स्थान नहीं देती।

'सामुदायिक परियोजना' को त्यागने के बाद मैं काश्मीर आ गई और वहां 'डेक्सटर' नस्ल के मवेशी इंग्लैण्ड से मंगाकर याकों के साथ उनके मेल से नई नस्ल पैदा करने की योजना पर ध्यान केन्द्रित किया। लेकिन पहाड़ों पर मवेशियों के लिये विकास के लिए सरकार के माध्यम से कार्य कराने में बड़ी कठिनाई यह है कि पशुपालन विभाग के कर्मचारी दूरस्थ क्षेत्रों में जहां उनके बच्चों के लिए स्कूल नहीं है और पत्नियों के लिए सामाजिक मेल-जोल की गुंजाइश नहीं है, रहना पसंद नहीं करते हैं। मगर, यही ऐसी जगहें होती हैं, जो पशुओं के लिये सर्वाधिक उपयुक्त होती हैं।

यदि हिमालय में श्रेष्ठ नस्ल के पशुओं के विकास का कार्य करना है (और ऐसा करना नितान्त आवश्यक है) तो इस समस्या का समाधान गम्भीरता से करना होगा। इसके लिये संभवतः उन गूजरों के घनिष्ठ सहयोग की

आवश्यकता होगी, जो हमेशा, हर जगह, हर मौसम में अपने मवेशियों के साथ ही जीते-मरते हैं।

जब मैंने सरकारी माध्यम से कार्य करना बिल्कुल बन्द कर दिया तो मैं चम्मा (टिहरी-गढ़वाल) के ऊपर एक रिज (चौरस) पर बने छोटे मकान में रहने लगी। यहां से महान हिमालय श्रृंखला स्पष्ट दिखाई देती है। इसी स्थान पर मैंने फिर एक पुकार सुनी कि मुझे बिथोवन के पास लौट जाना चाहिए, और वियना के बाहर उन्हीं जंगलों में रहना चाहिए जहां पर उन्हें उस महान संगीत की रचना करने की प्रेरणा मिली थी। यह पुकार वैसी ही थी, जो मुझे सन् 1925 में महात्मा गांधी के पास भारत खींच लाई थी। यहां पर (वियना में) भारत के नष्ट होते वनों की समस्या से जुड़ी रह कर भी, मैंने स्वयं को बिथोवन के उन संदेशों में तल्लीन कर लिया है जो उन्होंने अपने संगीत द्वारा मानवता को दिया है। मैं बिथोवन के प्रति अपने विचार लेखों में व्यक्त करती रहती हूं।

इस तरह मेरा जीवन उन दो महान आत्माओं की सेवा में बीता, जिनके आदर्श महान थे। एक ने तो स्वयं को नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक सुधार की अनवरत गतिविधि द्वारा अभिव्यक्त किया, और दूसरे ने आध्यात्मिक वाणी से जो कि संगीत के माध्यम से जन जन तक पहुंची थी। बिथोवन के अपने ही शब्दों में "मनुष्य सृष्टिकर्ता और प्रकृति के रक्षक की अर्चना मात्र उन्हीं शक्तियों के अनथक प्रयोग से कर सकता है, जो वरदान रूप में उसे प्राप्त है।"

टिप्पणी

अब तक जो मैं इस शरीर को धारण किये हुई हूं और यह सब लिख पाई हूं इसका श्रेय हिमालय के निवासी उस रामेश्वर दत्त की भक्ति भरी सेवा को है, जो आज से 32 वर्ष पहले पशुलोक में मेरे पास आये और तब से साथ हैं।

रामेश्वर दत्त

मीरा बहन की जीवन गाथा में रामेश्वर दत्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है, यदि इस पुस्तक में उनका उल्लेख नहीं किया गया, तो यह पुस्तक अधूरी ही रहेगी, ऐसा मैं मानता हूं।

रामेश्वर दत्त टिहरी गढ़वाल जिले में नरेन्द्र नगर के समीप 'बेडधार' गांव के रहने वाले हैं। बचपन से ही वह सीधी-सादी प्रवृत्ति के रहे तथा संस्कृत का अध्ययन करने की दृष्टि से वे अपने घर से निकल गये थे। कुछ समय उन्होंने इस अध्ययन में लगाया, फिर केदारनाथ, बदरीनाथ, गंगोत्री तथा गोमुख तक ही यात्रा की। घूमते-घामते, एक दिन वे पशुलोक में आ पहुंचे। बहिन जी से भी मिले, पशुलोक में आना और बहनजी से मिलने का कारण था, नौकरी की तलाश, क्योंकि वे घर से बाहर रहकर कुछ काम भी चाहते थे ताकि जीवन यापन सुगमता से हो सके। उनकी आवश्यकताएं अधिक नहीं थीं — बातचीत में वे बहुत ही नम्र और सरल स्वभाव के हैं।अतः उन्हें पशुलोक के निवासियों की गायों की देखभाल आदि कार्यों के लिये नियुक्त कर लिया गया। बहिन जी के कुछ व्यक्तिगत काम भी वे बड़ी आत्मीयता और निष्ठापूर्वक करने लगे — जैसे उन्हें समय पर भोजन दे देना, रामायण का सस्वर पाठ सुनाना, उनके कपड़े वगैरह ठीक कर के निश्चित स्थान पर रख देना, उनसे मिलने आने वालों का आतिथ्य सत्कार इत्यादि। इस प्रकार रामेश्वर दत्त अपने मिलनसार व्यवहार के कारण जल्दी ही पशुलोक परिवार के एक अभिन्न अंग बन गये।

वे विवाहित युवक थे, किन्तु मीरा बहिन उन्हें सदा 'ब्रह्मचारी जी' ही सम्बोधित करती थीं। और वह उनको 'माता जी' कहते थे। वास्तव में उसका रहन-सहन, सोच-विचार तथा सम्पूर्ण व्यक्तित्व साधु-संन्यासियों जैसा ही हो गया था, और वह बहिन जी की दिनचर्या का भी एक अंग बन गया था। निष्ठापूर्वक किए गए इन सब कार्यों से न केवल उनको, अपितु बहिन जी को भी आत्म सन्तोष मिलता था।

मीरा बहन भारत छोड़कर जब विदेश (इंग्लैण्ड) गईं तब जगदीश उनियाल उनके साथ गये थे। रामेश्वर दत्त को बाद में उन्होंने अपने पास बुला लिया था। वह उनके साथ विदेश में लगभग 20 वर्षों तक रहे, इस अवधि में केवल एक बार 1970 में अपने घर टिहरी गढ़वाल आये और कुछ समय बाद बहन जी के पास लौट गए। उनकी अनुपस्थिति में बहिन जी को उन जैसा कोई दूसरा व्यक्ति वहां नहीं मिला जो उनकी उचित देख-भाल कर सके, दूसरी ओर रामेश्वर दत्त भी उनके पास ही रहने के लिए लालायित थे। इस सम्बन्ध में बहिन जी ने लिखा था — "अंततः रामेश्वर दत्त वापस आ गए और अब पहले से भी अधिक स्वस्थ व उत्साहित हैं, मेरे लिए उन्होंने जो कष्ट उठाए उसके लिए मैं आभारी हूं।"

रामेश्वर दत्त अधिक पढ़े-लिखे तो थे नहीं, लेकिन आस्ट्रिया में रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी और जर्मन भाषाओं का काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह आगन्तुकों का स्वागत करने में भी सिद्धहस्त हो गये थे।

उनके इस मिलनसार मित्रतापूर्ण व्यवहार से सभी लोग खुश रहते थे — मीरा बहन (माताजी) की वह तन-मन से सेवा सुश्रुषा करते थे, और वे भी उन्हें पुत्र तुल्य ही मानने लगी थीं।

जुलाई 1982 में बहिन जी के देहावसान के दो-तीन महीने बाद वे भारत लौट आए। मीरा बहन वियना के पास जिस मकान में रहती थीं, वहां श्रीमती ली कलीचे (Mrs. Lea Calice) और श्रीमती रोसेटा स्पाल्ट (Mrs. Rosetta Spalt) दोनों बहनें रामेश्वर दत्त को अपने परिवार का ही अंग मानने लगी थीं। वे उन्हें व उनके परिवार की आर्थिक मदद भी करती थीं, और अभी भी कर रही हैं।

भारत वापिस आकर रामेश्वर दत्त अपने गांव में स्थायीरूप से नहीं रह सके — उनका जीवन पूरी तरह बदल चुका था। गांव छोड़कर कुछ समय तक वे ऋषिकेश के पास 'शिवानन्द आश्रम' में रहे, यहां स्वामी चिदानन्द जी ने उनके निःशुल्क निवास व भोजन आदि की व्यवस्था करा दी थी। यहां भी वह अधिक समय तक नहीं रह सके। कुछ दिन पहले (नवम्बर, 1991) मैं ऋषिकेश गया था, तो उन्हें एक मन्दिर में गेरूआ वस्त्र और रुद्राक्ष की मालाएं धारण किये हुए, साधु रूप में पाया — अब वे यहां 'सन्त राम दास' के नाम से जाने जाते हैं।

रामेश्वर दत्त की निस्वार्थ सेवा और माताजी के प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति के साथ-साथ रामेश्वर दत्त को भी उनके सत्संग से अपना जीवन सार्थक बनाने का सुनहरा अवसर मिला। सम्भवतः इसी कारण वे 'दत्त' से 'सन्त राम दास 'बन सके। यह उचित ही है कि माताजी (मीरा बहन) ने अपनी 'वसीयत' (WILL) में उन्हें ही उत्तराधिकारी माना है।

विदेश से रामेश्वर दत्त मुझे भी यदा-कदा पत्र लिखते रहते थे, जिनमें अक्सर मीरा बहन के दैनिक जीवन सम्बन्धी बातें, उनके स्वास्थ्य के समाचार, व उनके अपने रोचक अनुभव सम्मिलित होते थे। इन्हीं पत्रों में से कुछ के संक्षिप्त अंश इस प्रकार हैं —

पत्र दिनांक 28.7.1981

> गर्मियों में माताजी बीमार रहीं। 89 वर्ष की हो रही हैं - बाहर घूम फिर नहीं सकतीं, शरीर थक जाता है। पेस-मेकर (Pace-maker) से नाड़ियां चलती हैं। उसकी बेट्री जब खत्म हो जाती है, तो उन्हें बदलना पड़ता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से दिमाग चलता है। इधर लोग उनसे मिलने — उनके दर्शनार्थ आते ही रहते हैं। वे उन्हें (माताजी को) तन-मन-धन से मदद देने के लिए हमेशा तैयार रहते हैं। मैं आटा पीसता हूं, ताजी रोटी, दूध-फल-सब्जी उन्हें उनकी इच्छानुसार देता हूं — शाम को आधा घन्टा रामायण का पारायण होता है — प्राचीन संगीत (बीथोवन) सुनती हैं — अब वे उसी (बीथोवन) के देश में प्राण त्यागना चाहती हैं।
>
> वे कहती हैं कि इसी संगीत के सहारे में बापू जी से भेंट कर सकी और यही संगीत मुझे यूरोप लाया। मैं भी चाहती हूं कि अपनी देह का विसर्जन यहीं करूं।

एक और पत्र (तारीख नहीं है)

> माताजी अपने हाथ से प्रतिदिन 5 बजे उठकर विभिन्न प्रकार के पक्षियों को कुछ खाने के लिए

देती हैं, जो इनको देख कर जंगल से उड़-उड़ कर आते हैं। जब वे घूमकर जंगल से वापिस कुटिया में आती हैं, और आकर किसी काम में लग जाती हैं या भूल जाती हैं तो पक्षी कांच की खिड़की पर इतनी जोर से चोंच मारते हैं, मानो ये उन्हें तोड़ देंगे। इन पक्षियों की कई जातियां हैं - मौसटिट, ब्लूटिट, स्टारलिंग, वुडपेकर, काम आदि। इनमें से काम, स्टारलिंग सिर्फ चैरी खाने को आते हैं। बाकी दस किस्म के पक्षी माताजी की खिड़की के सामने धान्य खाते हैं। देखिये सब देवता हैं और देवियां हैं।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रामेश्वर दत्त की प्रवृत्ति, मीरा बहन के सान्निध्य में रहकर बीत-राग वाली बन गई थी, यही कारण है कि उन्हें पक्षियों की आवाज में भी देवी-देवताओं अर्थात उस परम परमात्मा की ही आवाज सुनाई देती थी। सुरकण्डा की सूरी नामक देवी का मंदिर मसूरी से चम्मा (टिहरी-गढ़वाल) के मार्ग में पड़ता है। रामेश्वर दत्त की अलौकिक कल्पना ने मीरा बहन में उसी देवी का रूप देखा, जिसके कारण उन्हें पक्षी भी 'सुरकण्डा की सूरी माताजी' कहता हुआ लगा। और इसी बीत-राग वाली प्रवृत्ति ने उन्हें गृहस्थ आश्रम त्यागकर 'सन्त रामदास' बना दिया।

Tulln, am 29. September 1983

Mag. iur. Karl HOFMANN

Mag. Karl Hofmann
als Gerichtskommissär

THIS IS THE LAST WILL AND TESTAMENT of me **MADELEINE SLADE** of 6 Schlöglgasse, Gaaden, Lower Austria.

I REVOKE all Wills and testamentary dispositions heretofore made by me

2. **I APPOINT** Gräfin Lea Calice of 2 Ludwiggasse, 1180 Wien 18 to be Executrix and Trustee of this my Will.

3. **I DESIRE** that my body may be cremated and my ashes burried in the forest above the Beethovenstein in the "Helenental" near Baden.

4. **I GIVE** to the Librarian for the time being of the Wiener Beethoven-Gesellschaft (Heiligenstadt, Pfarrplatz 3. 1190 Wien) my stereo-gramophone, library of records and Beethoven library of books.

5. **I GIVE DEVISE AND BEQUEATH** all my real estate and the residue of my personal estate (including any estate over which I may have a general power of appointment of disposition by Will) unto my Trustee **UPON TRUST** to sell call in and convert the same into money and after payment thereout of my debts and funeral and testamentary expenses and the legacies bequeathed hereby or by any codicil hereto and to hold the net proceeds of the sale and conversion thereof upon trust for Mr. Rameshwar Datt of 6 Schlöglgasse, Gaaden, Lower Austria.

IN WITNESS whereof I have set my hand to this my Will the Eighth day of April One thousand Nine hundred and Sixty nine.

SIGNED by the said **MADELEINE SLADE** the Testatrix as and for her last Will and Testament in the presence of us three present at the same time who at her request in her presence and in the presence of each other have hereunto subscribed our names as witnesses:-

Madeleine Slade
(Sgd) MADELEINE SLADE

(Sgd) W. Rhodes,
c/o British Embassy
Reisnerstrasse 40
1030 Wien.

W. Rhodes

(Sgd) R. Eill
c/o British Embassy
Reisnerstrasse 40
1030 Wien.

R. Fill

(Sgd) C. Schoeppel
c/o British Embassy
Reisnerstrasse 40
1030 Wien.

Christa Schöppel

--- Diese Kopie stimmt mit dem mir vorliegenden Original, --- welches aus einem ungestempelten Blatt besteht, vollkommen -- überein. ---

--- Tulln, am 3. (dritten) Oktober 1983 (neunzehnhundertdreiundachtzig). ---

Mag. iur. Karl HOFMANN

Öffentl. Notar

म.द.ऋ.-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी.................
पु०सं०...............
भारती पुस्तकालय

A Brief Chronological Account of Mira behn's Activities
मीरा बहन के कार्यकलापों का कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण

NOVEMBER 1892 - JULY 1982
नवम्बर 1892 - जुलाई 1982

1892	Born November 22, 1892. Father, Sir Edmond Slade, who later served as Admiral in the Royal British Navy, and was posted for some time as Commander-in-Chief of the East Indies Station.	जन्म नवम्बर 22, 1892, पिता - सर एडमंड स्लेड। वे रॉयल ब्रिटिश नेवी (नौसेना) में एडमिरल (नौसेनाध्यक्ष) और बाद में ईस्ट इंडीज स्क्वेड्रेन के सर्वोच्च अध्यक्ष थे।
1908	First visited India and Ceylon.	भारत और श्रीलंका में पहली बार आगमन।
1920	Visited Bonn and Vienna.	बोन (जर्मनी) और वियना (आस्ट्रिया) का प्रवास।
1923	First meeting with Romain Rolland in Switzerland.	स्विट्ज़रलैण्ड में रोमां रोलां के साथ प्रथम बैठक।
1924	Travelled to Egypt and other countries. Devotion to music - especially German classical music and Beethoven, led her to Romain Rolland and to study of the life of Gandhiji, which changed the course of her life - resolved to go to Gandhiji in India.	मिस्र तथा अन्य देशों में प्रवास। संगीत के प्रति समर्पण ने विशेषकर बियोवन के जर्मन शास्त्रीय संगीत के आकर्षण से उन्हें रोमां रोलां तक पहुँचने तथा गांधी जी के जीवन अध्ययन की प्रेरणा मिली, जिसके कारण उनका जीवन पथ ही बदल गया और उन्होंने भारत में गांधी जी के पास जाने का संकल्प किया।
1925	Arrived at Sabarmati Ashram, Ahmedabad, named Mira behn by Gandhiji, devoted herself to all Ashram activities.	साबरमती आश्रम, अहमदाबाद में पहुंची। गांधी जी ने उनका नाम "मीरा" रखा। उन्होंने आश्रम के कार्यकलापों को अपना जीवन समर्पित किया।
1927-28	Travelled in Bihar and other places, propagating the message and work of *Khadi.*	बिहार तथा अन्य स्थानों का दौरा किया तथा *खादी* से सम्बन्धित कार्य में भाग लिया।

प्रज्ञा—अनुसन्धान

1930	Civil Disobediencne Movement - After the arrest of Gandhiji in 1930, undertook tour in many parts of the country propagating *Khadi*.	सन् 1930 में गांधीजी की गिरफ्तारी के बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ। उन्होंने *खादी* का प्रचार करते हुए देश के अनेक भागों में भ्रमण किया।
1931	Accompanied Gandhiji to London, during the Round Table Conference on India.	भारत विषय पर "गोलमेज कान्फ्रेंस" के दौरान वे गांधी जी के साथ लंदन गईं।
1932-33	Imprisoned during the Civil Disobedience Movement and on release re-arrested for defying order not to enter Bombay.	सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान गांधीजी के साथ जेल गईं और जेल से रिहा होने के बाद बम्बई में प्रवेश न करने के आदेश का उल्लघंन करने पर पुनः गिरफ्तार की गईं।
1934	Accompanied Gandhiji on tour to Orissa. Later, undertook a lecture-tour to England and America. Met Halifax, Hoare, Smuts and Churchill.	गांधीजी के साथ उड़ीसा के दौरे पर गईं। बाद में उन्होंने इंग्लैंड और अमेरिका का दौरा किया जहां अपने व्याख्यानों के माध्यम से उन्होंने वहां की जनता को भारत की वास्तविक स्थिति से अवगत कराया। वे हेलीफैक्स, होर, स्मट्स तथा चर्चिल से भी मिलीं।
1935-36	Undertook sanitation work in villages around Wardha.	वर्धा के आस-पास के गांवों में सफाई का कार्य किया।
1938	Expressed desire to join non-violent resistance against Nazi aggression in Czechoslovakia. Was prevailed upon by Abdul Gaffar Khan to work in NWFP.	चैकोस्लोवेकिया में नाजी आक्रमण के विरुद्ध अहिंसात्मक विरोध में शामिल होने की इच्छा व्यक्त की। परन्तु खान अब्दुल गफ्फार खान के अनुरोध पर वे उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में कार्य करने के लिए गईं।
1940-42	Started a year's silence. Translated hymns from Rigveda.	एक वर्ष का मौनव्रत तथा ऋग्वेद के सूक्तों का अनुवाद किया।
1942	Actively participated in the Quit-India Movement; undertook tour of Orissa to organise non-violent resistance against threatened Japanese attack; was deputed by Gandhiji to see the Viceroy; was arrested and placed in Aga Khan's Palace in Poona, with Gandhiji and Kasturba.	जापान के आशंकित आक्रमण के विरुद्ध अहिंसात्मक-प्रतिरोध आयोजित करने के लिए उड़ीसा का दौरा किया। वायसराय से मुलाकात करने के लिए गांधीजी द्वारा उनकी प्रतिनियुक्ति की गई। "भारत छोड़ो" आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया तथा गिरफ्तार हुईं और गांधीजी तथा कस्तूरबा के साथ उन्हें पूना में आगा खां महल में कारावास में रखा गया।
1944	After release, set up *Kisan Ashram*, on land donated by people of a village (Muldaspur) between Roorkee and Haridwar.	जेल से रिहा हाने के बाद रूड़की और हरिद्वार के बीच एक गांव (मूलदासपुर) के लोगों द्वारा दान में दी गई जमीन पर '*किसान आश्रम* की स्थापना की।

1946	Appointed Honorary Special Adviser to U.P. Government. Took up activities concerning cattle development, agriculture, preservation of forests, *Khadi* and communal harmony.	उ० प्र० सरकार के "अवैतनिक विशेष सलाहकार" के रूप में नियुक्त की गईं। पशु विकास, कृषि, वन संरक्षण, *खादी* तथा साम्प्रदायिक एकता बनाए रखने से सम्बंधित कार्यकलाप शुरू किए।
1947	Established *Pashulok Ashram,* near Rishikesh; Started cattle development schemes there; established a village *Bapugram* for rehabilitation of landless Harijans.	ऋषिकेश के निकट '*पशुलोक आश्रम*' की स्थापना की। वहां पशु विकास योजनाएं शुरू कीं। भूमिहीन हरिजनों के पुनर्वास के लिए *बापूग्राम* नामक गांव की स्थापना की।
1952	Established *Gopal Ashram* in the Bhilangana Valley in Tehri-Garhwal district.	टिहरी-गढ़वाल जिले में भिलगंना घाटी में *गोपाल आश्रम* की स्थापना की।
1954-57	Carried on experiment in cross-breeding of cattle in Kashmir, near Ganderbal-Kangan and named it 'Gaobal' (place of the cow).	कश्मीर में गंदरबाल-कंगन के निकट पशुओं के संकर प्रजनन (नस्ल सुधार) के प्रयोग किए। इस स्थान का नाम गोबल रखा।
1959	Left for Europe—stayed for some time in England and then went to settle in Austria, where she engaged herself in campaigning for the preservation of the plant life in the Himalaya and propagating Gandhiji's ideas through her writings and lectures.	यूरोप गईं, कुछ समय के लिए इंग्लैण्ड में ठहरीं और उसके बाद स्थायी रूप से बसने के लिए आस्ट्रिया चली गईं। वहां उन्होंने हिमालय पर पादप-जीवन परिरक्षण के आंदोलन तथा अपने लेखन और व्याख्यानों के माध्यम से गांधीजी के विचारों का प्रचार-प्रसार करने में योगदान दिया।
1960-81	Resumed study of Beethoven's life and music and wrote a book on the subject.	अपना अधिकांश समय गांधीजी के विचारों के प्रचार-प्रसार में लगाया तथा बियोवन के जीवन और संगीत का अध्ययन किया और इस विषय पर एक पुस्तक भी लिखी।
1981	Awarded 'Padma Vibhushan' by the Government of India in recognition of the services to the country and humanity at large.	देश तथा समस्त मानव जाति की सेवा के सम्मान में भारत सरकार ने उन्हें "पद्मविभूषण" से सम्मानित किया।
1982	Died in Austria (Vienna) on July 20.	20 जुलाई को आस्ट्रिया (वियना) में उनका निधन हुआ।

MEMBERS
OF
MIRA BEHN BIRTH-CENTENARY COMMITTEE

1. Dr. Sushila Nayar - *Chairperson*
2. Ms. Radha Bhatt - (Kausani) Almora
3. Shri Devendra Kumar - Wardha
4. Dr. Santosh Goindi - Indore
5. Shri Karan Bhai - Lucknow
6. Shri K.C. Pant - New Delhi
7. Smt. Nirmala Deshpande - New Delhi
8. Smt. Nirmala Gandhi - Sevagram
9. Smt. Madalsa Narain - Wardha
10. Smt. Uma Agrawal - New Delhi
11. Shri Ramakrishna Bajaj - Bombay
12. Smt. Shobhana Ranade - Bangalore
13. Dr. Karan Singh - New Delhi
14. Dr. H.D. Sharma - New Delhi
15. Shri Rajmohan Gandhi - New Delhi
16. Shri Gopalkrishna Gandhi - London
17. Shri Sadiq Ali - New Delhi
18. Shri Ravindra Verma - New Delhi

19 Shri S.K. Bandopadhyay - New Delhi

20. Shri N. Krishnaswamy - New Delhi
21. Dr. N. Radhakrishnan - New Delhi
22. Dr. M.L. Dewan - New Delhi
23. Dr. Ganga Prasad Vimal - New Delhi
24. Prof. M.S. Swaminathan - Madras
25. Prof. C.P. Tiwari - New Delhi
26. Shri Sunderlal Bahuguna - Tehri
27. Shri Yogesh Bahuguna - Rishikesh
28. Smt. Vidya Stokes - Shimla
29. Shri T.S. Negi - Shimla
30. Prof. Ram Rahul Sheel - New Delhi
31. Shri B.P. Nautiyal - New Delhi
32. Shri Roop Narayan - New Delhi
33. Shri Ramji Bhai - Ahemdabad
34. Shri Soorya Kant Parikh - Ahemdabad
35. Shri Dharampal - Madras
36. Shri J.P. Uniyal - New Delhi
37. Dr. Ramesh Bharadwaj - New Delhi
38. Prof. Anil Gupta - Ahemdabad
39. Shri Kamal Taori - Bombay
40. Shri Som Bhai - Panipat
41. Shri R.N. Upadhyay - Guwahati
42. Shri J.S. Tyagi - Ghaziabad
43. Shri Ram Swarup - New Delhi
44. Shri Laxmi Das - New Delhi
45. Mahashay Tirath Ram - Una (H.P.)
46. Shri K.S. Kunjwal - Almora
47. Maj. Genl. Khandoori - New Delhi
48. Dr. Razi Ahmad - New Delhi
49. Shri R.N. Kaul - Varanasi
50. Prof. S.K. Sanyal - Calcutta
51. Smt. Padma Venkataraman - Austria
52. Mrs. Lea Calice - Austria
53. Mrs. Rosetta Spalt - Austria
54. Shri L.N. Jhunjhunwala - New Delhi
55. Shri J.C. Jauhar - New Delhi
56. Smt. Sarla Jagmohan - New Delhi
57. Dr. Virendra Kumar - New Delhi
58. Shri Ramchandra Gandhi - New Delhi
59. Shri S.K. De - Sevagram (Wardha)
60. Shri Krishna Murti Gupta - New Delhi *(Secretary)*

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०...310.....
भारती पुस्तकालय

[illegible]-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथि..........
पु०सं०...310.........
* भारती पुस्तकालय *

प्रस्तुत ग्रंथ मीरा बहन जन्म-शताब्दी वर्ष (1992-1993) में प्रकाशित हो रहा है। मीरा बहन ने जिस त्याग व तपस्या से हमारे देश और समस्त मानव जाति की अवर्णनीय सेवा की है उसका सही-सही आकलन करना सम्भव नहीं है। 1930 के दशक से ही उन्होंने अपने लेखों, व्याख्यानों आदि द्वारा वृक्षों की अंधाधुंध कटाई से होने वाली हानि, पर्यावरण-प्रदूषण का बचाव, पश्चिमी सभ्यता का अंधानुकरण, सामाजिक कुरीतियों आदि विषयों पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त करने शुरु कर दिये थे।

मीरा बहन की आत्मकथा—'द स्पिरिट्स पिलग्रिमेज' सन् 1960 में प्रकाशित हुई थी और वह उनके भारत छोड़ने (1958) तक की ही गतिविधियों का लेखा-जोखा है। उसके बाद मीरा बहन के जीवन तथा कार्यकलापों पर लिखी गई यह दूसरी पुस्तक है जो मीरा बहन के देहावसान (जुलाई 20, 1982) तक के उनके जीवन दर्शन पर प्रकाश डालती है।

आश्रम के नियमों और आदर्शों को कठोरता पूर्वक चरितार्थ और पालन करने में इतना संघर्ष आश्रम के किसी अन्य सदस्य ने नहीं किया जितना मीरा बहन ने।

— मो०क० [illegible]

मेरे लिए ईश्वर और बापू दो ही थे। अब वे एक हो गये हैं।

— मीरा

मीरा बहन जन्म शताब्दी समिति

हिमालय सेवा संघ

15 राजघाट, नई दिल्ली-110002